

विश्वसभ्यता
का
संक्षिप्त इतिहास



(प्राचीन विश्व)

प्रथम भाग

लेखक

डा० विन्देश्वरी प्रसाद सिंह,

एम०ए० (पटना), पी०एच०डी० (लन्दन)

रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति-विभाग

पटना युनिवर्सिटी, पटना

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

पुस्तक-प्रकाशक तथा विक्रेता

बाँकीपुर, पटना

१९५२] [मूल्य ७॥)

प्रकाशक :
श्री सुन्दरलाल जैन,
मैनेजिंग प्रोप्राइटर
मोतीलाल बनारसीदास,
बाँकीपुर : पटना

मुद्रक
शान्तिलाल जैन
मैनेजिंग प्रोप्राइटर
स्वतंत्र नवभारत प्रेस,
कदमकुआँ : पटना

प्रस्तावना

विश्व-इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता निर्विवाद है। विज्ञान ने दुनिया को बहुत छोटा बना दिया है। आवागमन के साधन सहज और अत्यन्त तेज हो गये हैं। दुनिया के किसी कोने की आवाज हम घर बैठे तत्काल सुन सकते हैं। हमारा जीवन—भोजन, वस्त्र, राजनीतिक परिस्थिति, साहित्य और कला—विश्व-घटनाओं और विचारों से अत्यन्त प्रभावित है। हम चाहते हुए भी अलग नहीं रह सकते। इसलिए आज राष्ट्रीय या क्षेत्रिय इतिहास का ही नहीं वरन् विश्व-इतिहास का भी ज्ञान जरूरी है। राष्ट्रीय हित के लिए भी विश्व-इतिहास का अध्ययन लाभदायक है। प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रीयवाद के ही परिणाम-स्वरूप विश्वयुद्ध हुए हैं। आज हमें राष्ट्रीय नागरिक ही नहीं वरन् विश्व-नागरिक बनना है। हमें अपने देश और विश्व के कल्याण में विरोध नहीं वरन् सामञ्जस्य देखना है और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सफलता के लिए प्रयास करना है तथा राष्ट्रीयता का अन्तर्राष्ट्रीयता से गठबन्धन कराना है। इसलिए किसी भी देश के वर्तमान और भावी नागरिक के लिए यह जरूरी है कि वह अन्य देशों के इतिहास का अध्ययन करे, अन्य जातियों के भाव और विचार, कला और साहित्य का उचित आदर और मूल्यांकन करे। पहले सांस्कृतिक मंच पर ही विश्वबन्धुत्व की सफलता होगी। भारत को तो खास कर इस महान् आदर्श के लिए जीना है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" ही हमारा आदर्श रहा है।

वर्तमान विश्व को समझने के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय गुत्थियों को सुलझाने के लिए और विश्व की भिन्न-भिन्न सभ्यताओं का उचित आदर करने के लिए हमें संस्कृतियों के इतिहास का ज्ञान होना जरूरी है। वर्तमान भविष्य की नींव पर खड़ा है, और भूत वर्तमान के गर्भ में छिपा है। इसलिए वर्तमान को समझने के लिए विश्व-सभ्यताओं का

प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक युग तक के इतिहास की प्रमुख धाराओं का ज्ञान जरूरी है। हमें लड़ाइयों के इतिहास पर जोर नहीं देना है। विश्वबन्धुत्व के आदर्श को सत्तारूढ़ करने के लिए विश्व-संस्कृति के भाण्डार में सभी देशों या क्षेत्रों ने आदिकाल से क्या-क्या रत्न भरे हैं, इनका अनुमान लगाना है। यह ज्ञान कि हमारी आधुनिक सभ्यता भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं से धनी बनी है, हमें संकुचित विचारों से मुक्ति देगा और संसार एक है इस विश्वास को दृढ़ करेगा।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर 'विश्व-सभ्यता का संक्षिप्त इतिहास" का पहला भाग पाठकों के हाथ में देते हुए मुझे बड़ा सन्तोष हो रहा है। पुस्तक में राजनीतिक पृष्ठ भूमि पर ही सांस्कृतिक रूप-रेखा का वर्णन किया गया है। बिना राजनीतिक और तारीखवार इतिहास का ज्ञान हुए संस्कृति का विकास समझना असम्भव है। राजनीतिक अवस्था का संस्कृति के विकास पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। लड़ाइयाँ या राजवंशावलियों के विवरण को ही इतिहास मान लेना बहुत बड़ा भ्रम है। इतिहास राजा का इतिहास नहीं वरन् जाति का इतिहास है, उसकी सभ्यता का इतिहास है। इसलिए इस पुस्तक में भिन्न-भिन्न देशों की सभ्यताओं की विशेषताओं पर अधिक ध्यान दिया गया है और राजवंशावलियों का ब्योरा या लड़ाइयों का विवरण या महापुरुषों की जीवनी को गौण स्थान दिया गया है। सामाजिक और सांस्कृतिक धाराएँ जिनसे इतिहास युगों से प्रभावित रहा है, इस पुस्तक का मुख्य विषय है। मैंने सभ्यताओं के पारस्परिक आदान-प्रदान को अधिक महत्त्व दिया है। पुस्तक कैसी है, इसका निर्णय तो पाठक ही कर सकते हैं।

पुस्तक जनसाधारण और युनिवर्सिटियों के इन्टरमीडियट्-छात्रों के लिए उपयोगी होगी, मुझे ऐसी आशा है। चित्रों के लिए मैं आर्कलौ-

जिकल सर्वे आफ इंडिया, सुपरिन्टेन्डेन्ट आर्कोलौजिकल सर्वे आफ इन्डिया सेन्ट्रल सर्किल, पटना म्यूजिअम के क्यूरेटर और अधिकारियों का ऋणी हूँ। इंडियन म्यूजिअम (कलकत्ता) के भी कुछ चित्र हैं जिनके लिए मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। रेखाचित्रों के लिए मैं श्री श्यामलानन्द का आभारी हूँ।

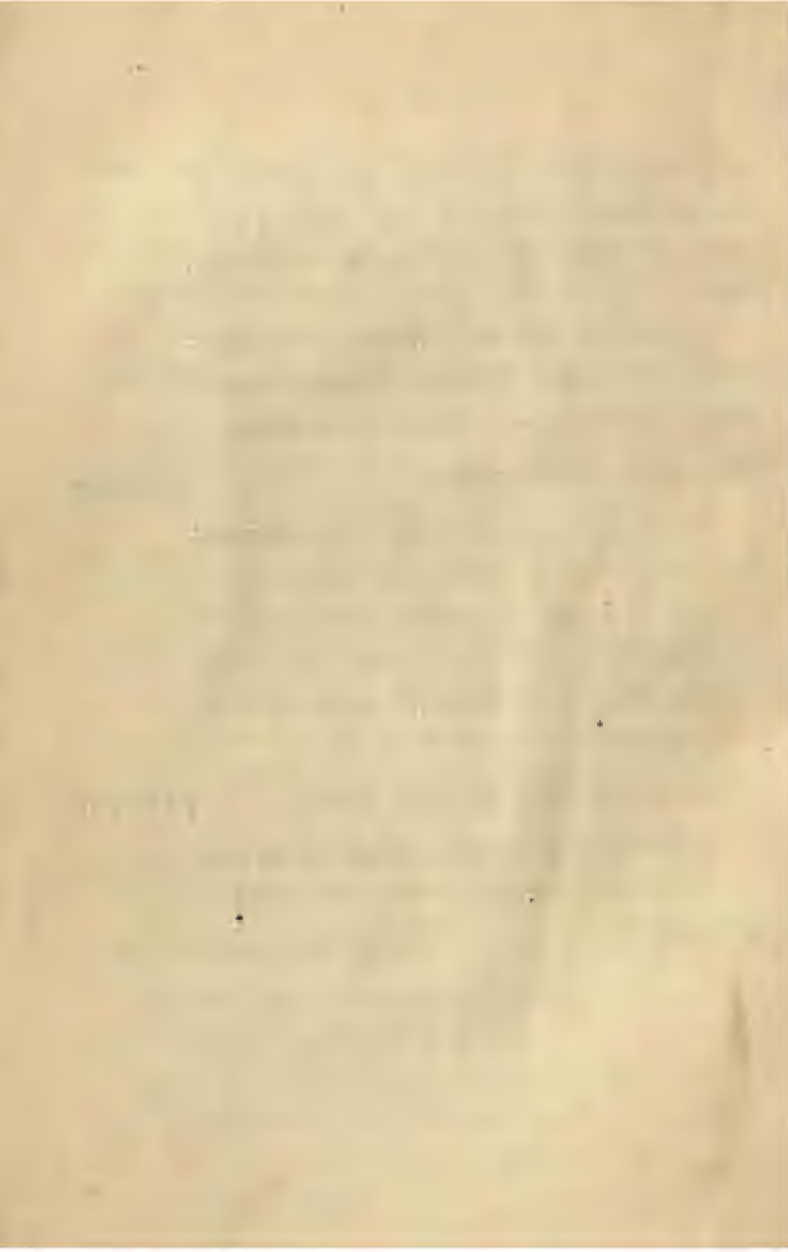
पुस्तक में प्रूफ की कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। इनके लिए मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ। पाठकों की सलाह के लिए मैं बराबर इच्छुक और अनुग्रहित रहूँगा।

बिन्देश्वरी प्रसाद सिंह

पटना युनिवर्सिटी, पटना

ता० १०-२-५२

विषय सूची



प्रथम अध्याय

सभ्यता की उत्पत्ति

लिखित इतिहास मानव सभ्यता की लम्बी कहानी अधूरी ही छोड़ देता है। वह हमें पांच हजार वर्ष पीछे तक ही ले जाता है। जब कि मनुष्य इस धरातल पर पांच लाख वर्ष पहले ही निकल आया था; और तब से बराबर कुछ-न-कुछ करता ही रहा है, और मनुष्य की क्रियात्मक शक्ति ही सभ्यता की जननी है। इसलिए मानव सभ्यता के विकास की रूपरेखा जानने के लिए हमें लिखित इतिहास पर ही निर्भर न कर भूगर्भशास्त्र (Geology) और पुरतत्व विज्ञान (Archaeology) का ही सहारा लेना है। पुराने खंडहरों के नीचे सभ्यता के चिह्न पड़े हैं जिन्हें विशेषज्ञ ढूंढ़ निकालते हैं, और इस तरह सभ्यता की कई भूली हुई कड़ियों का पता चलता है, जिससे हमें विश्व-सभ्यता का विकास व उसकी एकता की झांकी मिलती है।

हिम-युग और मनुष्य

सभ्यता की उत्पत्ति कब और कैसे हुई यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। लाखों-करोड़ों वर्ष पहले इस पृथ्वी पर जीव का विकास हुआ होगा, और मनुष्य इस पृथ्वी पर आखिरी जीव है। जीव का क्रमिक विकास ताप (temperature) के भीषण रद्दोबदल से होता आया है। चार हिम-युग (Ice-Ages) गुजरे हैं। हिम-युग के अत्यधिक ठंड व अनिश्चित जलवायु में कितने प्रकार के जीवों का अन्त हो गया। दो हिम-युगों के मध्यन्तर उष्ण-युग (Sun-Age) होता था, जिसमें जीवों का विकास सम्भव था। इस तरह ठंड व गर्म ताप-परिमाण के बीच में जीवों का विकास होता गया। मनुष्य का विकास अन्तिम हिमयुग (Cenozoic)

सेनोजोइक के अन्तिमकाल प्लाइसटोसिन (Pleistocene) समय में हुआ। यह समय आज से करीब पांच लाख वर्ष पहले होगा। हिमयुग व उष्णयुग के क्रमानुसार आना-जाना जब कि कितने जीवों के लिए विनाश-कारी हुआ, मनुष्य ने अपनी स्थिति बनाई रक्खी, वरन् वह और भी उन्नति करता रहा।

विपरीत वातावरण व जलवायु से संघर्ष कर अपने को जीवित रखना व प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने की स्वाभाविक तमन्ना ही मानव-सभ्यता की कुंजी है। जब शिकार की कमी हो गई, मनुष्य फल खाने लगा, और जब फल भी इकट्ठे करने में दिक्कत हुई तो वह अन्न उपजाने लगा। जब उनके देश में जलवायु का परिवर्तन हुआ, अधिक ठंड या गर्मी पड़ने लगी, तो वहाँ से उनका नाश नहीं हुआ, वह अपने को ढंकने की कोशिश में लगा और अन्त में सफल हुआ। पशु-पौधे प्राकृतिक वातावरण के गुलाम हैं, और जब उनके क्षेत्र में ताप-क्रम का भीषण रद्दोबदल होता है तो वहां से उनका लोप ही हो जाता है। जीवशास्त्र के विद्वान् हमें बताते हैं कि इस पृथ्वी पर कितने प्रकार के पशु-पौधे पैदा हुए थे, पर उनका आज नामोनिशान नहीं है, जब कि मनुष्य आज उत्तरी व दक्षिणी ध्रुव पर जाकर झंडा गाड़ने की हिम्मत रखता है। अतः प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष कर, अपने को उसी सांचे में ढाल कर प्रकृति से सामञ्जस्य कर ही मनुष्य सभ्यता की सीढ़ियों पर लगातार आगे बढ़ रहा है। संघर्ष और सहयोग ये दो विरोधी प्रवृत्तियां ही सभ्यता की आधार रही हैं। अधिक गर्मी पड़नेपर ठंडे कमरे को ठंडा बनाकर रहना प्रकृति से संघर्ष करना है, पर कपड़े उतार कर गर्मी की उष्णता को झेलना प्रकृति से समझौता करना ही समझा जायगा। इस प्रकार ये दोनों प्रवृत्तियां ही मानव-जीवन में साथ-साथ पाई जाती हैं, और हमें सभ्यता की ओर अग्रसर करती रही हैं। प्रकृति पर विजय, और प्रकृति से सामञ्जस्य करते रहना ही मनुष्य का इतिहास है।

मनुष्य के साधन (Equipment)

अपने हथियारों में सुधार लाकर ही मनुष्य अपने को जीवित रख सका है, और अपनी संख्या बढ़ाते रहा है। इनके जरिये ही वह बाहरी दुनियां के खतरों से अपने को बचाता है, या प्रकृति के भंडार से अपनी कमी की पूर्ति करता है। अपने इन हथियारों (equipments) से ही वह प्रकृति से संघर्ष और सहयोग करता रहा है। प्रत्येक जीव को जीविकोपार्जन के लिए, अपनी रक्षा करने के लिए साधन प्राप्त है। पर मनुष्य और पशुओं के प्रसाधन में बहुत अन्तर है। पशु के हथियार उसके शरीर के अंग हैं, जिसे वह शरीर के साथ ही ढोता है, जैसे सिंह अपना पञ्जा, खरहे व भालू अपने घने बाल। पर मनुष्य के साधन उसके शरीर के अंग नहीं हैं। उसे तो बाहरी हथियारों (tools) पर ही निर्भर करना है। पशु और मनुष्यों के इस बड़े अन्तर की तह में ही सभ्यता की उत्पत्ति समझी जा सकती है। अपने साधनों को शरीर के साथ ही बराबर ढोते रहने के कारण पशु सर्वदा आक्रमण करने के लिए व प्रत्याक्रमण रोकने के लिए तैयार रहता है, पर उसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह परिस्थितियों के अनुसार अपने हथियार को न बदल सकता है, और न उनमें कोई बड़ा सुधार ला सकता है। इसलिए हाथी, सिंह से बराबर कमजोर ही रहेगा, चूहे बिल्ली का सामना कभी नहीं कर सकेंगे। ठंडे देश में रहनेवाले घने केशवाले खरहे गर्म देश में जीवित नहीं रह सकते, क्योंकि वे अपने साधन को परिस्थिति के अनुकूल न बदल सकते हैं, न छोड़ सकते हैं। ऐसा सम्भव है कि आरम्भ में मनुष्य के भी खतरनाक नाखून व जहरीले दांत रहे हों। पर जब कि अन्य पशुओं के साधन आरम्भ से आजतक एक-से ही रह गये हैं, मनुष्य अपने उन न्यून शारीरिक हथियारों को भी छोड़ता रहा है, और उसके स्थान पर वह नये-नये हथियार बनाते रहा है। ये हथियार उसके शरीर के अंग नहीं है, इसलिए वह उसका जब चाहे प्रयोग करता है, जब चाहे

छोड़ देता है, या नया बना लेता है। पशु और मनुष्य में यह भेद बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

औजार बनाने की प्रतिभा ही मनुष्य को सभ्यता का दूत बना सकी है। और सभ्यता का इतिहास मानव के बनाए यन्त्रों व हथियारों की कहानी है। औजार, हथियार व यन्त्र बनाने की यह आदत मनुष्य के जीवन पर आरम्भ से ही गहरा प्रभाव डालती आई है। हमारे बाप-दादा के समय में रेडियो नहीं था। हवाई जहाज व तार-बिजली का पता इनके पूर्वजों को भी नहीं था। लम्बी यात्रा वे घोड़ेगाड़ी पर ही करते थे। पर जैसे-जैसे इन चीजों का आविष्कार होता गया, मनुष्य के जीवन में इनका प्रवेश हो गया, और हमारे जीवन पर इन अनुसन्धानों का गहरा असर पड़ा है। पर प्रत्येक नये आविष्कार पहले के आविष्कार से ही सम्भव हो सका है। बहुत पहले कोई भी घोड़ा-गाड़ी व बैल-गाड़ी नहीं ही बना सकता था क्योंकि चक्का (wheel) का आविष्कार नहीं हुआ था। इसलिए आज के हवाई जहाज को भी उस मनुष्य का कृतज्ञ होना चाहिये जिसने पहले-पहल चक्केवाली गाड़ी का इजाद किया होगा। इस तरह से आप वर्तमान व भूत का गहरा सम्बन्ध अनुभव कर सकते हैं। आज की सभ्यता चंद दिनों की खोज नहीं है, न चंद प्रतिभाशाली व्यक्तियों की ही देन है। वरन् मनुष्य जाति का पूरा इतिहास जाने बिना हम अपनी सभ्यता का मूल्यांकन नहीं कर सकते। मनुष्य का पहला आविष्कार और आज का अणुबम (Atom-Bomb) एक तार ही में गुथे हैं। अपनी जीविका के लिए व सुरक्षा के लिए मनुष्य को हथियार व औजार बनाना ही पड़ा है। उसे अपने औजारों का प्रयोग करना भी सीखना पड़ा है। अन्य जीव इस प्रकार की जिम्मेवारी से मुक्त हैं। मुर्गी का चेंगना को जन्म लेते ही अपने पंख, चोंच, रोएं व पन्जा का पता चल जाता है। माँ को इनका प्रयोग करते देख चेंगना भी इनका व्यवहार शीघ्र ही जान लेता है। फिर इन्हीं

साधनों से वह अपनी जीविका चला लेता है। पर मानव शिशु पैदा होने पर अपने को एकदम असहाय पाता है। वह हथियारों के साथ पैदा नहीं होता है, और न उम्र के बढ़ने के साथ उसके शरीर पर हथियार व औजार उग आते हैं। जब मनुष्य पैदा होता है तो उसके पास नंगा शरीर व खाली हाथ छोड़ कर कुछ नहीं होता। जंगली जानवरों के बीच प्राकृतिक विपदाओं से घिरा रह कर मनुष्य आज सभ्यता की जिस ऊँचाई पर पहुंच सका है वह विश्व के इतिहास की सबसे बड़ी आश्चर्यजनक और उत्साहवर्धक घटना है।

समाज और सभ्यता

इसका रहस्य है मनुष्य को हथियार बनाने की योग्यता और विषम परिस्थितियों से संघर्ष व सहयोग करने की क्षमता। पर इतना ही सभ्यता के क्रमिक विकास के लिए पर्याप्त नहीं है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, और जब से वह इस पृथ्वी पर पैदा हुआ है बराबर समाज में ही रहा है। समाज और मनुष्य की उत्पत्ति साथ-साथ ही हुई है। प्रत्येक मनुष्य की क्रिया व प्रतिक्रिया की छाप दूसरे मनुष्यों पर पड़ती है, और वह जो कुछ भी करता है उसमें सामाजिक दृष्टिकोण अवश्य रहता है। मनुष्य का वैयक्तिक स्वार्थ और समाज के हित में घनिष्ट सम्बन्ध है। प्रत्येक मनुष्य का व्यवहार व मनुष्य का पारस्परिक बर्ताव समाज के नियम से अलग नहीं होता है। मनुष्य जो कुछ भी करता है, जो नई चीज इजाद करता है, नया विचार प्रकट करता है, वे सब की यथार्थता तभी होती है जब समाज या समाज का कोई विशिष्ट भाग उसे अपनाता है। व्यक्ति और समाज का एक दूसरे पर इस तरह निर्भर करना सभ्यता के विकास के लिए जरूरी है। मनुष्य का सामाजिक-प्राणी होने का एक और लाभ है—सभ्यता की प्रगति बराबर होती रही है, प्रस्तरयुग (Stone Age) से आज तक। प्रत्येक युग बीते हुए युगों के अनुभव व बुद्धि का उत्तरा-

धिकारी होता है। बीसवी सदी में कई खोज व आविष्कार हुए हैं, जैसे टेलिविजन, अणु-शक्ति इत्यादि। पर बीसवीं सदी को गुजरे हुए युगों की संचित बुद्धि व अनुभव का खजाना भी मिला है। लाखों वर्ष पहले अग्नि की खोज की गई होगी, हजारों वर्ष पहले चक्केवाली गाड़ी पहले बनाई गई होगी, पर आने वाली पीढ़ियों को इस अनुभव व खोज को दोहराने की आवश्यकता नहीं हुई। समाज ने अर्जित अनुभव व ज्ञान को सुरक्षित रख कर हमारे लिए प्रगति की राह खुली छोड़ दिया है। इसीलिए सभ्यता प्रगतिशील है। हम हमेशा आगे बढ़ रहे हैं, अपने पूर्वजों के ज्ञान की पूंजी के बल पर। इसका रहस्य है मनुष्य का सामाजिक प्राणी होना। प्रत्येक युग के समाज का दो कर्तव्य है—भूतकालीन ज्ञान व अनुभव को अपने सदस्यों को, मनुष्यों को सौंपना और परिस्थिति के अनुकूल नये सामाजिक विचारों व समस्यायों को सुलझाने में सभ्यता को आगे बढ़ाना। जब कोई समाज प्रगतिशील नहीं रहता है, उसका अन्त हो जाता है। प्रगति ही जीवन है, और विश्व की सभ्यताओं का इतिहास इसकी पुष्टी करता है। असीरिया, कारथेज का नामोनिशान मिट गया। उनकी सभ्यता प्रगतिशील न रह कर कुंठित हो गई थी जीवित रहने का ध्येय ही मिट चुका था।

सामाजिक परम्परा का हस्तान्तर—उदाहरण व उपदेश

अतः मनुष्य सामाजिक परम्परा (Social tradition) का उत्तराधिकारी है। प्रश्न यह है कि, वह किस प्रकार सामाजिक परम्परा को अपनाता है। बचपन से ही उसके माता-पिता उसे उन साधनों का प्रयोग बताते हैं जो कि कई पीढ़ियों से पूर्वजों के अनुभव व ज्ञान से निश्चित हो गये हैं। पशु-जगत में अर्जित अनुभव को नवजात पशु को उसकी माता उदाहरण के द्वारा सिखलाती है; जैसे दाना चुग कर दाना, चुगना सिखाना; शिकार कर, शिकार करना सिखाना; पंखें फड़फड़ाकर उड़ना सिखाना। मनुष्य भी अपने नवजात बच्चे को उदाहरण के द्वारा, नकल करना सिखाता

है। पर यदि मानवशिशु सब कुछ नकल करके ही सीख सकता तो सभ्यता की प्रगति बड़ी धीमी होती, और शायद परिस्थितियों के तेज रद्दोबदल से होड़ न कर सकने के कारण मानवसमूह का नाश ही हो जाता। मनुष्यके बच्चे को इतनी सारी चीजें सीख लेनी हैं, जानना है, सामाजिक-परम्पराओं को समझकर अपनाना है कि नकल कर वह उन्हें नहीं जान सकता है; और फिर कई चीजों को तो वास्तविक उदाहरण देकर समझाना मौत का बुलावा देना है। जैसे बच्चों को साँप से डरना, साँप पकड़ कर और उससे अपने को कटाकर बताना मौत से खेलना है, और इस तरह या तो बच्चा कई अनुभवों से अज्ञात ही रहेगा, या सभ्यता की प्रगति कुंठित हो जायगी। इसलिए बच्चों का सामाजिक-परम्परा से अवगत कराने, व उनको उत्तराधिकारी बनाने के लिए नकल कर सीखने के अलावे उपदेश देकर भी ज्ञानबोध कराया जाता है। और इस तरह मस्तिष्क का विकास होता है जो उपदेश ग्रहण करने की क्षमता रखता है।

मस्तिष्क (Brain)

मनुष्य का मस्तिष्क (Brain) सभ्यता का एक विशेष अंग है। (organ of civilisation)। मस्तिष्क का मनोवैज्ञानिक कार्य मनुष्य में वे विशेषताएँ लाती है जो कि और जानवरों की दुनियाँ में नहीं पाई जाती। मनुष्य अपने मस्तिष्क में ऐसे विचारों, स्वप्नों व प्रतिमाओं की सृष्टि करता है जिसे शायद उसने पहले वास्तविक जगत में कभी न देखा हो। और उन ख्यालों व प्रतिभाओं को साकार करने को कटिबद्ध होकर वह ध्यान से उपाय सोचता है, और कार्यरूप में परिणत करने में लग जाता है। और इस प्रकार वह कभी आनेवाली परिस्थितियों का भी अनुभव कर लेता है, और उससे निबटने के लिए साधनों का जुगाड़ या आविष्कार भी करने लगता है। जब हवाई जहाज से बम गिराना मनुष्य ने जान लिया, तो वास्तविक बम गिराने के पहले ही वह इस उधेड़बुन में रहा कि हवाई हमले

से रक्षा किस प्रकार की जा सकेगी। आज अणुबम बनाए जा रहे हैं पर साथ-साथ उसके बचने के उपाय पर भी अनुसन्धान हो रहा है। भविष्य सोचने की यह शक्ति सभ्यता की प्रगति को तेज रखती आ रही है। मनुष्य का यह व्यवहार अभिप्रायपूर्ण है (Purposeful behaviour) अर्थात मनुष्य अपने कार्यों को अपने अभिप्राय से सम्बन्ध कराता है और इस प्रकार मनुष्य के वर्त्तमान कर्म गुजरे हुए कार्य और होनेवाले कर्म से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। उदाहरण के लिए सबसे प्राचीन औजार व हथियार को लें। झगड़े की सरगर्मी में किसी ने समीप के झाड़ी से एक टहनी खींच कर अपने विपक्षी पर आक्रमण किया होगा। पर जब पहले-पहल एक खास वजन, आकार का हथियार बनाया गया होगा तब काफी सोच कर और विशेष अभिप्राय से ही मनुष्य ने इसका इजाद किया होगा। इस तरह झोंक में लकड़ी की टहनी खींच कर आक्रमण करना और मुट्ठीदार छड़ी को आक्रमण करने के इरादे से बनाने के मध्य में मनुष्य के मस्तिष्क ने काफी हिस्सा लिया होगा। अतः मस्तिष्क और सभ्यता का विकास का अटूट सम्बन्ध है।

भाषा और सभ्यता

हम ऊपर कह आए हैं कि मानव-शिशु सामाजिक परम्परा को उदाहरण व उपदेश के द्वारा ग्रहण करता है। उपदेश के लिए भाषा की आवश्यकता पड़ी, और भाषा सभ्यता की वाहन है। मानव-समाज ने अपने सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार के लिए जो यन्त्र निकाला उसे ही भाषा कहा जा सकता है। मनुष्य अन्य पशुओं के समान कई तरह की आवाज गले से निकाल सकता है; पशुओं की आवाज का कुछ विशेष अर्थ नहीं होता है। डर कर, या भोजन के लिए अधीर होकर जानवर हल्ला करते हैं, पर इससे अधिक उनकी आवाजों का अर्थ नहीं निकाला जा सकता। पर मनुष्य सामाजिक प्राणी है, उसे बराबर समाज में रहना है, और फिर उसे बढ़ता हुआ दिमाग

भी है, इस कारण उसकी प्रत्येक आवाज का एक विशेष अर्थ समाज में मान लिया जाता है, इस तरह आवाज शब्द बन जाती है, जिसे सुनकर या तो कुछ चीजों का बोध होता है, या किसी खास काम करने का लक्षण समझा जाता है। इस तरह ये निरर्थक आवाज अर्थपूर्ण हो जाती है, और यहीं से भाषा की उत्पत्ति होती है। क्योंकि शब्दों का अर्थ वही है जो किसी विशेष समाज में मान लिया गया है, इसलिए बच्चों को बोलना सिखाना पड़ता है, और भिन्न-भिन्न समाजों की भिन्न-भिन्न भाषा होती है।

भाषा सामाजिक परम्परा की गति को बदल देती है। उदाहरण के द्वारा अपने साथियों की नकल कर आप उपस्थित समस्या से निबटना सीख सकते हैं, पर भाषा के माध्यम से जो आपत्ति आनेवाली है उसका सामना करना भी सीखा जा सकता है। इस प्रकार भाषा सभ्यता के विकास में पूरा हाथ बंटाती है, और सामाजिक मीरूसी (Social heritage) को हस्तान्तरित करने में सहायक होती है। मनुष्य के सैकड़ों-हजारों वर्षों के अनुभव भाषा के माध्यम से एकत्रित किया जाता है।

प्रत्येक मानव-समूह की अपनी भाषा होती है—मनुष्य के गले से निकले शब्दों का प्रत्येक समाज विशेष अर्थ मान लेता है। इस प्रकार भाषा एक खास मानव-समूह के व्यक्तियों को एक दूसरे से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध पैदा कर देती है, और कई भिन्न-भिन्न संस्कृतियों (cultures) का वाहन बन जाती है। संस्कृतियों का इतिहास, उनकी परम्परा हम उनकी भाषाओं से ही अधिक जान सकते हैं, यद्यपि भाषा का ज्ञान न रहने पर भी उनके भग्नावशेष का पता लगाकर भी संस्कृतियों की रूपरेखा की झलक मिल सकती है। देश-देश, समाज-समाज की सभ्यता कालक्रम से भिन्न-भिन्न रही है, पर तब भी प्राचीन व वर्तमान संस्कृतियों का इतिहास पढ़ने पर विश्वसभ्यता की एकता, व उसके अमर तत्वों के एकत्व का पता चलता है।

दूसरा अध्याय

प्रस्तर-युग

मनुष्य ने अपने शरीर के बाहर के साधनों में सुधार कर सभ्यता का विकास करता आया है। अत्यन्त पहले उसके साधन-हथियार व औजार—पत्थर के थे। अपने रास्ते में जो पत्थर के टुकड़े उसे मिल जाते थे उसे ही वह अपना हथियार बना लेता था। इस तरह आरम्भ से ही वह हथियार बनानेवाला जीव हो गया, और तब से अपने यन्त्रों व अस्त्रों में सुधार कर, या नये-नये आविष्कार कर वह सभ्यता का दूत बनते आया है। इसलिए सभ्यता का प्रथम युग प्रस्तर-युग कहा जाता है। विद्वान इस लम्बे युग को दो भागों में बांटते हैं—प्राचीन प्रस्तर-युग (Palaeolithic Age, Old Stone Age) और नवप्रस्तर-युग (Neolithic Age, New Stone Age).

प्राचीन प्रस्तर युग

इस समय मनुष्य वस्तुतः जंगली जीवन बिताता था। पर प्रकृति ने उसे अन्य पशुओं से अधिक सुविधा दिया था, जिसके आधार पर वह सभ्यता की ओर बढ़ते गया। आगे-पीछे सोचने की शक्ति, यन्त्र गढ़ने की कला, और समाज में रहने का फायदा का ज्ञान मनुष्य को सभ्य बना सका। प्रारम्भ में तो उसे सिर्फ नंगे हाथ-पाँव थे जिनसे उसे क्षुधा की तृप्ति करनी थी, अपनी रक्षा करनी थी और अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्त्ति भी करनी थी। ऐसी परिस्थिति में पैदा होकर मनुष्य को सभी कुछ अनुभव व कठिन उद्योग से ही प्राप्त हो सकता था। बहुत अरसे के अनुभव व प्रयोग के बाद ही पत्थरों के टुकड़ों को हथियार व यन्त्र में परिणत किया गया होगा। ऐसी ही विषम परिस्थिति में मनुष्य ने अग्नि की खोज की

होगी और पेकिंग के सबसे प्राचीन मनुष्यों के गुफाओं में मिली हड्डियों से यह पता चलता है कि अग्नि की खोज और उसका व्यवहार मनुष्य ने बहुत पहले ही किया होगा। मनुष्य के पहले औजार भी प्राकृतिक पदार्थों के ही होंगे—लकड़ी व पत्थर के। लकड़ी के हथियारों का नाश हो गया पर पत्थर के औजार तो अभी भी पाए जाते हैं।

प्राचीन प्रस्तर युग बहुत लम्बा युग था और उस समय संसार के कई भागों में व्याप्त था। उत्तर-पश्चिम भारत और दक्षिण भारत के कई स्थानों में प्राचीन प्रस्तर-युग के हथियार पाए गये हैं, जैसे पोत्वार (रावलपिंडी), मध्य भारत के जब्बलपुर जिला में, मद्रास के कूर्नूल क्षेत्र में इत्यादि। अफ्रिका और दक्षिणी इंगलैण्ड में भी इस प्रकार के पत्थरों के औजार मिलते हैं। एक बात ध्यान देने की है—इन दूर-दूर देशों में पाए गये उपकरण (Instrument) एक तरह के हैं। उनमें इतनी समानता है कि कोई यह नहीं कह सकता कि अमुक उपकरण दक्षिणी भारत का है या इंगलैण्ड का। इससे यह सिद्ध होता है कि इस युग की सभ्यता किसी देश-विशेष की सभ्यता नहीं, वरन् विश्व-सभ्यता थी। एक ही सभ्यता उस समय की दुनिया में फैली हुई थी, और इसलिए मनुष्य के प्रारम्भिक काल के इतिहास से ही हमें विश्व की एकता का स्वरूप का पता चलता है, और हमें बराबर संकुचित नहीं वरन् विश्व-दृष्टिकोण रख कर ही सभ्यता के इतिहास का मूल्यांकन करना है, यह सिद्ध हो जाता है।

मूलरूप में प्राचीन प्रस्तर युग की सभ्यता का एक ही रूप था, पर यन्त्र-कला (Technique) के दृष्टिकोण से हम इस सभ्यता में दो प्रकार की संस्कृति पाते हैं। रूखे पत्थरों के औजार दो प्रकार से बनाए जाते थे। पहला तरीका यह था—किसी पत्थरके टुकड़े को लेकर उसे पटक-पटककर तोड़ा गया, और जो शेष बच गया, और सन्तोषजनक हथियार के लायक रह गया, उसे ही हथियार बनाया गया। इस तरह बड़े पत्थर के हृदय-भाग

ही हथियार बना, और ऐसे हथियारों के अन्तर्भागीय हथियार (Core tools) कहते हैं। दूसरा तरीका था, किसी बड़े पत्थर के एक परत (Flake) को निकाल कर उसे ही एक हथियार बना लेना। इसे कहते हैं परत-हथियार (Flake tools)। इस तरह हथियार बनाने के दो भिन्न तरीकों से दो भिन्न संस्कृतियों का जन्म हुआ, और एक यन्त्र-कला एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में पनपी, और दूसरी दूसरे क्षेत्र में। अफ्रिका, पश्चिमी योरप व दक्षिण भारत में अन्तर्भागीय हथियार (Core-tools) का बोलबाला रहा। हिम युग में योरप और उत्तरी यूरेशिया में परत-यन्त्रों का क्षेत्र था।

इस युग में जीविका का प्रधान साधन शिकार था। जानवरों को मार कर उन्हें इकट्ठा किया जाता, और पहले कच्चा मांस ही खाया जाता, और जब अग्नि की खोज हो गई तो उन्हें भून कर खाया जाता। पेड़ के फलों को भी तोड़ कर जमा किया जाता, और परिवार के साथ भोजन होता था। इस समय प्राकृतिक गुफाएं ही घर का काम देती, या नदी किनारे व वृक्ष की छाया में ही बसर किया जाता। बहुत समय तक लोग नंगे ही रहते थे, पीछे चल कर ठंड से बचने के लिए शरीर को पत्तों से, वृक्षों की छाल से या मृत पशुओं के चमड़ों से ढंका जाने लगा।

जंगली जानवरों से रक्षा करने के लिए वा भोजन की सामग्री इकट्ठा करने के लिए पत्थरों के औजार काम में लाए जाते थे। शायद पहला हथियार मुट्ठीदार बसूला था, जो कि आठ या दस इन्च लम्बा, ऊपर नुकीला, नीचे चौड़ा था, और इसकी धार इतनी तेज थी कि झाड़ियों को व जड़ों को काट सकती थी; अभी मूठिया (Handle) लगाने का ज्ञान नहीं था। कुछ दिनों के बाद ये प्राचीन शिकारी अत्यधिक ठंड का अनुभव करने लगे। जंगल ही उनका घर था, और उसकी हवा में गर्मी की कमी होने लगी। उत्तरी ध्रुव से बर्फ नीचे की ओर ढुलने लगा, और इस हिम-

चित्र १



(पृ० ११) पूर्व प्रस्तर युग का बसूला

चित्र २



(पृ० १२) प्रस्तर युग में हथियार के धार बनाने में प्रगति ।

आक्रमण के कारण कई प्रकार के जीव गर्म देश की ओर भाग गये, कई तो नष्ट हो गये। पर मनुष्य को ठंडी ऋतु से अभ्यस्त होना पड़ा।

मनुष्य अभी ठंड से बचने के लिये सुरक्षित स्थान बनाने में असमर्थ था, इसलिए उसने कंकड़ीली चट्टान (Lime stone) की गुफाओं में शरण ली। इन गुफाओं के दरवाजे पर वह पत्थरों के परत के औजार बनाया करता था। पहले तो पत्थर को पटक-पटक कर उसके परतों का अस्त्र बनाया जाता, पर इसमें समय अधिक लगता था, और चीज भी अच्छी नहीं निकलती थी। अब उसने यह जान लिया कि कड़ी हड्डी से दबा कर भी पत्थर के परत निकाले जा सकते हैं, और ऐसे हथियारों की धार बहुत तेज होती है। इस प्रकार प्राचीन प्रस्तर-युग में तीन यन्त्र-कला—संस्कृतियाँ विकसित हुईं—

(क) अन्तर्भागीय-पत्थर के औजार—(Core-tools)—एक पत्थर को दूसरे पत्थर से टकरा कर बचे भाग का हथियार बनाना ; (ख) परत के औजार—पत्थर को पटक कर उससे अलग हुए परत का हथियार बनाना ; (ग) कड़ी हड्डी से दबाकर पत्थर से निकले हुए परत का हथियार बनाना। पहली यन्त्र-कला एशिया, योरप व अफ्रिका के जंगली क्षेत्रों में व्याप्त था ; दूसरा पार्को, समतल भूमि में अधिक पाया जाता है, और तीसरी शैली टुन्ड्रा (Tundra) में प्रचलित रही होगी।

इस युग में ही परिवार व सम्पत्ति की भावना आ गई होगी। शिकारी शिकार कर गुफा में लौटते थे—अग्नि का व्यवहार तो मालूम था ही, और अंगिठी के चारों ओर परिवार व पड़ोसियों के साथ बातचीत होती होगी। भाषा का भी विकास इस तरह तेजी से हुआ। गुफाओं के भूतल के नीचे कब्रें मिली हैं जिनमें परिवार के सदस्य गाड़े जाते थे। इससे यह पता चलता है कि परिवार भावनाओं के सूत्र से बंधा था और मृत जीवितों के लिए महत्व रखते थे। इन कब्रों में जेवर, औजार व भोजन-पदार्थ पाए जाते हैं।

जिससे यह समझा जाता है कि लोगों को मृत्यु के बाद की दूसरी जिन्दगी में विश्वास था ।

प्राचीन प्रस्तर युग में दो कला का आरम्भ हुआ। पहले टेढ़ी-मेढ़ी लाइन खींच कर ही किसी वस्तु का बोध किया जाता था, पर धीरे-धीरे चित्रकारी कला की उन्नति हुई। चित्रकारी व नक्काशी या पत्थरों पर खुदाई जानवरों की ही की जाती थी । जानवर प्राकृतिक मुद्रा में चित्रित किए गये हैं । स्पेन की गुफाओं में खड़े, लेटे हुए या गर्जते हुए जंगली सांड़ों की नक्काशी है ।

इस युग में मनुष्य जंगलों में भटकता रहा । वह जानवरों का शिकार करता था, और खुद भी उनका शिकार बन जाता था । जीवन एक संघर्ष था, और जीना जरूरी था । इसलिए उसे सर्वदा फुर्तीला रहना पड़ता था । भय और साहस दोनों ही उसके चरित्र के प्रमुख भाव थे । क्षुधा व यौनतृप्ति ही उसकी नीति थी। इसलिए इस सभ्यता के मूल सिद्धान्त हिंसा और भय हो गया । अभी भी सभ्यता के विकास में हिंसा व भय का बड़ा हाथ रहा है । अतः विश्व-सभ्यता पर प्राचीन प्रस्तर-युग की अमिट छाप है ।

नव-प्रस्तर युग

प्राचीन प्रस्तर-युग में मनुष्य अपनी जीविका के लिए प्रकृति पर निर्भर करता था। प्रकृति के फल, कन्द-मूल खाकर रहता था। पर इस जंगली जीवन से मनुष्य ने आर्थिक व वैज्ञानिक-क्रान्ति के द्वारा मुक्ति पाई, और अब वह प्रकृति का शोषक-कीटाणु (Parasite) न रह कर, प्रकृति का उद्योगी सहायक बन गया । इस क्रान्ति की अग्रदूत नारी थी । जब मर्द शिकारी का जीवन बिता रहे थे, औरतें भोज्य-पदार्थों को इकट्ठा करती थीं, और इनमें उन जंगली घासों के भी बीज रहे होंगे, जो जौ और गेहूं के पुरखा होंगे । कुछ समय के बाद यह देखा गया कि बीज जिस मिट्टी के बर्तन में

रखे गये थे, वहाँ पौधे निकल आए। यह खोज आकस्मिक थी, पर क्रान्तिकारी। इस ज्ञान का उपयोग बीजों के अनुरूप जमीन पर बोकर किया जाने लगा और खेत को जोतने की प्रथा शुरू हुई। पहले मर्द के द्वारा स्त्रियाँ ही खेत जोतती थीं, क्योंकि मर्द ही श्रमशक्ति (Labour power) के प्रतीक थे। इस तरह समाज अब खाद्य-पदार्थ उपजाने लगा, और भोजन-सामग्री को बढ़ा सका। इसका अर्थ यह हुआ कि बढ़ती आबादी का अब पोषण किया जा सकता था।

नव-प्रस्तर युग की क्रान्ति का यह पहला कदम था। जंगली-जीवन से देहाती-जीवन (Barbarism) की यह बड़ी विशेषता है। फिलस्तीन के कुछ प्राचीन गुफाओं में पत्थर के चमकते हथियार मिले हैं, इनमें हँसिया भी हैं जिससे घास काटी जाती होगी। प्राचीन प्रस्तर युग के उपकरण शिकार के लिए बने थे, पर नव-प्रस्तर युग के उपकरण कृषि-कार्य के लिए भी बनाये जाते थे।

इस युग में पशुपालन की प्रथा भी शुरू हुई। जहाँ जंगली गेहूँ व जौ स्वयं उपजते थे वहीं जंगली भेड़, बकरी, गाय-बैल व छोटे सूअर भी रहते थे। शिकारी मनुष्य ने धीरे-धीरे इन पशुओं का स्वभाव समझ लिया, और फिर इन्हें वे पालने लगे। खेती-बारी व पशु-पालन इनकी प्रमुख जीविका थी। भोजन में दूध, दही की वृद्धि हुई। अभी तक जानवरों का उपभोग उन्हें मार कर ही किया जाता था, पर अब बिना उनकी हत्या किए उनसे भोजन मिल सकता था।

कृषि व पशु-पालन बिना स्थायी निवास के नहीं हो सकता था। उपजाऊ जमीन गुफाओं के समीप ही रहें ऐसा कोई ठीक नहीं था। पर खेती की रक्षा के लिए खेत के नजदीक ही स्थायी रूप से रहना जरूरी हो गया। इसलिए अब मनुष्य को घुमक्कड़ का जीवन छोड़ना पड़ा, और अब स्थिर जीवन (Settled life) को अपनाना पड़ा। घर मिट्टी के बने रहते

थे। पीछे चल कर धूप से सूखे ईंटों का आविष्कार हुआ। पालतू जानवर भी घर के समीप ही बँधे रहते थे।

घर में रहने से परिवार की भावना और भी दृढ़ हो गई। पिता-पुत्र, माँ-बेटे, भाई-बहन का सम्बन्ध मजबूत हो गया। जीवन सहज और आनन्द-दायक हो गया, और इसलिए स्थिर और सुरक्षित वातावरण में आबादी बढ़ने लगी, और बढ़ती आबादी के लिए अधिक अन्न उपजाने की चेष्टा होती रही, इस कारण कई तरह के अन्न की भी खोज हुई।

शरीर को ढकने के लिए बुने हुए वस्त्र का व्यवहार भी इसी युग में शुरु हुआ। इस प्रयोग की सफलता काफी अरसे की मेहनत के बाद ही हुई होगी। बीजों व अन्न को पहले पत्तों के दोनो में रखा जाता था, पर यह बहुत सन्तोषप्रद नहीं था। पतली-पतली लकड़ी की टहनियों व नरकट (Reads) व बाँस की छड़ियों को बुन कर डलिया (basket) बनाया जाने लगा। डलिया की बनावट से ही औरतों को ऊन के बुने कपड़े बनाने का प्रयोग करने में प्रोत्साहन मिला होगा। जंगली भेड़ व बकरियों के शरीर पर घने बाल होते थे, और मर्द उनके शरीर पर उपजे ऊन को काटते थे, और औरतें ऊन का कपड़ा बुन लेती थीं।

मिट्टी के बर्तन बनाना भी इस युग में ही शुरू हुआ। भोजन करने के लिए, पशुओं को खिलाने के लिए, अन्न व बीज का संग्रह करने के लिए मनुष्य को अब बर्तन की जरूरत हुई। हमारे से प्राचीन पुरखों ने गिली मिट्टी को आग की लपट से सूखते देख लिया होगा, और इसी ज्ञान के आधार पर बर्तन बनाने की कला का श्रीगणेश हुआ। गिली मिट्टी जिसे किसी तरह का आकार दिया जा सकता है, उससे चतुर हाथों के द्वारा कई प्रकार व आकार के बर्तन बनाए जाने लगे।

इस युग की एक और प्रमुख देन है। अब यह पता लग गया था कि पत्थर के औजार की धार को सिल्ली (whetstone) पर रगड़ कर

तेज किया जा सकता है। इसलिए अब मनुष्य के साधन काफी उन्नति कर चुके थे। मकान बनाने की आवश्यकता, कृषि की जरूरत, और बर्तन की सर्वप्रियता ने इस युग के मनुष्यों को कई तरह के उपकरण रखने या बनाने को बाध्य किया। कुल्हाड़ी, छुरी, रुखानी, छेदने का बरमा, आरी और सिल्ली इनमें मुख्य हैं। अब इन हथियारों में मुठिया (handle) भी जोड़ा जाने लगा। इनमें मुट्ठीदार कुल्हाड़ी जिसकी धार पैनी और पजी हुई है, और जो बहुत चमकती है अपना विशेष स्थान रखती है। नव-प्रस्तर युग के पत्थर के उपकरण में जैसी चमक रहती थी (Polished Stone) वह प्राचीन प्रस्तर युग के ऊबड़-खाबड़ हथियारों में नहीं पाई जाती।

इस युग में व्यापार, चीजों का एक जगह से दूसरी जगह आना-जाना भी होता था। सबसे प्राचीन नव-प्रस्तर युग के गाँवों व कब्रों में पुरातत्व वेत्ताओं (Archaeologists) ने बहुत दूर से आई हुई कई चीजों का पता लगाया है। मिस्र के प्राचीन हारों में मध्यसमुद्र व लाल सागर के सीप पाए जाते हैं। विशेष क्षेत्रों में कुछ खास तरह की चीजों पर ध्यान दिया जाता था। आर्थिक विकास के इतिहास में इस नयी धारा (अमुक स्थान में अमुक वस्तु बनाने की विशेषता) (Specialisation) का बहुत महत्व है। मिस्र, सिसली, पुर्तगाल, फ्रांस, इंगलैण्ड, बेलजियम, स्वीडेन और पोलैण्ड में चकमक-पत्थर (Flint) के खान की खुदाई होती थी। कुछ गाँवों में बर्तन बनाने की कला पर विशेष ध्यान दिया जाता, और वहाँ से दूसरी जगहों में बर्तन भेजे जाते। पर व्यापार करने के लिए न मुद्रा का प्रयोग होता था, न धातु का ज्ञान था।

नव-प्रस्तर युग की सभ्यता को ग्रामीण-सभ्यता कहा जा सकता है। इस युग में ग्रामों का निर्माण हुआ, और सभ्यता का विकास ग्रामों के किसानों के घर की चहारदिवारी के अन्दर ही हुआ। इस युग में सभ्यता के विकास में स्त्रियों ने बड़ा प्रमुख भाग लिया। बीज बोकर अन्न उपजाना,

कपड़े बुनना, डलिया बनाना, भोजन आग पर बनाना, इत्यादि क्रान्तिकारी खोज का श्रेय इनको ही है ।

यह बताना नामुमकिन है कि इस सभ्यता की शुरुआत कहां हुई और किन लोगों ने किया । दक्षिण-पश्चिम एशिया में, फिलस्तीन में, उत्तरी अफ्रिका व पश्चिमी योरप में स्पेन से रोन की घाटी तक, सिरिया, एशिया माइनर, ईरान, मेसोपोटेमिया, भारतवर्ष में सभी जगह नव-प्रस्तर युग के चिह्न पाए जाते हैं । कुछ लोग कृषि का आरम्भ नील की घाटी (Egypt) और कोई सिरिया व मेसोपोटेमिया में समझते हैं । यह मानना अधिक तर्क-संगत होगा कि इस सभ्यता की विशेष कृतियों को संसार की कई जातियों ने मिलकर अपनाया ।

विश्व-सभ्यता नवप्रस्तर युग का बहुत आभारी है । आज हम जितने खाद्य-अन्न का उपभोग करते हैं, उनमें बहुतों की खोज हमारे ये पुरखों ने ही की है । अमुक अन्न व फल खाद्य है या अखाद्य इसका प्रयोग करने में बहुतों ने काफी संकट झेला होगा, और कुछ के तो प्राण भी चले गये होंगे । पर उनके वर्षों के अनुभव व प्रयोग का उपभोग हम आज कर रहे हैं । अन्न का उपजाना और पशुपालन इस युग की अमर देन है । इसी आधार पर सभ्यता विकसित हुई है ; मनुष्य जंगली न रह कर, ग्रामवासी व नागरिक बन सका है । इसी काल में पत्थरों के औजार चमकीले व पैनी धार वाले होने लगे, चिकने पत्थरों के औजार के अलावे, लकड़ी व चमड़े की डलिया इत्यादि कई प्रकार की चीजें भी बनने लगी । बर्तन बनाने की कला भी इसी कौशल से विकसित हुई । वस्त्र बनना भी इस युग की ही कृति है । मिट्टी व लकड़ी के मकान के बाद ईंटों व पत्थर के मकान भी बनाए जाने लगे, और इस युग में बढ़ई, शिल्पकार, थवई (राज) के उपयोग में आने वाले औजार या उपकरण बनाये जाने लगे । इस तरह मनुष्य के साधन में इतनी उन्नति हुई कि प्रकृति से वह पूर्ण सहयोग कर सका । कृषि के आरम्भ के साथ-ही-साथ वैयक्तिक व पारिवारिक

सम्पत्ति के भाव की वृद्धि हुई। जिस खेत को पिता जोतता था, उसी खेत को पुत्र जोतने लगा, और धीरे-धीरे उस खेत पर अपना अधिकार समझने लगा। इस युग की आर्थिक-व्यवस्था स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर (Self Sufficiency), आत्म-यथेष्ठता पर आधारित थी। प्रत्येक परिवार अपने सदस्यों के लिए पर्याप्त अन्न उपजा लेता था, कपड़े बुन लेता था और बर्तन बना लेता था, दूध-दही का बन्दोबस्त कर लेता था। पर व्यापार के भी प्रमाण मिलते हैं, जो कि आत्म यथेष्ठता के सिद्धान्त के अपवाद ही समझे जावेंगे।

अतः इस युग में मानव-जीवन का नया संगठन हुआ। जनसंख्या की वृद्धि हुई। सामाजिक व जातीय जीवन स्थायी हो गये। श्रम का बटवारा हो गया, अर्थात् किसी के जिम्मे कुछ काम रहा, किसी के जिम्मे कुछ दूसरा। औरतें खाना बनातीं, कपड़ा बुनतीं, मर्द खेत जोतते, पशु चराते व शारीरिक मेहनत करते। इस कारण धन की वृद्धि हुई, और धन संचय भी होने लगा। सामाजिक नियम के अनुरूप ही कार्य करना पड़ता और धन-जन का सुरक्षा का आश्वासन मिला। इसी युग में चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी जो कि मनुष्य के कार्य में सहायक व दुश्मन समय-समय पर होते थे, उनकी पूजा होने लगी। जिस युग में कृषि, पशुपालन व घरेलू धन्धों व शिल्पों का आविष्कार हुआ, उसे यथार्थ में उन्नति का प्रथम महायुग कहा जाना चाहिये। जनता के लिये तो प्राचीन प्रस्तर-युग और वर्तमान औद्योगिक-युग के मध्य में नव-प्रस्तर युग में ही मनुष्य के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। यथार्थतः मशीन युग व औद्योगिक नगरों की उत्पत्ति के पहले, सभी सामाजिक व सांस्कृतिक उन्नति ग्रामीण सभ्यता के आधार पर ही होती रही। नवप्रस्तर युग में जीवन का जो संगठन हुआ था, उस पर ही भविष्य की शान्ति, स्थिरता व धन आधारित था।

तीसरा अध्याय

मिश्र की प्राचीन सभ्यता

प्राचीन देशों में मिश्र एक विशेष स्थान रखता है। बहुत से इतिहासकारों के ख्याल में सभ्यता का बीज पहले-पहल यहीं पनपा। सिलसिलेवार वंशावलियों का इतिहास ईसा से ३५०० वर्ष पूर्व तक का हमें मिलता है। प्रोफेसर पेट्राइ (Petrie) का मत है कि मिश्र की सभ्यता दस हजार वर्ष पुरानी है, और इस समय भी यहाँ के लोग मिट्टी के सुन्दर बर्तन व चिकने पत्थर के उपकरण हाथों से बनाते थे।

मिश्र ही में सभ्यता का इतिहास प्राथमिक स्थिति से लेकर अति विकसित स्थिति तक क्रमानुसार पता चलता है। इसी कारण विश्व-सभ्यता का इतिहास का अध्ययन मिश्र से ही शुरू किया जाता है।

मिश्र की भौगोलिक स्थिति, अनुकूल जलवायु, प्राकृतिक साधनों का बाहुल्य व उद्योगी नागरिक—सबने मिल कर यहाँ सभ्यता का विकास होने में काफी सहायता दी। प्राचीन सभ्यताएँ पूर्वीय भूमध्यसागर की घाटी में फली-फूली। एशिया के तिग्ररिस-यूफ्रेटिस घाटी और अफ्रिका की नील नदी की घाटी में ही मानव-सभ्यता का यथाक्रम विकास का ठीक-ठीक पता चलता है। मिश्र जलमार्ग से क्रीट प्रायद्वीप की प्राचीन सभ्यता व एशिया-माइनर की सभ्यता से सम्बन्ध रखता था, और इस कारण यहाँ की सभ्यता और भी ऐश्वर्यशाली हो सकी।

मिश्र और नील-नदी

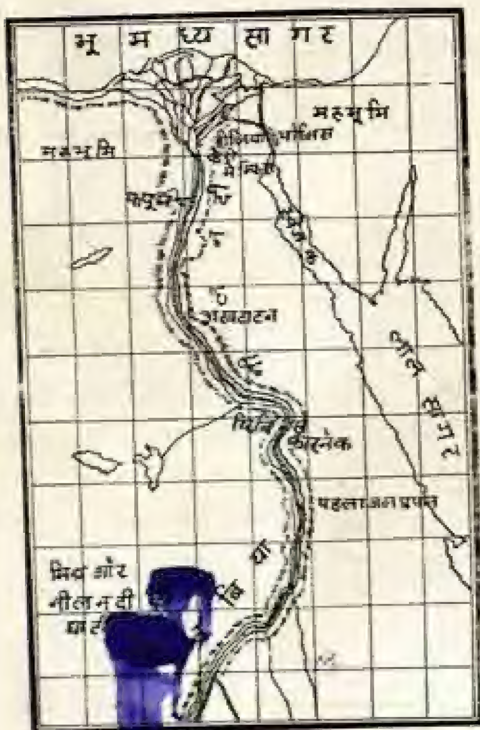
मिश्र की उन्नति की कुंजी नील नदी है। नील नदी की घाटी नील नदी की कृति है। भूमध्यरेखा से तीन डिग्री दक्षिण, नील नदी निकलती है, और चार हजार मील चल कर साढ़े तेंतीस डिग्री उत्तरी अक्षांश पर

चित्र ३



(पृ० १४) प्राचीन प्रस्तर युग की एक गुफा में एक चित्रित मायावी।

मिस्र



भूमध्यसागर में गिरती है। यह नदी पहाड़ी इलाकों व जलप्रपातों से होती हुई समतल भूमि पर आ जाती है, जिसका विस्तार नदी के मुहाने तक है। यथार्थ में मिस्र नील नदी के मुहाने से लेकर पहला जलप्रपात तक विस्तृत है। इस क्षेत्र में कंकड़ीली पत्थरों (lime stone) का अभाव है। घाटी के दोनों ओर ऊँची चट्टानें हैं, और घाटी की चौड़ाई उत्तर की ओर बढ़ती जाती है। पहाड़ी इलाकों से होती हुई, कंकड़ीली पत्थरों को चूरती हुई, नील नदी द्रुतवेग से उत्तर की ओर बढ़ती है, और अपने साथ लाई हुई उपजाऊ बालू और मिट्टी घाटी में जमा करती जाती है। अतः मिस्र की उर्वरा जमीन नील नदी की देन है। नील नदी में प्रतिवर्ष मौसमी बाढ़ आती रहती थी, जिसके कारण इसके दोनों किनारे की जमीन जलमग्न हो जाती थी। जान-माल की हानि काफी होती थी। प्राचीन मिस्रवासियों के लिए नील नदी के बाढ़ को रोकना या उसे नियन्त्रित करना एक जरूरी समस्या थी। मिस्र में वर्षा पर्याप्त नहीं होती है इसलिए नील नदी के पानी पर ही निर्भर करना पड़ता है। मौसमी बाढ़ का पानी यदि एक दृष्टि से हानिकारक था, तो दूसरी दृष्टि से लाभदायक भी। क्योंकि उपजाऊ बालू और मिट्टी देश के बड़े हिस्से में फैल जाती थी। अतः नील नदी के पानी को, बाढ़ के समय में भी, लोकोपकारी रखना यहाँ के प्राचीन निवासियों के लिए जरूरी था। इसलिए मिस्र में हमें अति प्राचीन नहरों के चिह्न मिले हैं। बड़े-बड़े नहरों को खुदवाना, उनकी रक्षा करना, साधारण जनता के बूते के बाहर की बात थी। इसलिए प्राचीन मिस्र में मजबूत राजतन्त्र का ही बोलबाला रहा है। शक्तिशाली एकछत्र राजा हजारों मजदूरों के द्वारा नहरें खुदवा सकता था, और अपनी बृहत् सेना व नौकरशाही से इनकी रक्षा करने में भी समर्थ था। इस तरह राजनीतिक व आर्थिक दृष्टिकोण से मिस्र का इतिहास नील नदी पर काफी मात्रा में निर्भर करता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि मिस्र नील नदी की देन है (Egypt is the gift of the Nile)। मिस्र के पूरब व पश्चिम

रेगिस्तान है, उत्तर भूमध्यसागर और दक्षिण पहाड़ी इलाका। इस भौगोलिक स्थिति में यहां के निवासियों को अपनी सभ्यता का विकास करने में काफी शान्ति मिली।

मिश्र के दो प्रमुख भाग हैं—नील नदी की तंग घाटी, और विस्तृत मुहाना, उत्तर व दक्षिण मिश्र—ये दो हिस्से हैं (Lower and Upper Egypt), और मिश्र का इतिहास हमें बताता है कि राजनीतिक दृष्टिकोण से भी ये दो प्रमुख भाग रहे हैं, और दो हुकूमतें यहां होती रही हैं। इन दो राज्यों में बराबर झगड़ा रहा है, और कभी उत्तर से, कभी दक्षिण से, यह कोशिश रही है कि सारा मिश्र एक राजसूत्र में बंध जाय। आर्थिक रूप से समूचा देश एक है। नील नदी इस एकता की स्रोत है। इसलिए बराबर यह प्रयत्न रहा है कि सारा देश एक राज्य के अन्दर रहे, और जब-जब इस दशा में सफलता मिली है, देश की उन्नति हुई है।

यह तो बता दिया गया है कि नील-नदी का स्रोत मिश्र से बहुत दक्षिण भूमध्यरेखा के निकट है। मिश्र के प्राचीन निवासी व सरकार को मौसमी बाढ़ की समस्या का सामना करना पड़ता था। पर जब तक स्रोत का पता न चल जाय, कब अत्यधिक पानी नील नदी में आना शुरू करता है इसका ज्ञान न हो जाय, तब तक मिश्र के लोगों के लिए यह वार्षिक बाढ़ एक दैवी प्रकोप ही था। इसलिए अज्ञानवश वे यह समझते थे कि नील नदी का उद्‌गम स्वर्ग से होता है। पर संकट मनुष्य को साहसी और साधनपूर्ण बनाता है। नील नदी के उद्‌गम स्थान की खोज में ही मिश्र ने दक्षिण की ओर अपना प्रभाव बढ़ाया, और इस तरह साम्राज्यवादी नीति को अपनाया। नील नदी में पानी कब बढ़ेगा इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्योतिष व खगोल विद्या की ओर इनका ध्यान बहुत पहले गया। अतः

नील नदी ने मिस्रवासियों को धनी, उद्योगी, वैज्ञानिक बनाया और देश के राजनीतिक इतिहास का पथ मोड़ा।

संक्षिप्त इतिहास

मिश्र की सभ्यता का उत्कर्ष व अवनति को समझने के लिए हमें उसके इतिहास का सिंहावलोकन करना जरूरी है। अति प्राचीन काल के शिकारी मनुष्यों के चिह्न मिले हैं, और मनुष्य ने शिकारी जीवन से घुमक्कड़जीवन को किस तरह अपनाया, और आगे चल कर वह कैसे कृषक बन गया, इसका भी पता हमें मिश्र के पुराने खण्डहरों से मिलता है। इस समय उनके पास पत्थर के उपकरण थे, जौ और गेहूं की उपज होती थी, मृतकों को गाड़ा जाता था, और कब्र में मिट्टी की सुराहियों में भोजन रखा जाता था। सन के बुने हुए कपड़ों का भी पता था। कच्चे ईंटों के मकान में रहते थे और वे लोग कृषक लोग स्थानीय सरकार को नहरों की रक्षा के लिए कर देते थे। लिखने की कला का भी आविष्कार यहाँ इस युग में हुआ। यह लिपि चित्र संकेत-लिपि कही जाती है। धीरे-धीरे इसका विकास होता गया। नरकट के कलम, पैपिरों के बने कागज, और स्याही का भी व्यवहार होता था। विद्वानों के मत से मिश्र में ही धातु (Metal) का ज्ञान पहले-पहल हुआ। सिनाई प्रायद्वीप में ताम्बा बहुत पाया जाता है, और प्राचीन मिस्रवासियों ने आग की लपट से अपने को बचाने के लिए ताबों के ढेर आग के चारों ओर रखा, और आग की गर्मी से कच्चे ताम्बे से उसका धातुरूप मुक्त होकर निकल आया। अब धातु युग का आरम्भ हुआ, जिसका महत्व सभ्यता के विकास में अकथनीय है

धातु युग और मिश्र का राजवंश का आरम्भ करीब २ साथ ही हुआ। प्रथम वंश दक्षिण मिश्र में स्थापित हुआ, और द्वितीय वंश ३०००-२७८० ईसा से पूर्व उत्तरी मिश्र की ओर झुका था। तृतीय वंश की राजधानी

मेम्फिस (सुहाने व तंग घाटी के मध्य) में स्थित था, और इसी वंश से पिरामिड युग का आरम्भ होता है। तृतीय, चतुर्थ व पंचम वंशों के आधिपत्य में मिश्र की आर्थिक व सांस्कृतिक उन्नति का क्या ठिकाना! इस युग में, तृतीय वंश का राजा (Pharaoh) जोजर का वजीर इमहोटेप ने चतुर्भुजाकार पत्थरों की राजगिरी (Square stone masonry) व इमारत इजाद किया, और औषधि व ज्योतिष पर शास्त्र लिखा। इस युग में नागरिक सभ्यता का विकास हुआ। शहरों की उन्नति हुई और वे राजनीतिक व सामाजिक केन्द्र हो गये। कृषि सन्तोषप्रद योजना के कारण खूब पनपी। अन्न काफी उपजता था, और चतुरकारीगरों को बिना स्वयं अन्न उपजाए वेतन रूप में भोजन मिलता था। इस कारण धंधों की उन्नति हुई, और जीवनस्तर ऊपर उठता गया। इस युग की विशेषता है पिरामिडों का निर्माण। पहले राजा के कब्र कच्चे ईंटों के बनते थे, पर जब ताम्र के बने हथियारों का व्यवहार होने लगे तब कंकड़ीले चट्टानों (blocks of Limestone) को चतुर्भुजाकार तोड़ कर विशाल त्रिभुजाकार कब्र बनाए जाने लगे। जिन्हें पिरामिड कहते हैं। गाइजा का विशाल पिरामिड बादशाह खूफू के लिए बनाया गया। तेरह एकड़ तक फैली हुई यह एक ठोस इमारत है जिसमें २३००००० कंकड़ीले पत्थर के चट्टान हैं, प्रत्येक का वजन २½ टन है। यह इमारत ४८१ फीट ऊँचा है, और प्रत्येक भुज ७५५ फीट है। ऐसा कहा जाता है कि एक लाख मजदूर २० वर्ष तक काम करके इसे बना सके। इस महान् पिरामिड के इर्द-गिर्द और भी बहुत से पिरामिड हैं। प्रत्येक राजा अपने व अपने परिवार के लिए पिरामिड बनवाते थे। इसमें इनका मृत शरीर मसाले की सहायता से सुरक्षित रखा जाता था। अभी भी कई ऐसी लाशें मिली हैं जो उस समय की इस कला के जीवित उदाहरण हैं। इन पिरामिडों को



(पृ० २४) सम्राट् खफ्रे (गाइजा का दूसरा पिरामिड का निर्माता)

चित्र ५



अखनातन

(Facing Page 28)

दीवालों पर चित्रकारी भी की जाती थी, जिसमें उस समय की कला व जीवन की झाँकी मिलती है। प्राचीन मिश्रवासियों का यह विश्वास था कि मरने पर भी प्रेतात्मा को उन चीजों की जरूरत होती है जिसका उपयोग वे पृथ्वी पर करते थे। इसलिए इन कब्रों में भोजनपदार्थ, शृंगार की सामग्रियाँ, अस्त्रशस्त्र, खिलौने व आमोद-प्रमोद की चीजें रखी जाती थी। कहीं तो छोटे खाट पर एक स्त्री की मूर्ति भी पाई जाती है। शायद ऐसा ख्याल रहा हो कि दूसरी दुनियां में भी राजा को रखेली व वेश्या की जरूरत होगी। अतः प्राचीन पिरामिड मिश्र की सभ्यता का ज्ञान के लिए अक्षय भण्डार सिद्ध हुये है।

पिरामिड युग के शासक स्वेच्छाचारी थे। विशाल और ठोस पिरामिड इसके प्रतीक है। राजा के इर्दगिर्द उसके संबंधी और बड़े २ अफसर रहते थे, और इन लोगों की मदद से राज चलता था। साधारण जनता श्रम करती थी, और जो धन पैदा होता था उसका बहुत बड़ा भाग राजा और उसके सामन्तों के पास चला जाता था। अफसर व पादरियों को कई विशेष सुविधाएं थी, उन्हें करमुक्त जमीन मिली थी और वे अपनी जमीन्दारी के स्वतन्त्र शासक थे। इस कारण जब राजा कमजोर हो गया तो ये लोग अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करने लगे, इस तरह पिरामिडयुग का अन्त हो गया, और सारे देश छोटे २ राज्यों में बंट गया। स्थानीय सामन्त वस्तुतः अपने २ २ क्षेत्र में स्वतन्त्र हो गये और जागीरदारी प्रथा स्थापित हो गई।

छठा राजवंश के काल (२४००-२२५० ईसा से पूर्व) में ऐसी दशा रही। पर जनता के हितों की यह उपेक्षा बहुत दिनों तक नहीं चल सकी, और ऐसी सामाजिक व राजनीतिक क्रांति हुई जिसमें अमीर-उमरावों को रोना पड़ा, और साधारण जनता खुशी से नाचने लगी। राजसत्ता मध्यमवर्ग के हाथ आई, और जनता

से न्याय व समता का व्यवहार होगा, ऐसा आश्वासन मिला। बारहवां राजवंश काल मिश्र के इतिहास का सुनहला युग है। इस समय मिश्र की जनता की जंजीरें टूट गई थीं, और देश में ऐसी स्फूर्ति व क्रियात्मक-शक्ति फैली कि सभ्यता के प्रत्येक पहलू में अपूर्व उन्नति हुई। शिल्पकला, चित्रकारी, भवन-निर्माण कला, लेखन कला, साहित्य, संगीत व धर्म सभी क्षेत्रों में इस युग ने बहुत कुछ प्रदान किया है। मिश्र की सभ्यता का आशातीत वैभव व ऐश्वर्य बारहवां व तेरहवां राजवंश काल (C. 2000-1800 B.C.) पर आधारित है। यह जनक्रांन्ति थी, जिसमें जनता ने अमीरों का घर लूटा, राजव्यवस्था को उलट दिया, अशान्ति फैलायी, अमीरों व पादरियों की हत्या की। इस अराजकता के फलस्वरूप दृढ़ केन्द्रीय सरकार की स्थापना हुई। थिबिस् (Thebes) नयी राजधानी बनी। राजशासन फारोहा (बादशाह) एक सुव्यवस्थित नौकरशाही के द्वारा चलाता था। वजीर की सलाह से काम होता था। सिनाई और नूबिया देशों पर विजय किया गया। वैदेशिक व्यापार की वृद्धि हुई, धन का बाहुल्य रहा। राजधानी थिबिस् अच्छी-२ इमारतों से सजी गयी। बारहवां राजवंश काल की कब्रें, इमारतें व मन्दिरें मिश्र की उन्नति व सौभाग्य की गवाही देते हैं।

यह स्वर्णयुग स्थायी न रह सका। बारहवां व अट्ठारहवां राजवंश के मध्यान्तर मिश्र का इतिहास का ठीक-ठीक पता नहीं चलता है। इसी बीच में एशिया से हिक्सोस् का आक्रमण हुआ अट्ठारहवी शताब्दि में मध्य एशिया में नयी जातियों का दबाव बढ़ने लगा, जिसके फलस्वरूप हिक्सोस् लोगों को एशिया छोड़ना पड़ा। इतिहासकार इन्हें हिक्सोस् कहते हैं क्योंकि इनके मुखिया गड़ेरिया थे। ये लोग असभ्य थे और इन्होंने मिश्र को काफी नुकसान पहुँचाया। मंदिर तोड़े गये। सभ्यता

की गाड़ी रुक गई। पर कुछ समय बाद आक्रमणकारी मिस्र की सभ्यता को अपनाने लगा। हिक्सोस्-राज्य का फल महत्वपूर्ण है। मिश्र की आँखें खुलीं, और अपने देश से बाहर की दुनिया का ज्ञान हुआ। नये देवी-देवता की पूजा होने लगी, मन्दिरें बने और गणित व ज्योतिष के क्षेत्र में काफी उन्नति हुई। हिक्सोस् को अपने देश से खदेड़ते हुये विजयी मिश्रवासी एशिया तक पहुँच गए। मिश्र ने साम्राज्य स्थापित करने का निश्चय कर लिया। हिक्ससों ने मिश्र को साम्राज्य-वादी देश बनने में प्रेरणा दिया।

पर मिश्र बहुत दिनों तक गुलामी की बोझ नहीं ढो सका, और करीब १५८० ई० ईसा से पूर्व, हिक्सोस्-राज्य का अन्त कर दिया गया। इस राष्ट्रीय यज्ञ का अग्रदूत अहमोसी (Ahmose) था, जिसने १८ वां राजवंश की स्थापना की। यहीं से मिश्र का साम्राज्य-युग का आरम्भ होता है, जो कि साढ़े चार सौ वर्ष तक चलता रहा। मिश्र का आत्मसम्मान जग उठा, और इस नये उत्साह का परिणाम था दक्षिण पूर्व एशिया पर विजय। थोतमस तृतीय (Thotmose III) बड़ा ही शक्तिशाली राजा था, जिसने मृत्यु की परवाह न कर, एशिया पर दर्जनों बार आक्रमण किया। एशियामाइनर, सिरिया, आरमिनिया पर विजय प्राप्त की। असेरिया और बेबीलोनिया के राजाओं ने मिश्र की प्रभुता स्वीकार की। इन सफल आक्रमणों व साम्राज्य-विस्तार के कारण मिश्र बहुत धनी हो गया और इस धन को फौज के सिपाहियों व देवताओं के पुजारियों में बांटा गया जिससे कि समाज के ये दो प्रमुख वर्ग राजा के पृष्टपोषक बने रहें।

कृषि, व्यापार की अकथनीय उन्नति हुई, और इस अत्याधिक धन का उपयोग बड़े बड़े मन्दिरों, कीर्तिस्तम्भों, ध्वजपताकाओं, सूच्याकार स्तम्भों (obelisks) पत्थरों की विशाल मूर्तियों का निर्माण

में हुआ। इस युग की शिल्पकला, चित्रकला जो कि मन्दिरों की दीवालों पर खुदी हुई वा चित्रित है, कला की उन्नति की द्योतक है। कारनक का मन्दिर दो हजार वर्षों में तैयार हुआ, और एक चौथाई मील लम्बा है। खम्भों का विशाल हाल, रानी हेटशेपस् का सूच्याकार स्तम्भ इसके प्रमुख अंग है। थिबिस् के मन्दिर सुन्दर ढंग से रंगे हुये थे, और उसकी दीवालों पर युद्ध के दृश्य चित्रित थे। आज रंग उड़ गया है, मन्दिरें टूटे पड़े है। पर तब भी हमलोगों को उस समय का ऐश्वर्य व वैभव का पता चलता है। यह निर्विवाद है कि मिश्र के प्राचीन बादशाह इन भवनों पर अत्याधिक खर्च करते थे। मिश्र का बादशाह एमेनहोटेप तृतीय मिश्र का शाहजहां कहा जा सकता है। इनके समय कई सुन्दर और विशाल इमारतें बनीं।

एमेनहोटेप का पुत्र एमेनहोटेप चतुर्थ या अखनाटन (Akhnaton) संसार के इतिहास में अपना खास स्थान रखता है। उसने धार्मिक क्रान्ति शुरू किया। इस समय मिश्र में कई देवी-देवताओं की पूजा होती थी—जिनमें (सूर्य), औसिरिस—यमराज; इसीस उसकी स्त्री, होरस उसका पुत्र; सेट औसिरिस का शैतान दुश्मन प्रमुख है। प्रत्येक जिला, गांव में अलग २ देवता और देवी की पूजा होती थी। करीब २२०० देवी-देवता थे। एमेनहोटेप चतुर्थ ने इस अनेक देवता में विश्वास वाले धर्म की जगह पर एकेश्वरवाद का सिद्धान्त चलाया। उसने यह घोषणा की उसके सारे साम्राज्य में एटन (Aton) की पूजा होनी चाहिये। पुराने मन्दिरों को तोड़ा गया। इससे सबसे बड़ी हानि एमेन-देव के पादरियों की हुई जिनका कि देश पर बड़ा प्रभुत्व था, और राजा से जिन्हें काफी भूमि व विशेष सुविधाएं मिली थी। एमन सूर्य देव थे, पर एटन (Aton) सूर्य के पीछे छिपी शक्ति का नाम था। दर्शनीय सूर्य की पूजा नहीं वरन्

सूर्य की शक्ति का स्रोत–ईश्वर की पूजा ही अखनातन का धर्म था। पर साधारण धर्मभिरु जनता और स्वार्थी पादरियों ने कस कर विरोध किया, और अखनातन को थिबिस् छोड़ना पड़ा, और उसने एक नयी राजधानी एखटाटन (एटन का नगर) की स्थापना की। वहां से एटन-धर्म को फैलाने की चेष्टा की गई। एटन निराकार, और निर्गुण थे, इसलिए इस धर्म में मूर्ति-पूजा का स्थान नहीं था। अखनातन का विचार समय से पहले था, और अत्यन्त विरोध के कारण उसके मरने पर उसके चलाए धर्म का भी अन्त हो गया। अखनातन विश्व इतिहास में प्रथम व्यक्ति है जिसने अपना व्यक्तित्व का पूर्ण विकास किया। वह साहसी व निर्भीक था, और अपना विश्वास व सिद्धान्त पर विपरीत परिस्थितियों के बावजूद, चलने की क्षमता रखता था। जब उस समय की दुनियां में भ्रान्तिमूलक धर्मसिद्धान्त, अन्ध-विश्वास फैले थे, अगणित देवी-देवताओं की पूजा और स्थानीय व राष्ट्रीय सम्प्रदायों में अवांछनीय होड़ हो रही थी, उस समय अख-नातन ने सर्वशक्तिमान एक शक्ति का आवाहन किया। भिन्न २ विरोधी धर्मों को मिटा कर संसार के लिए एक बुद्धिवादी सर्वमान्य धर्म चलाने की चेष्टा की। यदि मिश्र अपना साम्राज्य स्थिर रखना चाहता था तो उसे अपने राष्ट्रीय धर्म को अन्तर्राष्ट्रीय रूप देना जरूरी था। अखनातन का प्रयास इस दृष्टिकोण से भी अच्छा ही था। पर अखनातन के चलाए धर्म की सबसे बड़ी विशेषता थी, संसार के सभी जीवों में ईश्वर का ही रूप देखना। प्रकृति की स्वाभाविक सुन्दरता में, चिड़ियों की चहचहाहट में, फूलों की सुगन्ध में, सिंह की गड़गड़ाहट में, मानव की कृतियों में वह एक ही स्वर्गीय आनन्द अनुभव करता। उस समय की कविताएँ, जो भाग्यवश अभी भी उपलब्ध हैं, प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन के लिए अद्वितीय हैं। मनुष्य का यह प्रकृति

प्रेम स्वर्गीय है। प्राकृतिक वस्तुओं का आदर व स्वर्गीय है। प्राकृतिक वस्तुओं का आदर व प्रेम की छटा हम उस समय की चित्रकारी और शिल्पकला में देखते हैं। दहाड़ते हुये सिंह और बादशाह व उनकी रानी अपने स्वाभाविक रूप में ही चित्रित किये गए हैं। अखनातन के चलाए धर्म का भले ही नाश हो गया, पर मिश्र की कला और साहित्य पर उस युग का प्रभाव चिरस्थायी व युगान्तकारी ही रहा। उसके धर्म का अन्त हो गया। पर विश्व अखनातन ऐसे प्रतिभाशाली व नयी सूझवाले महापुरुष का सदा आभारी रहेगा। वह अपने युग का नहीं, वरन् आगामी युग का नेता था।

अट्ठारहवां राजवंश का अन्तिम बड़ा बादशाह अखनातन ही था, उसके मरने के थोड़े दिन बाद ही उन्नीसवां वंश शुरु हो गया। इस वंश के राजाओं ने अपना समय साम्राज्य-विस्तार व युद्ध में ही अधिक बिताया। इस वंश के अन्तिम दिन मिश्र के बड़े दिन के अन्तिम काल सिद्ध हुए। इसके बाद मिश्र की अवनति होने लगी, और अन्त में मिश्र असीरिया के अधीन हो गया, फिर पर्शिया और फिर यूनानियों के।

मिश्र की सभ्यता का मूल्यांकन।

मिश्र ने विश्वसभ्यता के भण्डार में काफी दान दिया है। पुराने खोज के आधार पर यह कहा जाता है कि मिश्र से ही पहले पहल अन्न व सन (flax) योरप में प्रवेश किए। राजा व सरदार को कर देने की प्रथा मिश्र में ही शुरु हुई। बड़े २ नहरों व खाईयों की रक्षा करने वाले सरदार को साधारण कृषक अपने अन्न के कुछ भाग कर (tax) के रूप में देने लगे, क्योंकि यदि किसान कर न दें, तो सरदार पानी का रसद ही बन्द कर दें, और इस तरह जीविका का साधन ही मिट जाय। यह भी संभव है

कि लेखन कला की उत्पत्ति भी मिश्र में ही हुई। आज का paper (कागज) शब्द मिश्र के पैपिरस (Pappyrus) से ही निकला है। प्राचीनकाल में अपने आशय का अर्थ दूसरे को समझाने के लिए चित्रकारी का उपयोग किया जाता था। पर प्राचीन मिश्र वासियों ने वर्णमाला (alphabet) का आविष्कार किया। पहली वर्णमाला चौबीस वर्णों की है। कलम, रोशनाई और कागज का व्यवहार वे तब करते थे जब मेसोपोटेमिया या भारत में मिट्टी की छोटी-छोटी टिकियों पर ही शब्द खोदे जाते थे। धातु युग का प्रारम्भ भी मिश्र में ही हुआ था। इसके विशाल पिरामिड गृह-निर्माण विज्ञान का ज्वलन्त उदाहरण हैं। यन्त्र-शास्त्र (Engineering) की इतनी उन्नति उस समय हो सकी थी, बहुतों को आश्चर्य में डाल देता है।

मिश्र की लिपि (Script) और उसका साहित्य

यह प्रत्यक्ष है कि मिश्र की प्राचीन लिपि के चिह्न प्राकृतिक जानवर, चिड़ियाँ व पौधों के रूप से विकसित हुई। पर अन्त में ये चिह्न उस विशेष पशु व पंक्षी का द्योतक न रह कर खास शब्द बन गए। ठंड का बोध पानी से भरे बर्तन से होता था। एक मर्द व औरत के चित्र से मनुष्य (Peoplo) का बोध होता था।

मिश्र का साहित्य बहुत पुराना है। सबसे प्राचीन लेख बर्तनों पर खुदे नाम व शीर्षक हैं। आदि वंशो के समय के धार्मिक व धर्मनिरपेक्ष (Secular) लेख मिलते हैं। पाँच पिरामिडों की दीवालों पर लिखे हुये मूल-सूत्र, (Pyramid Texts) ईसा से अढ़ाई हजार वर्ष पहले के हैं। मध्यराजकाल (Middle-Kingdom में सामाजिक व राजनीतिक विषयों पर पुस्तकें लिखी गई। वैज्ञानिक ग्रन्थों का भी अभाव नहीं रहा। लिखने की कला कुछ खास परिवार

के लिपिकारों का एकाधिकार बनी रही, और लिपिकारों की एक जाति ही बन गई। इनका राज व समाज पर बड़ा प्रभाव था। Pyramid Texts के अलावे "मृतकों की पुस्तक" (Book of the Dead) भी धार्मिक साहित्य का प्रमुख भाग है। एशिया पर विजय के उपलक्ष्य में काफी लिखे गए हैं। बारहवां राजवंश के समय में पद्य व नाटक की बहुत उन्नति हुई। मिश्र का प्राचीन साहित्य बेबिलोन के साहित्य से किसी भी दृष्टि में न्यून नहीं है।

धर्म

मिश्र के प्राचीन धर्म में अनेक देवी-देवताओं की पूजा और भिन्न २ प्रकार के रस्म-रिवाजों का बोलबाला था। कभी कभी तो ये धार्मिक क्रियापद्धति असंगत प्रतीत होती।

देवी-देवता

प्रकट रूप से मिश्र के प्राचीन निवासी एक सर्वव्याप्त शक्ति में, जिसे वे "क" (Ka) कहते थे, विश्वास करते। पर कालक्रम के अनुसार इसी एक शक्ति से कई देवताओं की उत्पत्ति हुई। प्रथम देवता स्थानीय क्षेत्रों के या कुलों के ग्राम व कुल देवता थे, या जातीय-संबंध सूचक चिह्न (Totem)। दक्षिण मिश्र में बरहे, शृगाल, और सिहनी की पूजा होती थी, और उत्तर मिश्र में सांड़, गाय, भेड़ और मछली की। ये सब जाति-सूचक चिह्न थे। इन जातीय देवी देवताओं के अलावे, कुछ विशेष देवताओं की पूजा होती थी, जिनमें रा (Ra, सूर्य) शू (Shu, वायु), नुट (Nut, आकाश), गेब (Geb पृथ्वी) देव प्रमुख हैं। होपि (Hopi) नील नदी का देव था। स्थानीय जातियों के खास-खास देवता थे। कुछ देवताओं के

प्रतिरूप मनुष्य और पशुओं के शरीर के सम्मिश्रण के द्वारा होता था, और कुछ का सिर्फ मनुष्य, कुछ का पशु का आकार होता था।

राजनीतिक उलटफेर ने देवताओं की महत्ता पर भी प्रभाव डाला। जब हेलियोपोलिस के पादरी शक्तिवान् थे, तब वहाँ का नगरदेवता को ही सूर्य तुल्य समझा जाता था। उत्तर व दक्षिण मिश्र में झगड़ा उठा, तब उत्तर मिश्र का देवता सेट और दक्षिण मिश्र का देवता होरस (Horus) में विरोध खड़ा हो गया। अटुम (Atum) सर्वशक्तिमान ईश्वर समझा जाने लगा, उसे सूर्यदेव रा (Re) से मिलाया गया। बहुत दिनों के बाद जब थिबिस् (Thebes), हेलियोपोलिस (Heliopolis), और मेम्फिस (Memphis) के पादरियों ने राज पर अपनी धाक जमाई, तब मिश्र के विश्वदेवताओं में एमोन (Amon), रा (Re), और टाः (Ptah) की महत्ता बहुत बढ़ गई।

अमरत्व में विश्वास

मिश्रवासी का यह विश्वास था कि इस पृथ्वी पर शरीर छूट जाने के बाद भी दूसरी दुनियाँ है जहाँ मृत जीव अपनी जिन्दगी पहले की तरह बिताते हैं। प्राचीन कब्रों को देखने से यह प्रत्यक्ष है कि वहाँ के लोग मृत्यु के बाद एक दूसरा जीवन पर विश्वास रखते थे। शरीर का अन्त भले ही जाय, पर आत्मा अमर है, ऐसा उनका सिद्धांत था। शरीर और आत्मा की भिन्नता का उन्हें ज्ञान था। शरीर को खत (Khat) कहते, और उसके नाश के बाद जो अमर चीज रह जाती थी, उसे कहते 'क' (ka)। 'क' का स्थूल प्रतिरूप था पत्थर की एक मूर्त्ति। विशिष्ट आत्मा का चिह्न एक पक्षी था। कब्र 'क' का घर समझा जाता था।

पहले मिश्र के बादशाह (Pharaoh) और उसके आशीर्वाद प्राप्त हुये ही अमरत्व प्राप्त करने के अधिकारी थे। पर बारहवाँ वंश

के समय की सामाजिक क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप अमरत्व का द्वार जनसाधारण के लिए खुल गया। ओसिरिस (Osiris), मृतकों के देवताओं का प्रतिरूप था, और अब ओसिरिस-धर्म (Cult) जनप्रिय सम्प्रदाय हो गया। तेरहवां राजवंश के महाराजों ने ओसिरिस-सम्प्रदाय के उपलक्ष्य में उत्सवों की स्थापना की।

ओसिरिस की पौराणिक कथा बड़ी ही मनोरंजक है। ओसिरिस नील-नदी का देवता था, और इसिस उसकी (Isis) बहन और जीवन-संगिनी थी। इसिस उवरा जमीन की देवी थी। ओसिरिस ने हल का आविष्कार किया, मनुष्य को खेती करना सिखाया, रोटी, शराब बनाना भी इसीने बताया। खनिज और द्रव्य पदार्थों का पोशक भी यही था। 'इसीस' इसे इन लोकहितकारी कार्यों में मदद देती थी। नील-नदी की बाढ़ इसिस के बहते आंसू का परिणाम था। अट्ठाइस वर्ष की उम्र में ओसिरिस को उसका भाई और शत्रु सेट् (Set) ने मार डाला। पर इसिस ने ओसिरिस का शरीर सिरिया के समुद्रतट पर पाया, और उसे फिर पुनर्जीवित किया। सेट् ने फिर उसकी हत्या की, और इस बार उसके शरीर को चौदह टुकड़ों में काट कर अपने साथियों में बांट दिया। ओसिरिस की मृत्यु का परिणाम था नील नदी के पानी का घटना, वनस्पति का सूखना, और मरुभूमि की सनसनाती हवा का प्रकोप। सेट् (Set) मरुभूमि व गर्म हवा का दूत था। इसिस ने ओसिरिस के शरीर के टुकड़ों की खोज आरम्भ की, और सभी अंग, सिर्फ जनेन्द्रिय को छोड़ कर, मिल गये। इसिस ने इस शरीर को मसाला लगा कर सुरक्षित रखा। यही पहला मम्मी (Mummy) था। कुछ दिनों के उपरान्त दैविक शक्ति के द्वारा इसिस ने एक पुत्र उत्पन्न किया, जिसे होरस (Horus) नाम दिया गया, और होरस ने सेट् को हराया। सेट् ने देवताओं की कचहरी में यह नालिश की कि

होरस वर्णसंकर है, पर उसका मुकदमा असफल रहा, और होरस विजयी हुआ । और वह सारे मिश्र का राजा हो गया। मृत्यु के बाद ओसिरिस पाताल चला गया, और वहां न्याय की कचहरी का सभापति बन गया। यहां 'आत्मा' का न्याय होता था। एक तराजू पर हृदय तौला जाता था, और बगल में अनुबिस (Anubis) शृगाल-सिर देव इत्यादि भक्षक खड़े रहते थे। जब आत्मा ओसिरिस के सामने लाई जाती, तो वह यह निषेधार्थक स्वीकृति (Negative Confession) करती—"मैंने कोई बुरा काम नहीं किया है, मैंने चोरी नहीं की है, मैंने किसी मनुष्य को धोखे से नहीं मारा है। मैंने झूठ नहीं बोला है, मैंने फसल नहीं बर्बाद की है, मैंने बलात्कार नहीं किया है, मैंने किसी गुलाम को परेशान नहीं किया है, मैंने नहर नहीं काटी है, मैंने ईश्वर की निन्दा नहीं की है । मैं पवित्र हूं, पवित्र हूं।" इस स्वीकारोक्ति के बाद हृदय को तराजू पर तौला जाता, और यदि वह ठीक उतरा तब आत्मा आइओरा के मैदान (Fields of Iora) में आराम करती, अन्यथा भक्षकों के नजदीक फेंक दी जाती ।

इस उद्धरण से हमें मिश्र वासियों के नैतिक सिद्धांत, पाप-पुण्य के भेद का ज्ञान होता है। उनका यह विश्वास था कि यदि उनका चरित्र पवित्र रहा है, उन्होंने समाज, राजा व देवताओं की हानि नहीं की है, तो उनका दूसरा जीवन सुखप्रद होगा । यह धार्मिक विश्वास वैयक्तिक व सामाजिक पवित्रता व संगठन को दृढ़ बनाता था। इन लोगों का यह विश्वास था कि मनुष्य की उन्नति व उनके ऐश्वर्य की वृद्धि देवताओं को प्रसन्न रखने से ही होती है, और बुरे ग्रहों की शान्ति का भी यही उपाय है। सरकारी काम, कला, साहित्य और विज्ञान सभी में इस विश्वास की छाया मिलती है। देवताओं को खुश रखने

के लिए पूजा-पाठ, यज्ञ इत्यादि करना जरूरी था। इनकी विधि का पता पुरोहितों या पादरियों को ही था। पुरोहित ही जानते थे कि किस काम में देवता प्रसन्न होंगे। इस कारण मिश्र में पादरियों का सरकार, समाज व जनसाधारण पर गहरा प्रभाव था। पादरी समाज का सबसे मजबूत वर्ग हो गया। इसका प्रभाव मिश्र की राजनीति पर बुरा हुआ।

मिश्र की कला

विशाल पिरामिड इस सत्य के साक्षी हैं कि मिश्र की कला कितनी टिकाऊ है। एक ही परम्परा (tradition) सर्वदा वर्त्तमान रही है, उसके रूप भले ही कालक्रमानुसार व ज्ञानवृद्धि व अनुभव के अनुसार बदलते रहे हों।

भवन निर्माण कला (Architecture)

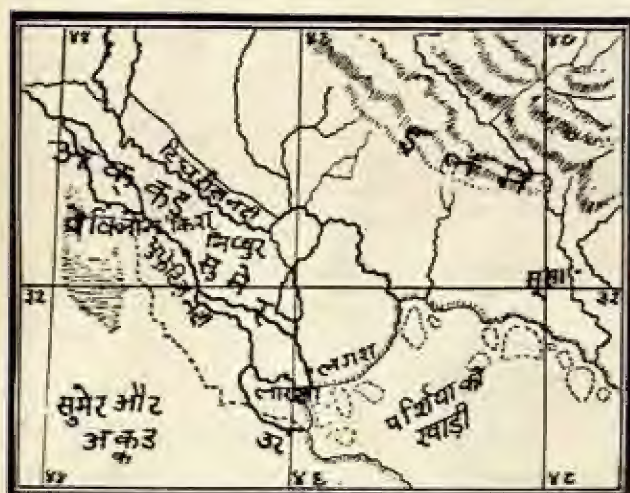
पिरामिड के अलावे मिश्रवासियों ने मकान, झोपड़े, मन्दिरें, कब्रें व महलें बनाईं। पत्थर, मिट्टी, नर, लकड़ी और धूप में सूखी ईंटों का व्यवहार करते थे। पर इस कला के क्षेत्र में संसार को मिश्र की विशिष्ट देन है—चतुर्भुजाकार पत्थर व ईंट की बनी इमारतें और पिरामिड का आकार बनाने का आविष्कार। बादशाह खुफू के लिए बना गीझ़ा का विशाल पिरामिड जगत् प्रसिद्ध है। पिरामिड मिश्र की सबसे स्थूल विशेषता है, और संसार के अद्भुत वस्तुओं में एक। पत्थर काटने की कारीगरी की आशातीत उन्नति हुई। विशाल पत्थरों को यन्त्रद्वारा ढोया जाता था। यन्त्र-विद्या का विकास श्लाघ्य है। पिरामिड की खूबियाँ हैं उसकी सरलता (Simplicity), ठोसपन और चिरस्थिरता। पिरामिड-युग के बाद, सरदारों ने कब्र और मन्दिर बनाना शुरू किया। बारहवां राजवंश के समय में इस कला का अभूतपूर्व विकास हुआ। चट्टान काट कर बड़े २

चित्र ६



ग्रेट स्फीन्क्स

(पृ० ३७)



(Facing Page 54)

कब्रस्तान बनाए गये, बड़े२ मन्दिरों का निर्माण हुआ। मन्दिर, कब्र व राजमहल के बनाने में स्तम्भों का प्रयोग होने लगा। इन इमारतों में बहुत खर्च किया गया, और वे उस समय के ऐश्वर्य का जीता-जागता उदाहरण हैं। कारनक का मन्दिर दो हजार वर्ष में पूरा हुआ, और एक चौथाई मील तक फैला है।

शिल्पकला

इस कला का प्रारम्भ मिट्टी के बने मनुष्य व जानवरों की मूर्तियों से शुरू हुआ। लकड़ी पर नक्काशी के बाद ही पत्थरों की मूर्तियां बनने लगी होंगी। प्रथम वंश के समय का अलबेस्टर का बना हुआ लंगूर और ग्रेनाइट का बना सिंह मिला है। ये सरल पर यथार्थ शिल्पकला के साक्षी हैं। मूर्तिकला मिस्र की विशेषता है। इसका उद्गम का स्रोत धार्मिक था। इन्हें यह विश्वास था कि दूसरी दुनियां के जीवन के लिए आत्मा को शरीर की आवश्यकता थी। इस धारणा से प्रेरित होकर चतुर्थवंश के समय के बाद से कलाकारों ने चेहरे को चित्रित करने में काफी प्रयत्न किया और अवर्णनीय सफलता प्राप्त की। मूर्तिकला का ज्वलन्त उदाहरण ग्रेट-स्फीन्क्स है (Great Sphinx)। इससे बड़ी मूर्ति अभीतक नहीं बनी है। इसमें सिर मनुष्य का है और शरीर जानवर का। यह १६० फीट लम्बा है और ७० फीट ऊंचा; माथा ३३ फीट लम्बा है, चेहरा १३ फीट से अधिक चौड़ा है। काफ्रे का सिर और एक लेखक की मूर्ति से यह पता चलता है कि कलाकारों ने अपनी कृति में शरीर व मन दोनों का प्रदर्शित करने की चेष्टा की। मिस्र की शिल्पकला के और भी उदाहरण हैं; जैसे सुन्दर स्तम्भ, बड़े २ कमरे (hall), राजाओं की अतिसुन्दर पत्थरों की विशाल मूर्त्तियां।

दीवालों पर चित्रकारी बड़ी ही लोकप्रिय थी। कब्रों व मन्दिरों की दीवालों पर चित्र रंगे व खोदे जाते थे। पशु, पक्षी, मनुष्य, युद्ध-दृश्य, धार्मिक रस्मों के चित्र दीवालों पर पाए जाते हैं। अन्य कलायें भी काफी विकसित हुई। तावीज, बड़े २ कटोरे व प्याले और आभूषण कड़े पत्थर के सुन्दर आकार के बनाये जाते थे। सोने-चाँदी के आभूषण—अंगूठी, हार, कंगन इत्यादि बहुत ही आकर्षक ढंग के मिले हैं।

विज्ञान

मिश्र वासियों को काल का ज्ञान व समय का पता सूर्य, चन्द्र व तारों की चाल से होता था। काफी प्रमाण है कि हेलियोपोलिस में ४२२६ ईसा पूर्व सूर्यवर्ष पर आधारित एक पंचाग बनाया गया था। ३६५ दिन का एक वर्ष, वर्ष में १२ महीने, और तीस दिन का एक महीना होता था। दिन व रात बारह घंटों का होता था, पर ऋतु के अनुसार इसमें फर्क पड़ता था। धूप व जलघड़ी का प्रयोग किया जाता था। माप के लिए हस्त, अंगुली और फुट का व्यवहार होता था।

गणित का ज्ञान प्रयाप्त था। दस का इकाई से गिना जाता था, जैसे १०, २०, ३० इत्यादि, और प्रत्येक अंक के लिए विशेष चिह्न था। गणित का प्रयोग व्यावहारिक था। रेखागणित का भी ज्ञान था। एक त्रिभुज का क्षेत्र फल आधार (base) और ऊंचाई के गुणनफल का आधा होता है इसका उन्हें पता था।

आयुर्वेद के क्षेत्र में मिश्र के प्राचीन निवासी पश्चिमी दुनियाँ के अग्रणी थे। यहाँ के मन्दिर आयुर्वेद के प्रथम स्कूल थे, और इनके पुरोहित प्रथम चिकित्सक। डाक्टर, सर्जन और ओझा इस पेशा के तीन अंग थे। चिकित्साशास्त्र की ६ पुस्तकें अभी तक वर्त्तमान हैं। इनमें कुछ तो ४००० वर्ष पुरानी हैं। एडविन-स्मीथ-पैपिरस शल्य-शास्त्र या जर्राही का प्रथम ग्रन्थ है।

सभ्यता की अवनति और इसके कारण

किसी के दिन एक से नहीं रहते। अतिप्राचीन काल से मिश्र सभ्यता के शिखर पर चढ़ता आ रहा था। उसका साम्राज्य एशिया और अफ्रिका में विस्तृत था। उसके नाविक योरप के देशों से तिजारत करते थे। उसके कलाकारों की कृति अद्वितीय हैं, और सभ्यता के विकास में मिश्र ने युगान्तकारी प्रगति की। पर १९वां राजवंश के बाद, १३वीं शताब्दी ईसा से पूर्व के बाद, मिश्र की अवनति शुरू हुई। एशिया में प्रबल असीरिया का उदय हुआ, और असीरिया और मिश्र में एशियामाइनर व फिलस्तीन को अधिकार में रखने के लिए बराबर युद्ध होता रहा। वृद्ध मिश्र युवा असीरिया के आगे नहीं टिक सका, और असीरिया के सारगनवंश के राजाओं के समय में मिश्र पर कई आक्रमण हुए, और उसका बड़ा हिस्सा असीरियन साम्राज्य में चला गया। असीरिया की अवनति के बाद मिश्र में पुनर्जीवन की लहर दौड़ी, पर वह प्रगतिशील न होकर, अपने पुराने स्वर्णयुग की झूठी नकल करने में ही मिट गई। इस समय, सातवीं व षष्ठीशताब्दी ईसा से पूर्व, दुनियां के कई सभ्य क्षेत्रों में, भारत में, चीन में, ईरान में, बेबिलोन में, एशिया माइनर व यूनान में महान् धार्मिक व सामाजिक सुधार-आन्दोलन चल रहे थे, और एक क्रियात्मक शक्ति जन-साधारण को नयी सभ्यता व नया समाज को संगठन करने में प्रेरित कर रही थी। मिश्र भी इस लहर से अछूता न रहा। पर वहां अभाग्यवश यह लहर नवजीवन का संचार नहीं कर सकी। पुराने ऐश्वर्य की नींव पर नया और स्वस्थ समाज बनाने की कोशिश नहीं की गई। शक्ति का दुरुपयोग पुरानी वस्तुओं को फिर से बनाने में, गड़े मुर्दे उखाड़ने में किया गया। १५ वीं व १६ वीं सदी ईसा से पूर्व मिश्र का साज, जामा-जोड़ा १००० वर्ष बाद के मिश्र को पहनाने की हास्यास्पद चेष्टा की गई। यह कोशिश इतनी ही लज्जास्पद थी जितनी एक बुढ़ी

औरत का अपने गाल, और ओठ को गुलाबी रंग से रंग कर जवान बनने की कोशिश। कोई भी सभ्यता, जब आगे न बढ़कर पीछे की ओर चलने की गलत चेष्टा करती है, तब यह समझना चाहिए कि उसमें प्राणवायु का अभाव है। इसलिए मिश्र की अवनति होती गई। इरानियनों ने इस पर अधिकार जमाया, और फिर यूनानियों का सिक्का जम गया। प्राचीन मिश्र के इतिहास का अन्त हो गया, और अब वह योरप के इतिहास का एक अंग बन गया।

इस अवनति का क्या कारण था? मिश्र की उन्नति उस समय हुई थी जब कि दक्षिण पश्चिम एशिया में कोई बड़ी ताकत नहीं थी। अट्ठारहवें राज-वंश के समय में मिश्र ने साम्राज्यवादी नीति अपनाई, और लगातार युद्ध में संलग्न रहा। इस नीति का फल था धन की वृद्धि, और इस धन का ही नतीजा था कला की सर्वतोन्मुखी उन्नति। पर इसका नतीजा बुरा भी हुआ। युद्धलिप्सा के कारण सैनिकों का प्रभाव बढ़ गया। उन्हें वेतन व और बहुत सी सुविधाएं दी गईं। सैनिक वर्ग एक शक्तिशाली समूह बन गया और राजा उनपर निर्भर करने लगा। सैनिकों की आवश्यकता इतनी बढ़ी कि विदेशी वेतनभोगी भी सेना में भर्ती हो गये। विदेशियों पर इस तरह आश्रित होना बड़ा ही हानिकारक सिद्ध हुआ। सेना का राष्ट्रीयरूप न रहा और विदेशी सिपाही मिश्र की सभ्यता व परम्परा का ख्याल न कर सके। विदेशी प्रभाव अत्याधिक पड़ा, और मिश्र की प्रगतिशील सभ्यता कुंठित हो गई, विदेशी बोझ से दब गई। जब कोई भी संस्कृति प्रगतिशील नहीं रहती, तो उसका अन्त समीप होता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का यह नतीजा हुआ कि मिश्र के राजवंश में भी विदेशी खून आ गया, और इस प्रकार राजा भी राष्ट्रीय संस्कृति का पक्का रक्षक न रह सका।

अखनातन की धार्मिक-क्रान्ति भी मिश्र की अवनति में सहायक सिद्ध हुई। मिश्रवासी अनेक देवी-देवताओं में विश्वास करते थे। एमोन सबसे बड़े देवता थे। एमोन (Amon) सूर्य का रूप था। अखनातन ने एकेश्वर-वाद चलाया। मूर्ति पूजा का विरोध किया। मन्दिरों को तोड़ा, और सबों को बाध्य किया कि वे सर्वशक्ति-शाली एटन (Aton) की पूजा करें। एटन (Aton) सूर्य नहीं, वरन् सूर्य के पीछे छिपी हुई शक्ति का रूप है, और यही शक्ति सारे विश्व में व्याप्त है। इस वैज्ञानिक बुद्धिवादी धर्म को समझना मिश्रवासियों के लिए मुश्किल था। स्वार्थी पुरोहितों के द्वारा उभाड़े जाने पर उन्होंने राजा का विरोध किया, और एटन धर्म का अन्त हुआ। इस विद्रोह का फल था एशिया में गड़बड़ी और मिश्र का साम्राज्य का पतन। अखटाटन नगर के पुराने खण्डहरों की खुदाई में कई महत्वपूर्ण पत्र विदेशी राजों के मिले हैं। इन्हे टेल-एल-अमरना लेटर्स (Tell-el Amarna letters) कहते हैं। अखनातन के समय की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर ये चिट्ठियाँ काफी प्रकाश डालती हैं। असीरिया, बेबिलोनिया, मितनी के बादशाह अखनातन से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखते थे, और इन चिट्ठियों में मिश्र का सोना की माग की गई है। इन चिट्ठियों से यह भी पता चलता है कि इन देशों में व्यापार भी खूब चलता था। आर्य मितानियों से तो अखनातन के परिवार से वैवाहिक सम्बन्ध भी था। इसलिए अखनातन के समय में विदेशी प्रभाव मिश्र पर काफी पड़ा और यह रूढ़िवादी व स्वार्थी मिश्रवासियों को बहुत खलता था। अमरना की चिट्ठियों से यह भी मालूम होता है कि उस समय दक्षिण-पश्चिम एशिया एक संकटकाल से गुजर रहा था और कई शक्तियाँ-हिटाइट, (हित्ती) मित्तनी, असीरिया, इत्यादि सार्वभौम सत्ता संघर्ष करने पर आतुर थे। ऐसे समय में मिश्र को थोथमस तृतीय के ऐसा वीर सेनानी की जरूरत थी, जो कि साम्राज्य की रक्षा

कर सकता। पर इस समय मिश्र में धार्मिक, क्रान्तिकारी व दार्शनिक चिन्तक अखनातन राज कर रहा था। जब एशिया से मिश्र के दोस्त व सैनिक अफसर मदद के लिए सन्देश भेजते (ऐसे कुछ सन्देश-पत्र मिले हैं), तो उनकी अवहेलना की जाती और मिश्र का धन व शक्ति का उपयोग एटन धर्म को फैलाने में और गृहविद्रोह दबाने में किया गया। ऐसी स्थिति में एशिया का साम्राज्य का हाथ से निकल जाना स्वाभाविक था। सम्राज्य के अन्त के साथ ही मिश्र के सुनहले दिन बीत गए। उन्नीसवीं राजवंश के राजा रैमसिस द्वितीय ने साम्राज्य को पुनः स्थापित करने की कोशिश की, पर अन्त में यह कोशिश बेकार सिद्ध हुई। लोगों की युद्ध से रुचि हट गई। इसलिए राजा को विदेशी सैनिकों की भर्ती करनी पड़ी। थिबिस् के मन्दिरों की दीवालों पर हम विदेशी सैनिकों के चित्र पाते हैं। उत्तरी भूमध्यसागर के ये विदेशी मिश्र पर आक्रमण करने लगे, और बहुत से मिश्र की सेना में भर्ती हो गए। मिश्र की अवनति में उत्तर भूमध्यसागर तटवर्ती इन विदेशियों का बहुत बड़ा हाथ है।

चतुर्थ अध्याय

नागरिक सभ्यता का विकास

नव प्रस्तर युग में अन्न उपजानेवालों ने धीरे २ सारे संसार में ग्रामिक सभ्यता फैलाई। इस काल में आबादी खूब बढ़ी, पर बढ़ती आबादी के लिए और भी उपजाऊ जमीन की आवश्यकता पड़ी, जिससे अन्न की कमी न हो। इस कारण कृषियोग्य जमीन के लिए कृषक जातियों में होड़ होने लगी। पहले तो जंगली जातियों पर विजय प्राप्त कर उपजाऊ जमीन की वृद्धि की गई। पर इतने से ही काम न चल सका। प्रत्येक ग्राम, परिवार को अपनी बढ़ती जनसंख्या के लिए अपनी अपनी शाखाएं बनानी पड़ती। आसानी से सभी जातियों को जितनी जमीन की जरूरत थी, न भी मिलती, इसलिए आपस में लड़ाई भी होती। आर्थिक दबाव का परिणाम हुआ भीषण युद्ध का आरम्भ। यह सिलसिला अभी तक चल रहा है। प्रत्येक कृषकजाति को अपनी सुरक्षा और बढ़ती आबादी का पोषण करने के लिए युद्ध का सहारा लेना पड़ता। नवप्रस्तर युग की आर्थिक व्यवस्था में यह एक बड़ा व्याघात (Contradiction) था, और इस समय के उपकरणों में पत्थर के युद्धोपकारी कुल्हाड़ी और चकमक के बने छुरे (Flint daggers) प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। मनुष्य का मनुष्य शत्रु होना इसी युग से आरम्भ होता है। बाल्कन, यूनान, अनातोलिया, सिरिया व इरान के प्राचीन मनुष्यों के क्रमबद्ध निवासस्थानों की खुदाई से यह मालूम होता है कि इस युग में एक सांस्कृतिक परम्परा पर दूसरी परम्परा स्थापित होती रही; अर्थात् एक जाति पर दूसरी जाति विजय करती रही। इस प्रकार जब कि एक ओर नव-प्रस्तर-युग में जनसंख्या की वृद्धि होती रही, दूसरी ओर उसके संहार की राह भी खुल

गई। नव-प्रस्तर-युग का यह विरोधाभास नागरिक-सभ्यता के विकास से ही नियन्त्रित हो सका।

दूसरी समस्या थी आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक ग्राम व जाति का स्वावलम्बी होना, व आत्मयथेष्ठता की नीति अपनाना। नव-प्रस्तर-युग में प्रत्येक परिवार अपने लिए पर्याप्त अन्न उपजा लेता था, कपड़े बुन लेता था, और अपनी रक्षा का प्रबन्ध करता था। यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं चल सकी। इसमें काफी असुविधा का सामना करना पड़ता। कालक्रम के अनुसार एक परिवार सुविधा के लिए दूसरे परिवार पर कुछ विशेष काम के लिए निर्भर करने लगा। एक परिवार अन्न उपजाता, तो दूसरा परिवार कपड़े बुनने में ही काफी समय लगाता, और तीसरा औजार व हथियार बनाने में मस्त रहता। इस तरह परिवार नहीं; वरन् ग्राम अब आत्मयथेष्ठता का सिद्धांत का प्रतीक बना। पर इस आत्मयथेष्ठता (Self-Sufficiency) के सिद्धांत की विफलता एक दूसरे रूप में और भी स्पष्ट हो गयी। कृषक भविष्य के लिए मेहनत कर व अधिक खेत जोत कर कुछ अधिक अन्न उपजा सकते थे। पर यदि बाढ़, अनावृष्टि, तूफान पाला का प्रकोप हुआ तब पशु व अनाज का नाश हो जाता था, और कृषकों की मेहनत बेकार हो जाती, और जीवन का साधन ही न रहता। इस विपत्ति से भी छुटकारा पाना, सभ्यता के विकास के लिए आवश्यक था, और नागरिक सभ्यता (Urban Civilisation) की उत्पत्ति ही इस समस्या का समाधान सिद्ध हुई। इस नयी सभ्यता का आधार था कृषकों को अपनी जरूरत से अधिक अन्न उपजाना, और इस अतिरिक्त अन्न से उन नये आर्थिक वर्गों का पोषण करना जो कि स्वयं अन्न नहीं उपजाते थे पर समाज का हित दूसरी तरह से करते थे। अतिरिक्त अन्न की उपज ही सभ्यता के विकास की कुंजी है। अन्न उपजाने की परेशानी से मुक्त होकर कारीगर, शिल्पीकार, वैज्ञानिक, साहित्यिक और सैनिक सभ्यता

के विभिन्न अंगों की उन्नति कर सके, और संस्कृति बहुमुखी हो सकी।

इस क्रान्ति का रंगमंच परिमित था। एक भौगोलिक क्षेत्र में संकुचित था। पश्चिम में भूमध्यसागर व सहारा की मरुभूमि, पूर्व में हिमालय व थार-मरुभूमि, उत्तर में यूरेशिया के पहाड़ों, और दक्षिण में उत्तर अयनवृत्त (Tropic of Cancer) से घिरा हुआ क्षेत्र नागरिक-सभ्यता का क्रीड़ास्थल रहा। भूतल का इस भाग की जलवायु और प्राकृतिक भूगोल नागरिक-सभ्यता के विकास में बहुत हित-कारी सिद्ध हुये। कच्चा माल खोजने से यहाँ काफी मिलता और बड़े पैमाने पर सहयोग करने से प्रचुर लाभ की आशा मनुष्य को प्रेरित करती रही। इस क्षेत्र में नदियों और समतल भूमि ने यातायात को आसान कर दिया और इसलिए एक क्षेत्र के अनुभव दूसरे क्षेत्रों में आसानी से पहुँच सके। इस तरह मनुष्य के सारे अनुभवों को एक दिशा में संचय कर सभ्यता का विकास द्रुतगति से हो सका। यह सभ्यता स्थानीय न रह कर अन्तर्राष्ट्रीय हो गई, क्योंकि पूरे क्षेत्र में यही सभ्यता व्याप्त रही।

नागरिक सभ्यता के मूलतत्त्व

अन्न उपजानेवाली व अन्न पर निर्भर करनेवाली जातियों के स्थाई निवासस्थान नदी किनारे या बारहमासी झरने के किनारे ही हो सकते थे। कृषि सिंचाई पर बहुत आश्रित है, इसलिए जहाँ पानी की दिक्कत न हो वहीं यह सभ्यता पनप सकती थी। इस क्षेत्र में अन्न के अलावे कई तरह के भोज्य-पदार्थ जैसे खजूर, अंगूर, अंजीर प्रतिवर्ष मिल जाते थे। इस कारण लोग उन स्थानों में स्थायी रूप से टिक जाते थे।

कृषि की सिंचाई के लिए नहरों व आहरों की खुदाई की आवश्यकता थी। यह एक व्यक्ति व परिवार की शक्ति से परे था। इस कार्य

के सम्पादन में सामूहिक शक्ति की जरूरत पड़ी, और व्यक्ति को सामाजिक दृष्टिकोण रखना पड़ा। ऐसे वृहत् कार्य के लिए संचालन शक्ति जरूरी है, और इसलिए सामाजिक संगठन की आवश्यकता महसूस होने लगी। यहीं से 'राज' नामक संस्था का विकास द्रुतगति से हुआ। राजा व सरदार समाज का नेतृत्व करता, और नहरें खुदवाने की जवाबदेही लेता। प्रत्येक मनुष्य से इस सामाजिक-कार्य में सहायता लेना राजा का काम था, पर जो व्यक्ति इसमें सहयोग नहीं करते, समाज उन्हें बहिष्कृत कर देता, और नहरें व आहरों का व्यवहार वे नहीं कर सकते। यह बड़ा भीषण दण्ड था। पर समाज के हित के लिए, समाज विरोधी शक्तियों के लिए, यह व्यवधान जरूरी था, और दण्ड देने का काम भी समाज ने राजा को सौंपा।

हम आगे बता चुके हैं कि आत्मरक्षा नवप्रस्तर युग की जातियों के लिए एक समस्या हो गई थी। कृषि योग्य जमीन की खोज में एक जाति दूसरी जाति से उलझ जाती, और युद्ध की आशंका प्रत्येक जाति को बनी रही। इसलिए प्रत्येक जाति को दूसरी जाति के आक्रमण से रक्षा करने की जरूरत पड़ी, और नागरिक सभ्यता की बुनियाद यहीं पड़ी। जन साधारण सुरक्षित स्थानों में जमा होने लगे, और बाहरी आक्रमण से बचने के लिए किलेबन्दी व मजबूत चहारदिवारी बनाने की आवश्यकता हुई, और इस महान् कार्य को भी राजा व सरदार के जिम्मे छोड़ा गया। खेतों के बीच असुरक्षित ग्रामों के स्थान में अब राजा का विशाल सुरक्षित किला अपने ईर्दगिर्द ग्रामों की रक्षा के लिए उठ खड़ा हुआ। नगर की उत्पत्ति की यही कहानी है, और नगर ही अब सभ्यता का केन्द्र हो गया।

नागरिक सभ्यता के विकास के लिए मनुष्य ने कई क्रान्तिकारी खोज और आविष्कार किया। तांबा व काँसा का धातु शोधन, पशु-

शक्ति का उपयोग, पहियेदार गाड़ी, ईंट और मुहर (Seal) का प्रयोग। मनुष्य की इन क्रान्तिकारी कृतियों ने सभ्यता का विकास सम्भव कर दिया। धातु का प्रयोग ने प्रस्तर युग का अन्त कर दिया। धातुशोधन विद्या से जिस तरह का औजार व हथियार की जरूरत पड़ती बनाया जा सकता। पत्थरों के उपकरणों से ये अधिक मजबूत होते। इनके आकार व परिमाण कारीगर की कुशलता और व्यक्ति व समाज की जरूरत पर निर्भर करता। जितना बड़ा व जैसा चाहें ढाले जा सकते थे। पत्थरों के औजार बनाने में यह सुविधा नहीं थी। पत्थरों के औजार यदि टूट गये तो बेकार हो गए। उन्हें फिर जोड़ा नहीं जा सकता। पर तांबे व कांसे के टूटे औजार को गला कर फिर से ढाला जा सकता। कम खर्च व कम मेहनत में नया रूप दिया जा सकता था। ये उपकरण पत्थरों के उपकरण से अधिक टिकाऊ भी थे।

इन विशेष सुविधाओं व लाभ को व्यवहार में लाने के लिए मनुष्य को कई चीजों का आविष्कार करना पड़ा। अंगीठी, धातु गलाने की घरिया, सड़सी व चिमटा का आविष्कार धातुशोधन क्रिया के निमित्त हुआ। पर धातु-पदार्थों की रसद अपरिमित नहीं है, इसलिए इसी युग में मनुष्य ने यह बड़ी खोज की कि कुछ खनिज पत्थरों को गलाने पर, या उचित मात्रा में उन्हें गर्म करने पर कई प्रकार के धातुतुल्य पदार्थ मिल जाते हैं। रसायनिकशास्त्र में तब से बराबर उन्नति होती रही है। दो या अधिक धातुओं का मिश्रण (Alloy) का भी ज्ञान इस युग में हो गया। इस तरह धातु युग का द्रुतगति से आगमन हुआ और सभ्यता के इतिहास का रुख ही बदल गया।

धातुशोधन (Metallurgy) बड़ी ही कठिन और लम्बी क्रिया है। इसलिए धातु के काम करनेवाले कारीगरों के लिए यह पेशा सारा समय ले लेता है, और वे कारीगर विशेषज्ञ

समझे जाते हैं। अपने इस पेशे के अलावे उनसे कोई काम नहीं होता है, और न समाज लेना चाहता है। पर इनके बनाए हुई चीजों का उपयोग वे अपने घर में नहीं करते है, बल्कि इनकी मांग बाहर से होती है। अब तक मनुष्य वही चीजें पैदा करता था जो उसकी गृहस्थी के लिए जरूरी थी। पर अब वह ऐसी चीजें बनाने लगा जिसे दूसरों को जरूरत थी। इस तरह अपनी बनाई हुई चीजों के खपत के लिए उसे दूसरों पर निर्भर करना पड़ा। पर उसके लिए इन चीजों की खपत जरूरी थी, क्योंकि वह खाने की चीजें नहीं पैदा करता था। इसलिए समाज में अब ऐसे वर्गों की उत्पत्ति हुई जो कि अपने निर्वाह के लिए अपनी बनाई हुई चीजों के ग्राहक—अतिरिक्त अन्न पैदा करने वाले कृषकों पर आश्रित हो गए। ये कृषक भी हथियार व औजार के लिए इन नये वर्गों पर निर्भर करते थे। इस तरह समाज के भिन्न २ वर्गों का एक दूसरे पर आश्रित होना नये समाज का मूल आधार हो गया।

कारीगर अपने माल को परदेश व अपरिचितों में भी बेच सकते थे। आर्थिक लाभ के लिए वे एक जगह से दूसरी जगह, एक देश से दूसरे देश जाकर, अपनी कला का उपयोग चीजें बना कर करने लगे। इस तरह कई क्षेत्रों में एक ही प्रकार की चीजें, एक ही शैली व परम्परा का प्रचार हो गया। इसीलिए इस युग की धातु की बनी चीजें कई दूरस्थित क्षेत्रों में एक तरह की मिली हैं। यातायात की सुविधा के कारण बने माल एक जगह से दूसरी जगह जल्दी पहुँचने लगे, एक ही प्रकार के कारीगर कई जगहों पर चीजें बनाने लगे, और कई जगह दूसरी जगह की बनी चीजों की नकल भी होने लगी। अतः यह सभ्यता विश्वव्यापी बन गई, और विस्तृत क्षेत्रों में बहुत आदान-प्रदान होता रहा।

इस युग की एक प्रमुख खोज है—बैलों के द्वारा खेत जोतना। पहले छोटे २ जमीन के टुकड़े पर औरतें मर्दों के द्वारा खेत जोतती थीं। इस काम में समय बहुत लगता था, और कार्य भी अरुचिकर था। मनुष्य ने जानवरों को पोसना तो पहले ही सीख लिया था, और उनके दूध व मांस उसे मिल जाते थे। पर अब अपने कंधे की मेहनत को उनके कंधों पर डाल देना भी जान लिया। पहले-पहल एक जोड़े बैल से खेत जोतना बड़ा ही युगान्तकारी घटना समझी गई होगी। बैलों का यह उपयोग की तह में हल, जुआ इत्यादि का आविष्कार है। ३००० वर्ष ईसा से पूर्व ही भारत, मिस्र और मेसोपोटेमिया में हल का व्यवहार होता था। अब कुदाली व फावड़े (hoe) से खेती नहीं होती थी। सब जगह हल-बैल का ही व्यवहार होने लगा। इसका फल यह हुआ कि खेती अब छोटे-छोटे टोपरों में न होकर विस्तृत खेत में होने लगी। अब खेत जोता जाने लगा, क्योंकि बैल मनुष्य से अधिक मेहनत कर सकता था, और हल फावड़ा से अधिक तेज काम करता था। जब खेतों में हल चलने लगा, तब इस कठिन काम से स्त्रियों को छुट्टी मिली, और घर गृहस्थी के काम में उनका एकाधिकार हो गया। समाज में उनका विशिष्ट आदर मिलने लगा, पर अन्न उपजाने पर जो उनका एकमात्र अधिकार था उनसे वे वंचित हो गई, और इस कारण उनके अधिकार में भी फर्क आ गया। उनकी आर्थिक महत्ता और स्वतंत्रता का ह्रास होता गया।

बैल जोतकर खेत जोतना एक महत्वपूर्ण खोज है, क्योंकि मनुष्य ने अब पशुबल का उपयोग अपनी भलाई के लिए जान लिया। अभीतक वह अपनी शारीरिक शक्ति पर ही निर्भर करता था, पर अब वह दूसरी शक्ति का प्रयोग करना सीख लिया। पशुबल का व्यवहार भाप से चलनेवाली, इंजिन बिजली

से चलनेवाले यन्त्र, पेट्रोल से चलनेवाली मोटर का व्यवहार का पहला कदम है।

नयी प्रेरकशक्ति (motive power) का व्यवहार कृषिकार्य के अलावे और भी दूसरी दिशा में होने लगा। अभी तक बोझा ढोने का काम मनुष्यों का, विशेषकर स्त्रियों का था। पर अब कुछ जानवरों के जैसे गदहे, खच्चर, बैल, ऊंट के कंधे इसके लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हुये, और बोझा ढोने का काम इन जानवरों से लिया जाने लगा। कुछ ही दिन बाद 'पहिये' का आविष्कार हो गया और बैलों व खच्चरों से जुती हुई पहियेदार गाड़ी ने यातायात के साधनों में क्रान्ति पैदा कर दी। आना-जाना, बोझा ढोना अब बहुत सुलभ हो गया। दूरस्थित सांस्कृतिक केन्द्रों में लेन-देन बहुत आसान हो गया और बढ़ गया। सभ्यता अन्तर्राष्ट्रीय हो गई। बैल गाड़ी का प्रयोग ईसा से ३००० वर्ष पूर्व मेसोपोटेमिया, उत्तरी सिरिया, और भारत में होता था, इसके ठोस प्रमाण हैं। खच्चर व भुटिया घोड़े (Asiatic horse) को भी दो पहिये की गाड़ी में जोता जाने लगा।

अतः ईसा पूर्व चतुर्थ-हजार-शताब्दि के अन्त में बैल, घोड़े व गदहों, व दो पहिये वाली गाड़ी का व्यवहार के कारण स्थल यातायात आसान हो गया, और स्थल मार्ग से दूरस्थित संस्कृतियाँ एक दूसरे के निकट आ गईं। व्यापार व यात्रा ने दूसरे २ देशों की कला, यन्त्रशैली, और विचारों को मिला दिया, जिसका फल हुआ संस्कृतियों में समन्वय, सभ्यता की उन्नति और उसका अन्तर्राष्ट्रीय रूप का विकास पर एक देश से दूसरे देश में जाने का मार्ग सिर्फ स्थल मार्ग ही नहीं था। मनुष्य ने जलमार्ग को भी अपनाया। प्राचीन प्रस्तरयुग के शिकारी मनुष्य ने भी नदियों में लट्ठों के बेड़े, या डोंगी का व्यवहार किया होगा। ईसा से ३००० वर्ष पूर्व भूमध्यसागर क्षेत्र में पालवाले नाव का इस्तमाल होता था। शायद इस तरह के नाव का पशिया की खाड़ी (Persian Gulf) में आविष्कार हुआ। इस

आविष्कार से मनुष्य ने पहले पहल अप्राणी शक्ति या निर्जीव शक्ति (Inorganic force) के द्वारा प्रेरक शक्ति का उपयोग किया। ये भद्दे नाव उन्नीसवीं सदी तक चालू रहे।

नावों व गाड़ियों के द्वारा आवागमन में बड़ी क्रान्ति हुई। नये २ कारीगर व पेशेवाले उठ खड़े हुए। नाव बनाना, गाड़ी बनाना बढ़ई का काम था, और काफी कौशल की जरूरत थी। बढ़ई एक विशेषज्ञ था। इसी तरह कुम्हार की चक्की का आविष्कार ने बर्तन बनाना एक कौशलपूर्ण कला बना दिया। चलती हुई चक्की पर मिट्टी का लोंदा रख कर हाथ से सुन्दर आकार के बर्तन बना देना मामूली बात नहीं थी। जो काम हाथ के द्वारा बहुत दिनों में होता, वह अब चक्की पर कुछ घण्टों में ही जाता। और बर्तन भी पूर्ण सुडौल निकलता। पर इसके बनाने में अब इतनी हस्तकौशल व दक्षता की जरूरत होती, कि नवशिक्ष को बहुत दिनों तक गुरु का शिष्य बनना पड़ता। अपनी चीजें व चक्की लेकर कुम्हार आसानी से एक जगह से दूसरी जगह जाकर बर्तन बनाता, और इसीलिए इस युग के बर्तन दूर २ देशों में एक से लगते हैं। बर्तन बनाने की कला अतिशीघ्र ही सारे विश्व की पूंजी हो गई, और एक ही शैली (technique) दूसरे २ देशों में पाई गई है।

इस स्थान पर एक मनोरंजक पहलू का उल्लेख करना असंगत न होगा। नवप्रस्तरयुग के आविष्कार अधिकतर स्त्रियों ने किया था, पर इस युग में मर्दों ने ही नये २ आविष्कार किये और सभ्यता के विभिन्न पहलू पर उनका ही आधिपत्य रहा। तभी से यह क्रम चला आ रहा है। नारियों को कई कठिन व आवश्यक कामों—जैसे कुदाली चलाना, बोझा ढोना, बर्तन बनाना—से मुक्ति देकर मर्दों ने मातृ अधिकार के आर्थिक आधार का जड़ खोद दिया।

धातुशोधन (Metallurgy) व धातु का व्यवहार, पहिया, बैलगाड़ी, चक्का व पालवाले नाव के आविष्कार ने एक नई

आर्थिक व्यवस्था को जन्म दिया। यह नई आर्थिक व्यवस्था का संगठन नागरिक सभ्यता में हुआ। नागरिक सभ्यता का विकास और पूर्ण उन्नति नदियों की उपजाऊ घाटी में सुलभ हुई। यहाँ का वातावरण व प्राकृतिक साधनों का समुचित फायदा उठाने पर काफी प्रतिफल मिलता था। इसीलिए नागरिक सभ्यता का पूर्ण विकास सिंधु नदी की घाटी, नील नदी की घाटी और टिगरिस-यूफ्रेटिस् नदी की दोआब में, जिसे मेसोपोटामिया कहते हैं, हुआ।

पंचम अध्याय

मेसोपोटेमिया की सभ्यता

मेसोपोटेमिया-टीगरीस और यूफ्रेटीस् नदियों के मध्यस्थित प्रदेश को कहते हैं। प्राचीनकाल में मेसोपोटेमिया के दो प्रमुख भाग थे—उत्तर में असिरिया और दक्षिण में बेबिलोनिया। बेबिलोनिया के दक्षिण भाग को सुमेर (Sumer) था, और उसके निवासी सुमेरियन कहाते थे।

नागरिक सभ्यता की उत्पत्ति व उसका विकास का सिलसिलेवार पता हमें मेसोपोटेमिया के प्राचीन खंडहरों व टीलों की खुदाई से मिलता है। यहाँ पुराने शहरों की खुदाई से यह पता चलता है कि किस तरह नवप्रस्तर युग के बाद धातु युग आया, और ग्रामीण सभ्यता ने नागरिक सभ्यता को स्थान दिया।

शहर बसाने के पहले मनुष्यों को काफी अन्न, पानी और मकान बनाने के साधन रहने चाहियें। यूफेटिस-टिग्रिस के बीच के प्रदेश में इन सब चीजों का बाहुल्य था। वर्षा कम होती थी। इसीलिए सिंचाई के लिए नहरें बनाना जरूरी था, और इस काम में जनसाधारण का सहयोग व एक संचालनशक्ति की आवश्यकता थी। धूप खूब होती थी, इसलिए धूप में सूखे ईंटों का मकान बनाने में आसानी थी। जमीन उपजाऊ थी, और मछली, जंगली मुर्गी व सूअर खूब मिल जाते थे। खजूर बहुत पैदा होता था, और भोजन का एक अंश था। उपजाऊ भूमि व सिंचाई की सुन्दर योजना के कारण अतिरिक्त अन्न पैदा हो सकता था, और यही नागरिक सभ्यता का विकास का आधार था।

प्राचीन सुमेर की सभ्यता

यहाँ के सबसे प्राचीन निवासी, जिन्होंने शहरों की स्थापना, की, सुमेरिअन थे। ये कौन थे और कहाँ के रहने वाले थे, इसका ठीक पता नहीं चलता। प्रोफेसर हाल साहब का मत यह है कि ये लोग हिन्दुस्तान से आये, और द्राविड़ जाति के थे। मोहन्जेदाड़ो व हरप्पा में पाई हुई बहुत सी चीजें सुमेर की हैं, और कुछ पर सुमेरिअन सभ्यता का प्रत्यक्ष प्रभाव है। सिंधु तटकी सभ्यता ने सुमेरिअन सभ्यता को प्रभावित किया था इसका भी ठोस प्रमाण है। सुमेरिअनों ने शहरें बसाईं जिनमें निपुर (Nippur), उर (Ur) प्रमुख हैं। ये लोग लिखना भी जानते थे। गीली मिट्टी पर नरकट (Reed) की कलम से चिह्न बनाते थे, जो कि सूख कर बहुत कड़ी हो जाती। इनकी पहली लिपि चित्रसंकेत सम्बन्धी थी, पर कुछ दिनों बाद स्वर प्रयायवाची हो गई। सुमेर-लिपि में ३५० चिह्न थे, प्रत्येक चिह्न से एक स्लेबल (Syllable) समझा जाता था। सुमेर-लिपि में वर्णमाला (Alphabet) का सर्वथा अभाव था। इस लिपि का आकार पच्चड़ (Wedge) का था, इसलिए इसे Cuneiform (Wedge) लिपि कहते हैं।

इनके नगरों में आपस में लड़ाई होती रहती, और कभी एक, और कभी दूसरा अपना आधिपत्य स्थापित करता। प्रत्येक नगर का एक विशेष देवता होता, और युद्ध में विजय या पराजय उसी देवता की हार या जीत समझी जाती। प्रत्येक शहर में राजा और उसके सामन्त थे। कारीगरों, शिल्पकारों व सरकारी दफ्तरों में काम करनेवालों का मध्यमवर्ग था। पुरोहितों व पुजारियों का संगठन बहुत मजबूत था और प्रभावशाली था, क्योंकि उस समय मनुष्य बहुत धर्मभिरु था, और पुरोहित ही मन्दिरों की देखरेख करता था, ईश्वर की इच्छा को समझ सकता था। सुमेरिअन लोग देवता के लिए ऊँचे-ऊँचे मन्दिर बनाते थे

जिन्हें चबूतरेदार मीनार (Terraced Tower, Ziggurat) कहा जाता है। शायद बेबिलोन की मीनार ही यहूदियों की बेबल की मीनार की कहानी का स्रोत है। इस समय की शिल्पकारी मिश्र की शिल्पकारी की तुलना नहीं कर सकती पर धातु के बने कुछ बर्तन व गुलदस्ते बड़े ही सुन्दर हैं। प्रत्येक महीने का आरम्भ नया चाँद से होता था, और बारह महीने का एक वर्ष होता था। पर ऐसे बारह महीने एक वर्ष से कम होते हैं, और सुमेरवासी पीछे से एक महीना जोड़ने लगे। इसी पंचाग को यहूदियों व मुसलमानों ने अपनाया। प्रत्येक वर्ष का नामकरण उस साल की कोई महत्वपूर्ण घटना के उपलक्ष्य में होता था। इस कारण इनके वर्षों के नाम से इतिहास की प्रमुख घटनाओं का पता चल जाता है।

सारगन

सुमेरिअनों का साम्राज्य बहुत दिनों तक नहीं टिक सका। उत्तर बेबिलोनिया में, एक्कड में (Akkad) सारगन (Sargon) नामक महापुरुष पैदा हुआ और उसने पूरे सुमेर प्रांत को अपने कब्जे में कर लिया। पूर्व में इलम (Elam) की पहाड़ियों से लेकर पश्चिम में भूमध्यसागर तट तक उसका साम्राज्य विस्तृत था। पूर्व देश में शायद यह पहला सबसे बड़ा साम्राज्य था। एक्कडवासी सुमेरिअनों की तुलना में असभ्य थे, पर यदि उन्होंने सुमेरिअनों पर विजय प्राप्त किया तो सुमेरिअन सभ्यता ने उनके हृदय पर। उन्हें सुमेरिअन संस्कृति अपनानी पड़ी और सुमेर-एक्कड साम्राज्य दो सौ वर्ष से अधिक फलता-फूलता रहा। सुमेरिअन व सेमाइट (Semite) जातियों में रक्तमिश्रण हुआ। इस वंश का राजा नरमसिन (Naramsin) ने पूरब में विजय प्राप्त की, और पत्थरों में खुदा नरमसिन के विजय का दृश्य उस समय की मूर्तिकला का आकर्षक नमूना है। इसी युग में एशिया में प्रथम साहित्य की सृष्टि हुई। कई पौराणिक कथाएं लिखी गईं जिनसे

जीवन, मृत्यु व मृत्युपर्यन्त जीवन की समस्याओं पर उस समय का दृष्टिकोण क्या था, पता चलता है। इनमें गिल्गमेश (Gilgamesh) का महाकाव्य (Epic) प्रसिद्ध है। गिल्गमेश महान् योद्धा था, और उसके हौसले बहुत बड़े थे। कई कठिनाइयों के बावजूद उसने अमरत्व का पौधा पा लिया, पर मनुष्य के अभाग्यवश उसके हाथ से छूट कर सदा के लिए विलीन हो गया। पर मानव का यह प्रशंसनीय प्रयास हमें बराबर उत्साह और प्रेरणा देता रहेगा।

हम्मूराबी

सुमेरिअन-एक्कडियन साम्राज्य भी कालक्रम से कमजोर हो गया, और एक नई सेमाइट जाति ने सिरिया से इस देश पर आक्रमण किया, और अमोराइट राजवंश की स्थापना बेबिलोनिया में हुई। इस वंश का छट्ठा राजा-हम्मूराबी था। इसका समय ईसा से १८०० वर्ष पूर्व माना जाता है।

हम्मूराबी ने सारे देश को एक सूत्र में बांधा, और बेबिलोन अपनी राजधानी बनाई। तभी से बेबिलोन संसार प्रसिद्ध हो गया, और सारा देश उसके नाम पर बेबिलोनिया कहलाने लगा। हम्मूराबी प्राचीन राजाओं में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। उसने देश में सिर्फ एकता ही नहीं स्थापित किया, बल्कि ऐसी शांति और संगठन फैलाया कि उस समय की दुनिया आश्चर्य में डूब गई।

उसके राज्य के विषय में हम उस समय की चिट्ठियों से जानते हैं। बेबिलोनिया में गिली मिट्टी की टिकरियों पर नरकट की कलम से चिन्ह बनाये जाते, और वे सूखकर खूब कड़ा हो जाते। यह लिपि बहुत काल तक चली। आगे चल कर महत्वपूर्ण संदेश की गुप्तता की रक्षा के लिए बन्द लिफाफे (Envelopes) का भी आविष्कार हुआ। लिखी हुई टिकरियों (Tablets) को दोनों ओर से गिली मिट्टी से बन्द कर दिया जाता और

उस पर मुहर लगा दी जाती। फिर उसे भट्ठी में पका कर जला दिया जाता। इस तरह संदेश की गुप्तता की रक्षा का समुचित प्रबन्ध किया गया। हम्मूराबी के समय की ऐसी कितनी ठिकरियों का पता चला है। इनसे हमें उसके व्यस्त जीवन के विषय में जानकारी होती है, और राजकार्य व राज-शासन का भी ज्ञान होता है। इन चिट्ठियों में हम कभी हम्मूराबी को बाढ़ के प्रकोप को रोकने की आज्ञा देते देखते हैं, कभी वह सरकारी अफसरों को कर वसूल करने में कड़ाई करने का हुकुम दे रहा है, कहीं हम्मूराबी अपराधी अफसरों को दण्ड की धमकी देता है, कभी न्याय कर रहा है इत्यादि इत्यादि। देश की सभी समस्याओं का, प्रत्येक घटनाओं का उसे पता रहता था, और सब कुछ उसके हुकुम से होता था।

हम्मूराबी के समय की सबसे प्रमुख देन है उसकी धर्म-संहिता (Law Code)। हम्मूराबी न्यायप्रिय था, और उचित न्याय के लिए उसने यह जरूरी समझा कि प्रत्येक नागरिक और सरकारी कर्मचारी को कानून का ठीक ज्ञान हो। कई पीढ़ियों से कानून चला आ रहा था। इन सबों को एक स्थान पर यथाक्रम से इकट्ठा करना हम्मूराबी का काम था। हम्मूराबी ने सभी कानूनों को नहीं बनाया, कुछ कानून तो बहुत पहले के थे, कुछ हाल के, और कुछ उसके समय के। इन सबों को विधिपूर्वक एकत्रित कर उसने धर्म-संहिता बनाई, और उसे एक चट्टान पर खुदवाया। इस चट्टान के ऊपर एक दृश्य था, जिसमें हम्मूराबी को सूर्यभगवान धर्म-संहिता दे रहे थे। इस दृश्य का यह आशय था कि कानून की यह पुस्तक हम्मूराबी की बनाई नहीं, वरन् दैवी थी, इसलिए इसका पालन करना मनुष्य के लिए धार्मिक कर्तव्य था। देवता ने राजा को इस काम के लिए स्वयं चुना, अतः राजा की प्रतिष्ठा भी बढ़ी। इस धर्म-संहिता को भगवान् मारडुक (Marduk) के मन्दिर बेबिलोन में प्रतिष्ठान किया गया। भाग्यवश यह

पत्थर अभी तक मौजूद है और संसार की सबसे प्राचीन धर्म-संहिता यही है। इस संहिता से हमें उस समय के सामाजिक और आर्थिक नियम का पता चलता है। न्यायपद्धति, वैयक्तिक अधिकार व नागरिकों के कर्त्तव्य का ज्ञान होता है।

दो प्रकार की जमींन्दारी न्याय संगत थी। पहला तो वह जमीन जो राजा नागरिकों को सैनिक सेवा के लिए देता था; दूसरा वह जमीन जिन पर स्वामी का पूरा अधिकार था, बेच दे, दान दे दे, या रेहन कर दे। सैनिक सेवा के बदले जो जमीन मिलती थी उसे वह अलग नहीं कर सकता था। संसार में वैयक्तिक सम्पत्ति के सिद्धांत का जन्म व विकास सबसे पहले यहीं हुआ।

रैयत, व्यवसायी और मजदूरों के विषय में कई नियम दिये गये हैं। जर्राह की फीस तक तय थी। जमीन को कृषिकार्य के लिए किराए पर देने का किराया निश्चित था।

समाज

गुलामों की आवश्यकता पर यथेष्ठ ध्यान दिया गया था। प्राचीन सभ्यताओं में दास-प्रथा खूब प्रचलित थी। बड़ी २ इमारतों का निर्माण, आहर व नहरों की खुदाई, घरेलू कार्य का सम्पादन, सभी दासों के द्वारा ही किया जाता था। सच पूछा जाय तो प्राचीन सभ्यताओं की अनुपम देन—पिरामिड, जिगुरैट (Ziggurat), विशाल-भवन व मन्दिर दासप्रथा के कारण ही सम्भव हो सके। बेबिलोनिया में गुलामों को पहिचान के लिए दागा जाता था, और उन्हें विशेष प्रकार की पोशाक पहननी पड़ती थी। स्वतन्त्र नागरिकों पर आक्रमण करने पर दासों को कड़ी सजा मिलती थी। महीने में तीन दिन छुट्टी मिलती थी। दास सम्पत्ति अर्जन कर सकते थे, और अपनी स्वतन्त्रता खरीद सकते थे। यदि उनके माता या पिता स्वतन्त्र नागरिक हों, तो वे भी स्वतन्त्र समझे जाते थे। दासता से मुक्ति पाने के और

भी उपाय थे। मालिक को अपने दास की जिन्दगी या मौत पर कोई अधिकार नहीं था।

परिवार में पति और पिता का पूर्ण अधिकार था। ब्याह माँ-बाप तय करते थे, और कानूनी नियमपत्र (Registration) जरूरी था। लड़की को माँ-बाप के यहाँ से दहेज मिलता था, और दामाद अपने श्वसुर को उपहार देता था। यदि एक पत्नी से सन्तान न हो तो पति उसे तलाक दे सकता था, पर तलाक के साथ उसे स्त्रीधन भी देना पड़ता। पति एक स्त्री रहते दूसरी शादी भी कर सकता था। यदि पत्नी भ्रष्टाचरणा निकली तो उसे नदी में फेंक दिया जाता। कर्ज को अदा करने में पति अपनी स्त्री व बच्चों को गिरवी रख सकता था। यदि कर्ज अदा न हो सका तब महाजन कर्जदार की स्त्री व बच्चों को तीन वर्ष तक दास बना लेता था। यदि स्त्री रोगी रही तब भी पति उसे घर से नहीं निकाल सकता था, पर उसे दूसरी शादी करने का अधिकार था।

न्याय

दण्ड विधान (Criminal law) का आधार था, जैसे का तैसा। यदि किसी मनुष्य ने दूसरे की आँखें बर्बाद कर दीं, तो उस अपराधी की आँखें फोड़ दी जातीं, यदि किसी ने दूसरे का दाँत तोड़ दिया तो उसे अपने दाँत से हाथ धोना पड़ता। यदि किसी राज ने मकान बनाने के समय असावधानी की, और मकान गिर जाने से मकान मालिक के लड़के की जान चली गई, तो उस राजमिस्त्री के लड़के की जान ले ली जाती। दण्डविधान का एक लक्षण यह था कि दण्ड देने में वर्ग विशेष का ध्यान रखा जाता। दासों के प्रति अपराध का दण्ड कम होता, पर दासों के द्वारा स्वतन्त्र नागरिकों के अधिकार पर चोट की सजा अधिक होती। यदि किसी मनुष्य ने पुजारी व राजा के

बैल, बकरी या भेंड़ की चोरी की तो उसे तीस गुणा अर्थ दण्ड देना पड़ता, पर यदि वे चीजें साधारण स्वतन्त्र नागरिक की रहीं, तब दस गुणा दण्ड देकर ही पीछा छूट जाता। बलात्कार, चोरी से भगा ले-जाना, व्यभिचार, डकैती, युद्ध में कायरता की सजा थी डूबा कर मारना या शूली पर चढ़ा कर मारना। असत्य अभियोग या जादू व ओझा-डाइन से संबंध रखनेवाले मुकदमों का फैसला कठिन परीक्षा (Trial by Ordeal) से होता था। इस परीक्षा में जल और अग्नि का प्रयोग होता। अभियुक्त को नदी में फेंक दिया जाता, यदि वे डूब जाते तो दोषी, उपलाये रहते तो निर्दोष समझा जाता। नगर के शासकों को डकैती व चोरी से माल की हानि का चुकता करना पड़ता।

मुकदमों की सुनवाई मन्दिरों में होती। पुजारी गवाहों की साक्षी लेते, और राज न्यायाधीश फैसला देते। मौखिक गवाही भी ली जाती पर लिखित साक्षी पर ही जोर दिया जाता। निची कचहरियों से ऊँची कचहरियों में अपील सुनी जाती। राजा सर्वोच्च न्यायालय था और उसका फैसला अन्तिम था। सभी मुकदमों की फाइल संग्रहालय में सुरक्षित रखी जातीं, जिससे कि समय पर काम आवे। फैसलों की नकल भी पार्टियों को मिल सकती थी। बेबिलोन की न्यायपद्धति बहुत अंशों में दकियानुसी थी। पर कुछ अंशों म आधुनिक सिद्धांत भी पाए जाते हैं।

आर्थिक दशा

इस काल में बेबिलोनिया की आर्थिक उन्नति बहुत हुई। अन्न व खजूर की उपज काफी होती थी। ऊन बिनने का व्यवसाय बहुत सफल था। पश्चिमी एशिया में ऊनी कपड़े पहने जाते थे।

व्यापार बहुत बढ़ा-चढ़ा था। स्थायीसेना सीमाओं की रक्षा करती थी, और शान्तिपूर्ण वातावरण में व्यापारियों की दशा

अच्छी रही। बेबिलोनिया के व्यापारी शहर-शहर घूमते पाए जाते
थे। व्यापारियों को अपनी मुहर रहती थी, और कई आंगनों में
कपड़े की गाठों का ढेर पड़ा रहता, और सब पर मिट्टी के मुहर
पर खुदा रहता व्यापारी का नाम। कभी व्यापारी संघ की भी मुहर
मिलती हैं। ये टूटी मुहरें अभी भी बेबिलोनिया के शहरों के कूड़ाकरकट
में पड़ी मिलती हैं। आर्थिक व्यवस्था इतनी विकसित हो चुकी थी
कि व्यापारियों के एजेन्ट क्रय-विक्रय में नगद पैसे न देकर उधार-
पावने का चिट्ठा देते, और प्रत्येक व्यापारी को रोकड़बही व
उधार पावने की बही रखनी पड़ती। कहीं तो बैंक ऐसी संस्था का
भी पता चलता है, जो कि व्यापार का आय-व्यय का प्रबन्ध करता।
बेबिलोनिय में व्यपारीवर्ग का बड़ा प्रभाव था। सबसे धनी और
साधनपूर्ण वर्ग यही था।

पुजारीवर्ग

दूसरा प्रभावशाली वर्ग था पुजारियों का। बड़े विशाल मन्दिरों
की स्थापना में हजारों मजदूरों की आवश्यकता पड़ी होगी।
इनमें कुछ तो इस पुण्यकार्य में स्वेच्छा से हाथ बटाने आए
होंगे, पर बहुतों को तो वेतन या वेतन के रूप में कुछ
मिलता ही होगा। कम से कम जब तक ये लोग काम करते होंगे
तब तक तो इनका पोषण होता ही होगा। उपजाऊ भूमि से उपजाया
हुआ अतिरिक्त अन्न से इनकी भूख मिटाई जाती। मंदिरों पर काफी खर्च
किया जाता था। इससे यह प्रत्यक्ष है कि मंदिरों में धन का संग्रह होता
था, और वहीं से मजदूरों व सेवकों में इस धन का वितरण
होता। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन बेबिलोनिया में
यह विश्वास था कि जमीन का सच्चा मालिक देवता है। पर इन
देवताओं को वास्तविक प्रतिनिधि की आवश्यकता अनिवार्य थी,
इसलिए मंदिरों के साथ-ही-साथ पुरोहित व पादरी की उत्पत्ति हुई।

बेबिलोनिया में बहुत पहले ही पुजारियों ने अपना संगठन कर लिया, और वह संगठन देवता के समान ही सनातन समझा गया। एक पुजारी के मरने बाद उसकी जगह दूसरा ले लेता। ईसा से चार हजार वर्ष पहले ही पुजारियों ने देवता की सम्पत्ति का प्रबन्ध करने का अधिकार ले लिया था, और अतिरिक्त धन का उपयोग करने का हक भी उन्हीं का था। सिद्धांततः नगर की सभी जमीन देवताओं में बंटी थी, सबसे अधिक और महत्वपूर्ण जमीन नगर के प्रमुख देवता की जमींदारी थी। पर वास्तव में इन देवताओं के पुजारी ही इस विशाल सम्पत्ति के मालिक थे।

मन्दिर इस सम्पत्ति का प्रबन्ध व अतिरिक्त धन (Surplus wealth) के उपयोग का कार्यालय था। मन्दिरों में अन्न का गुदाम रहता। कर के रूप में जो अन्न आता वह वहीं जमा रहता। इसी अतिरिक्त अन्न से कारीगरों व मजदूरों का पोषण होता। मंदिरों में भिन्न २ कौशल व कला (Crafts) का कार्यालय था, और कारीगर काम करते। 'बौ' देवी के मन्दिर में २१ नानबाई (Baker, पकाने वाला) रहते थे जिन्हें वेतन के रूप में जव (Barley) मिलता था, और यहीं २७ दासियाँ, ६ दासों के साथ २५ शराब बनाने वाले, भेड़ों से ऊन निकालने के लिए ४० स्त्रियाँ, सूत कातने वाली व बिननेवाली स्त्रियाँ, और कई लोहार, सोनार, कांसार इत्यादि इस मंदिर में रह कर मंदिर के अधिकारियों के लिए काम करते थे। इस तरह मंदिर एक दैवी गृहस्थी का केन्द्र था, जिसके काम भिन्न २ विशेषज्ञों को बाँट दिया गया था। ये विशेषज्ञ अपने लिए अन्न नहीं उपजाते थे, और इसलिए इनका भरन-पोषण अतिरिक्त अन्न से होता था। अतः मंदिरों के द्वारा नहरों का उचित प्रबन्ध करना और अतिरिक्त अन्न उपजाना इस नयी आर्थिक व्यवस्था के लिए जरूरी हो गया। इस नयी आर्थिक व्यवस्था में प्रत्येक परिवार की आत्म यथेष्टता व स्वावलम्बन का

अन्त हो गया, और समाज का एक वर्ग दूसरे वर्ग पर आश्रित हो गया। कारीगर व मजदूर यदि अन्न उपजाने के कष्ट से मुक्त हो गये तो उनकी स्वतन्त्रता भी खो गई। अब उन्हें अपना श्रम-बेचकर पेट पालना होता।

बेबिलोनिया के प्राचीन मंदिर उद्योगों व व्यापार का केन्द्र था। यहाँ से कर्ज भी दिया जाता, और नागरिक अपनी अतिरिक्त पूंजी भी यहीं जमा करते। सूद की व्यवस्था थी। मंदिर आजकल के बैंक का काम करता। कला व आमोद का भी केन्द्र यही था। वादक बाजे बजाते, गायक गाना गाते, नृतक नृत्य करते, और कहानी कहनेवाले कहानी कह कर लोगों का मनोरंजन करते।

राजनीतिक क्षेत्र में भी मंदिरों का बड़ा हाथ रहता। नगर नगर—देवता का क्षेत्र समझा जाता, और नगर का राजा व सरदार उसका लौकिक प्रतिनिधि। देवता के नाम पर ही राजा राज चलाता, और अपने को उसका पुजारी ही समझता। इसलिए पुजारीवर्ग, जो कि दैवी सम्पत्ति का प्रबन्धकर्त्ता था, राजा व शासन पर काफी प्रभाव रखता।

धर्म

सुमेरिअन और बेबिलोनियनों के धार्मिक विश्वास प्राचीन विचारों पर आधारित थे। उन लोगों की यह धारणा थी कि स्वप्न पाताल से प्रेतों के द्वारा लाई हुई दैवी संदेश है। कोई भी प्राकृतिक घटना शकुन व अपशकुन समझी जाती थी।

प्रमुख देवता ६ थे। अनु (Anu) स्वर्ग का देवता, एन्लिल (Enlil) वायु का देवता, इआ (Ea) पृथ्वी का देवता, निन्तुद (Nintud) उपज की देवी, सिन (Sin) चन्द्रदेव, और उतु (utu) सूर्यदेव थे। जब सेमिटिकों का बेबिलोनिया पर आधिपत्य हो गया तब सेमिटिक देवताओं को सुमेरिअन देवताओं

से मिला दिया गया। सुमेरिअन का सूर्यदेव सेमिटिक का सूर्यदेव शमश (Shamash) बन गया। बेबिलोन का सेमिटिक देव मारडूक (Marduk) सर्वश्रेष्ठ देवता माना जाने लगा।

प्रत्येक परिवार के खास देवी-देवता होते थे, और इनकी मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं। परिवार का पिता इन देवताओं का मुख्य पुजारी था। इन देवताओं की पूजा की आज्ञा सिर्फ परिवार के सदस्यों को दी जा सकती थी। प्रत्येक नगर के भी विशेष देवता होते थे, और नगर-देवता के लिए विशाल मंदिरों का निर्माण होता था। नगर-देवता ही नगर का शासक समझा जाता था, इसलिए राजा का मुख्य कर्तव्य था देवता की यथोचित पूजा। पर जब पूरा देश एक सूत्र में बंध गया, तब राष्ट्रीय भावना की उत्पत्ति हुई, और राष्ट्रीय देवताओं की कल्पना की गई। निप्पुर का एन्लिल-धर्म को राष्ट्रीय स्थान मिला। निप्पुर मेसोपोटेमिया का पवित्र नगर था, और उसका नगरदेवता एन्लिल प्रत्येक राजवंश का संरक्षक। सार्वजनिक धर्म था इनन्ना व इश्तार की पूजा। इनन्ना उपज की देवी थी। माँ और दूधपिती सन्तान की मिट्टी की मूर्ति इनन्ना का ही रूप है। मातृदेवी की पूजा प्राचीन काल में सर्वाधिक जनप्रिय थी।

बेबिलोनिया के प्राचीन निवासी भूत-प्रेतों में बहुत विश्वास करते थे, और इनकी बुरी हरकतों से बराबर डरते थे। उनका यह ख्याल था कि ये बुरी प्रेतात्माएं तूफान व महामारी लाती हैं। इसलिए पूजा का असली मतलब था इन बुरे ग्रहों की शान्ति, इनसे मनुष्यों की रक्षा।

पर मनुष्य को दुःख सिर्फ बुरे ग्रहों, भूतों या प्रेतों के कारण ही नहीं होता था। प्राचीन बेबिलोनियनों का यह भी विश्वास था कि मनुष्य के बुरे आचरण भी दुख के कारण होते हैं। 'पाप'

का भाव इनके धर्म में और पकड़ता गया, और ईश्वर से प्रार्थना की जाती थी कि उनके पाप मिट जायें। दुःख से पीड़ित होकर भी मनुष्य धैर्यपूर्वक ईश्वर की पूजा करते रहता क्योंकि उसे विश्वास था कि अन्त में देवता दया करेंगे ही।

देवताओं के आशीर्वाद से सब कुछ मिल सकता था। उन्हीं की कृपा से भविष्यवाणी करने की योग्यता भी मिलती। भविष्यवाणी करने वाला पुरोहित को भविष्यज्ञाता कहा जाता। चतुर पुरोहित यज्ञ में बलि के दिये हुये भेड़ की यकृत या गुर्दे (liver) पर के रहस्य-पूर्ण चिह्नों की व्याख्या कर भविष्य बता सकता था। तारों व ग्रहों की चाल से भी भविष्यवाणी कर सकता था। ये अभ्यास पश्चिम में भी फैल गए, और रोम में यकृत से अर्थ निकालना एक साधारण अभ्यास था।

शिक्षा

पर प्रत्येक साधारण मनुष्य भविष्यवाणी नहीं कर सकता था तारों व ग्रहों की चाल का पता नहीं लगा सकता था। बलिप्रदत्त —भेड़ की यकृत पर के चिह्नों का रहस्योद्घाटन वह नहीं कर सकता था। यह काम विशेषज्ञ ही कर सकते थे, इसलिए शिक्षा की जरूरत पड़ी। राजशासन या धंधों को चलानेवाले क्लर्कों के लिए भी शिक्षा की जरूरत पड़ी। गणित के नियम व अंक लोकसम्मत (Conventional) थे। लोगों ने मान लिया था कि अमुक चिह्न का अमुक अर्थ होगा। अंकों के लिखने की विधि भी मान ली गयी थी। ये नियम व संकेत परम्परा के लिए सुरक्षित रहें, और आनेवाली पीढ़ियों के लिए सुलभ, इसलिए शिक्षालयों की आवश्यकता पड़ी, जहाँ इन नियमों का बचपन में बच्चों को अभ्यास करा दिया जाता। इसलिए अति प्राचीन काल में ही यहाँ पाठशालाएँ खोली गईं। साधारणतः स्कूल मंदिर में होता था, या मंदिर से संबंध रखता था। हम्मूराबी के समय का एक स्कूल का भग्नावशेष

पाया गया है। मिट्टी की पट्टियों पर अभ्यास किए जाते थे, और कुछ अभी भी जमीन पर पड़ी पाई गई है। इनसे हमें यह पता चलता है कि छोटे २ बच्चे किस प्रकार लिखना-पढ़ना सिखना आरम्भ करते थे। मिट्टी की पट्टी और सरो की कलम का व्यवहार होता था। लिखने की कला का कितना आदर था, यह उस समय की मिट्टी की टिकिया पर लिखा हुआ एक मुहावरा से पता चलता है। मुहावरा का आशय यह है—"जो कि टिकियों पर लिखने की कला में श्रेष्ठ होगा वह सूर्य के समान चमकेगा, प्रज्वलित होगा।"

विज्ञान

धन का संचय प्रकृति का ज्ञान की वृद्धि से ही संभव हो सका। प्राचीन बेबिलोनिया-निवासियों ने विज्ञान के कई क्षेत्रों में आशातीत प्रगति किया।

"विज्ञान परिमित प्रमाण व माप से ही आरम्भ होता है," ऐसा एक आधुनिक वैज्ञानिक का मत है। बेबिलोनिया में काल, दूरी, क्षेत्रफल और राशि व अदद (quantity) का माप के प्रथम नियम निकाले गए, और इस आधार पर हम वहाँ के प्राचीन निवासियों को विज्ञान का संस्थापक कह सकते हैं। अन्य नागरिक सभ्यताओं में भी माप के नियम बने, पर बेबिलोनिया के ये नियम सबसे अधिक पूर्ण सन्तोषजनक हैं।

३६० दिनों का एक वर्ष होता था, और वह सूर्यवर्ष पर आधारित था। प्रत्येक मास में ३० दिन होते थे, और चन्द्रमास ही इसका आधार था। चन्द्रमास पर आधारित बारह महीने सूर्यवर्ष से मेल नहीं खाते थे, इसलिए पचांग में अतिरिक्त दिन जब तब जोड़ दिये जाते थे। सप्ताह सात दिनों का होता था, और प्रत्येक दिन का नामकरण ग्रह-देवताओं के नाम पर

किया गया था। सप्ताह का सातवां दिन—सब्बत—आराम करने का दिन था। यह नियम पीछे चलकर यहूदियों ने अपनाया, और आज वस्तुतः सारी दुनिया मानती है। दिन और रात दुगुना बारह घण्टे (याने २४ घण्टे) के होते थे। ६० मिनट का का एक घण्टा, और ६० सेकेण्ड का एक मिनट भी इन्होंने ही पहले पहल सोचा था, कारण यह था कि ६० ही संख्या का मूल आधार था।

गणित

जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया, गणित की आवश्यक प्रगति होती गई। मनुष्य शिकारी अवस्था में था तब लकड़ी पर निशान देकर वह अपने व अपने समूह के शिकारों की गणना कर लेता था। पर अब तो मन्दिरों व जमींदारों के पास इतने अधिक पशु थे कि उनका लेखा लकड़ी पर चिह्नों के द्वारा करना असंगत व अव्यवहारिक हो गया। १ से ९ तक का रूप तो पुराना ही रहा, अर्धवृत्ताकार चिह्न। पर १० के लिए एक नया प्रतीक माना गया। २० के लिए ऐसे ही दो प्रतीक। ६० का चिह्न था एक बड़ा अर्धवृत्त। इस चिह्न से जव की शराब (Beer) नापा जाता, पर यही चिह्न अन्न के तौलने में १०० माना जाता। इस तरह दशमलव और साठवां हिस्सा दोनों अंकविद्या व गणनाविधि का प्रचार था। ईसा से २५०० वर्ष पूर्व सुमेर में सिर्फ साठ के आधार (Sexagesimal) पर ही गणना का व्यवहार होता था। भिन्न अंक (Fraction) बराबर किसी पूर्ण विभाजक संख्या का भाग के रूप में देखा जाता था, जैसे $\frac{5}{6}$ को लिखा जाता $\frac{1}{2}+\frac{1}{3}$। जोड़, व घटाव का ज्ञान था। सवालों का जवाब मिट्टी की पट्टियों पर मिले हैं। ईसा से २००० वर्ष पूर्व बेबिलोनिया के निवासी गुणा करना भली-भाँति जान गये थे। गुणा की तालिकाएं मिट्टी की टिकियों पर लिखी मिली हैं। ज्योमिति विद्या का

भी काफी ज्ञान था। ईसा से चार हजार वर्ष पूर्व की चित्रसंकेत-लिपि (Pictographic Script) में लिखी टिकियों से हमें पता चलता है कि उस समय भी खेतों का क्षेत्रफल लम्बाई × चौड़ाई का गुणनफल समझा जाता था। वृत्त (Circle) की परिधि (Circum ference) और व्यास (diameter) का संबंध (Ratio) जिसे हम पाई (π) कहते हैं, ३ के लगभग समझा जाता था। त्रिभुज का क्षेत्रफल आधार (Base) का आधा और ऊंचाई का गुणनफल ($\frac{1}{2}$ Base × Altitude) था।

गणित व ज्यामिति विद्या में इतनी उन्नति मंदिर के पुरोहितों के ही द्वारा हुई थी। मंदिर की चीजों का लेखा रखना जरूरी था, क्योंकि देवता की सम्पत्ति थी, न कि अमुक पुरोहित की, इसलिए प्रत्येक पुरोहित का यह कर्त्तव्य था कि वह अपने उत्तराधिकारी के लिए सूची तैयार रक्खे। मंदिरों के भवन-निर्माण के लिए खाका (Plan) खींचा जाता, इस प्रयास में ज्यामिति, क्षेत्रमिति (Mensuration), व भवननिर्माण कला की उन्नति होती गई।

ज्योतिष विद्या

तारों व ग्रहों की चाल का भी अध्ययन किया जाता था। समय का शुभाशुभ, फल का ख्याल रखा जाता था। तारों की गति का इतना अच्छा ज्ञान हो गया था कि कृषि-कार्य कब आरम्भ किया जाय जिससे अधिक लाभ होगा ये लोग जान गये थे। इसी आधार पर पर उन्हें यह आशा हो गई थी कि ये लोग भविष्यवाणी कर सकेंगे।

वैद्यक शास्त्र

रोग भूत-प्रेत या बुरेग्रहों का परिणाम समझा जाता था। विशिष्ट रोग विशिष्ट भूत का प्रकोप माना जाता। रोग पहिचान की सबसे

साधारण क्रिया थी शकुन निकालना। भूतप्रेत का अपसरण (ओझाई) प्रत्येक रोग के निदान में व्यवहार में लाया जाता। विशेष पुरोहित भिन्न २ प्रकार की ओझाई करते थे। रोग से बचने के लिए मन्त्रों व जन्तरों का सहारा लिया जाता। कभी २ रोग से मुक्ति पाने के लिए पशुओं की बलि दी जाती।

अभी तक औषधिशास्त्र की कोई प्रति नहीं उपलब्ध हुई है। पर यह प्रत्यक्ष है कि दो प्रकार के वैद्यकशास्त्र रहे होंगे। एक में रोगों का विवरण था, जैसे मानसिकरोग, छूतकी बीमारी, सिर का गंजापन, आँख-कान की बिमारियाँ। रोगों के लक्षण (Pathology) का विस्तृत विवरण दिया जाता था। अंगो व इन्द्रियों के विषय की काफी जानकारी थी। शरीर-शास्त्र (Anatomy) का ज्ञान था। दूसरे प्रकार के शास्त्र में रोग और उनके निदान के उदाहरण दिये गये होंगे।

कला

भवन-निर्माणकला, शिल्पकला, मूर्तिकला और चित्रकला के कोई विशेष उदाहरण हमें नहीं मिलते। शायद सब कुछ बर्बाद हो गया है। हम्मूराबी का शहर नेस्तनाबूद है, और उसके बनाए हुये एक भी भवन का पता नहीं चलता है। दूसरे प्राचीन शहरों के भवन-निर्माण में Arch का व्यवहार हुआ है, यहाँ इसे प्रमुख स्थान मिला, और यहीं से पश्चिम योरप में इसका प्रचार धीरे-धीरे हुआ। शिल्पकला के क्षेत्र में मीनाराकार मंदिर बेबिलोनिया की विशेष देन है। हम्मूराबी के समय में चित्रकारी का वस्तुतः अभाव ही था। जिस दृश्य में हम्मूराबी सूर्यदेव से धर्मसंहिता (Law Code) ले रहा है। वह रोबिला भले हो पर मनुष्य के शरीर की सुन्दरता को चित्रित करने में कलाकार अवश्य ही असफल रहा है। सारगन के समय के सुन्दर मुहर काटने की प्रतिभा का इस समय में कहीं पता नही चलता। हम्मूराबी का युग व्यापार के क्षेत्र में भले सफल हो, पर कला का महान् युग तो इस समय अवनति के पथ पर ही अग्रसर था।

कला की अवनति शायद बेबिलोनिया के आनेवाले बुरे दिन की द्योतक थी। हम्मूराबी के मरने के थोड़े समय के बाद बेबिलोनिया पर संकट के बादल टूट पड़े। पूर्व की पहाड़ी इलाकों से बर्बर 'कश' (Kassites) जाति का आक्रमण हुआ। उनके देवता सूर्य, वरुण थे, इसलिए इन्हें आर्य जाति की एक शाखा समझा जाता है। पर इनकी भाषा व इनके नाम आर्य नहीं हैं। ये लोग मिश्र जाति के थे। बहुत संभव यह है कि जब करीब ईसा से २००० वर्ष पूर्व कई जातियों का सभ्य संसार में आक्रमण हो रहा था, तो उस समय 'कश' लोग इस महान् आन्दोलन के परिणाम स्वरूप पश्चिम की ओर चल पड़े। इनमें कुछ आर्यजाति के साहसी नेता भी रहे हों तो असम्भव नहीं। इन लोगों ने बेबिलोनिया को तबाह कर डाला। इनके साथ ही इस क्षेत्र में पहले-पहल घोड़े व घोड़े की सवारी—रथ का आगमन हुआ। घोड़ा और रथ ने यातायात और युद्ध की रीति में भीषण क्रान्ति कर दिया। इसी विशेष सुविधा के कारण 'कशों' ने बेबिलोनिया पर आसानी से विजय प्राप्त कर लिया। कशराजाओं ने बेबिलोनिया पर सैकड़ों वर्ष राज्य किया। वे आये थे विध्वंसक बन कर, पर पीछे धीरे-धीरे बेबिलोनिया की संस्कृति को अपनाने लगे। बेबिलोनिया की सभ्यता की प्रगति रुक गई, और सभ्यता का प्रथम युग का अन्त हो गया। कश-जाति के आक्रमण के साथ ही साथ, एशिया माइनर से हिटाइट् लोगों ने बेबिलोनिया पर धावा बोल दिया। पूर्व से 'कश' और पश्चिम से हिटाइट से घिर कर बेबिलोनिया अशक्त हो गया। हम्मूराबी का वंश ही मिट गया। कुछ दिनों तक दक्षिण में, पर्शिया की खाड़ी के तट पर स्वतन्त्रता का दीप जलता रहा, पर अन्त में 'कश' जाति के राजाओं ने समूचे बेबिलोनिया पर अपना राज्य, तृतीयवंश का राज्य, स्थापित कर लिया।

बेबिलोनिया का भाग्य-सूर्य हजारों वर्ष तक अस्त रहा। सातवीं-षष्ठी शताब्दी ईसा से पूर्व चाल्डियन लोगों के नेतृत्व में बेबिलोन

ने फिर करवटें बदलीं, पर यह कोशिश बेकार सिद्ध हुई। ईसासे ३००० वर्ष पूर्व से लेकर करीब १६०० वर्ष तक बेबिलोनिया सभ्य-जगत के क्षितिज पर उज्ज्वल नक्षत्र की तरह चमकता रहा। पर कश-युग का प्रारम्भ से बेबिलोनिया के इतिहास के प्रथम अध्याय का अन्त हो जाता है।

असीरिया का उदय

जब बेबिलोनिया अपना महत्वपूर्ण स्थान खो चुका था, तब असीरिया का उदय हुआ। असीरिया बेबिलोनिया के उत्तर टिग्रिस घाटी के उत्तरी भाग में स्थित है। असूर शहर टिग्रिस के पश्चिम-दक्षिण व पश्चिम की मरुभूमि से घिरा हुआ, ऊंची भूमि पर स्थित था। इस तरह प्रकृति ने इसे सुरक्षित बनाया। इसी शहर के नाम पर सारे देश का नाम असीरिया पड़ा, और यहां के रहनवाले असीरियन कहाने लगे।

असीरिया पहाड़ी इलाका था, आबहवा भी बेबिलोनिया की तुलना में ठण्डा ही थी। इसलिए यहां के निवासी बेबिलोनिया में रहने वाले की अपेक्षा अधिक स्वस्थ, साहसी और उग्र थे। असीरिया के पहाड़ी इलाकों में भेड़ें खूब मिलती, इसलिए ऊन काफी मात्रा में मिल सकता था। नदियों की घाटी की उपजाऊ खेत में गेहूं और जव उपजते। कृषि और भेड़ पालना जीविका के प्रमुख साधन थे। बेबिलोनिया की तरह यहां वाणिज्य व व्यापार का बोलबाला नहीं था। यहां के पहाड़ियों में कंकड़ीली पत्थरों के चट्टान मिलते। इसलिए जहां बेबिलोनिया में भवननिर्माण में ईंट का प्रयोग होता, असीरिया में पत्थर के मकान बनते थे। दोनों देश की शिल्पकला में यह महान् अन्तर है।

असीरिया में भी ईसा से करीब ३००० वर्ष पूर्व सेमिटिक लोगों का प्रवेश हुआ। शायद सुमेर के लोग यहां भी आकर पहले

बसे हों। असीरिया की अतिप्राचीन संस्कृति ने सुमेरिअन संस्कृति से बहुत कुछ लिया था। उनकी नागरिक सभ्यता, लिपि, शिल्प-विज्ञान सभी सुमेर की संस्कृति पर आधारित थे। सुमेर पंचांग का व्यवहार असीरिया में होता था

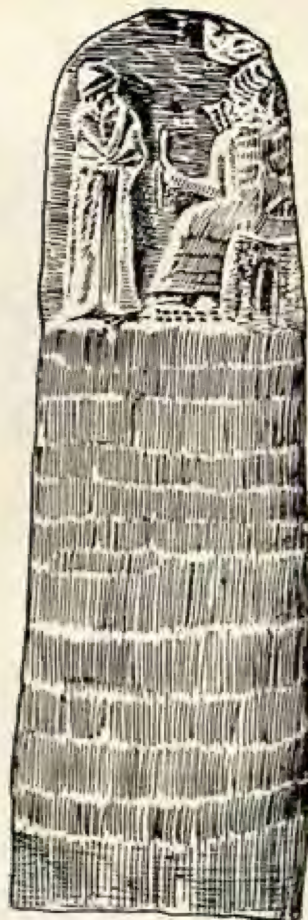
पर यह समझना कि असीरिया पर सिर्फ सुमेर की सभ्यता की ही छाप पड़ी, गल्त होगा। उत्तर में हिटाइट् और पश्चिम में आरमिअनों का प्रभाव भी असीरिया पर काफी पड़ा। हिटाइट् असीरिया पर आक्रमण करते रहे और कभी २ अपना राज्य भी यहाँ स्थापित कर लिया। असीरिया कभी बेबिलोनिया के अधीन और कभी हिटाइट् के अधीन रहा। इस तरह करीब १५०० वर्ष तक असीरिया-निवासी अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए बाहरी दुश्मनों से जूझते रहे; उन्हें कभी सफलता मिलती, कभी असफलता। पर इस लम्बे संघर्ष का परिणाम हुआ कि असीरिया के रहनेवाले कर्मठ वीर और कठोर प्रकृति के हो गए। घोड़ा का व्यवहार का ज्ञान हो गया। युद्ध में रथ का प्रयोग होने लगा। इन शारीरिक व सैनिक सुविधाओं से भूषित होकर असीरिया ने पश्चिम की ओर बढ़ना शुरु किया और ईसासे करीब १३०० वर्ष पूर्व युफ्रेटिस नदी को पार कर हिटाइटों को उस क्षेत्र से मार भगाया। दक्षिण की ओर टिग्रिस नदी के नीचे उतरने लगे, और अन्त में बेबिलोनिया पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

पर असीरिया अभी तक स्वल्पशक्ति ही था। पश्चिम में भूम-ध्यसागर की ओर उसकी प्रगति को रोकनेवाले थे आरमिअन। आरमिअन सेमिटिक जाति के थे, और ईसासे करीब १८०० वर्ष पूर्व इन्होंने सिरिया में अपनी शक्ति स्थापित कर ली थी। दमस्क (Damascus) उनकी राजधानी थी। इसके अलावे इन्होंने और भी कई नगरों की स्थापना की। मिस्र और हिटाइट् सभ्यताओं से इन्हें प्रेरणा मिलती थी। आरमिअन बड़ ऊँचे दर्जे के



अमोरिया के प्राचीन मिट्टी के बर्तनों पर डिजाइन

(पृ० ७२)



(पृ० ५७) सूर्यदेव के द्वारा हम्मूराबी को धर्मसंहिता देने का दृश्य।

व्यवसायी व तिजारती थे। उनके कारवां सारे पश्चिम एशिया में चलते थे। उनका कांसे का बटखरा (तौल) असीरिया की राजधानी नैनवां (Nineveh) में पाया गया। इससे यह प्रत्यक्ष है कि आरमिअन व्यापारी असीरिया में वर्तमान थे। आरमिअनों की लिपि और भाषा बहुत विकसित थी। ये लिखने में वर्णमाला (Alphabets) का प्रयोग करते थे। ये कागज पर नरसर की कलम से लिखते थे। असीरिया में क्यूनिफॉर्म लिपि का (Cuneiform script), जिसकी उत्पत्ति बेबिलोनिया में हुई थी, व्यवहार था। पर १००० वर्ष ईसा से पूर्व के बाद हम असीरिया में आरमिअन लिपि का भी प्रयोग पाते हैं। जिस प्रकार बेबिलोनिया के कारवां के साथ २ क्यूनिफॉर्म लिपि व बेबिलोनिया की भाषा समूचे पश्चिम एशिया में फैल गई थी, उसी प्रकार आरमिअन लिपि का भी विस्तार सारे पश्चिम व मध्यपूर्व एशिया में हो गया था। यहां तक कि भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर भी आरमिअन लिपि का प्रभाव पड़ा। आरमिअन भाषा का व्यवहार इतना बढ़ा कि बहुत से असीरिया-निवासी इस भाषा का व्यवहार करने लगे। असीरिया में पाई गई कई मिट्टी की टिकियों में क्यूनिफॉर्म लिपि के साथ-साथ आरमिअन लिपि का प्रयोग मिलता है। शायद आरमिअन व्यापारी ने अपनी सुविधा के लिए आरमिअन लिपि में मारजिन में नोट कर लिया है। असीरिया में सरकारी काम दोनों भाषाओं में होता था। आरमिअन क्लर्क आफिस में बहाल किए जाते थे। असीरिअन क्लर्क क्यूनिफॉर्म लिपि में मिट्टी की टिकिओं पर लिखता था, आरमिअन क्लार्क पेपिरस पर कलम और रोशनाई से आरमिअन लिपि में काम करता था। शक्तिशाली आरमिअन असीरिया की प्रगति रोकने में कई शताब्दी तक सफल रहे। इनके सिवा एशिया-माइनर के बन्दरगाह-शहरों पर फिनिशियनों का राज्य था। ये लोग भी सेमेटिक जाति के

ही थे, और व्यापार में बड़े माहिर। सामुद्रिक व्यापार पर इनका एकछत्र राज्य था। इन लोगों ने अपने शहरों को काफी मजबूत बना लिया था और असीरिया के राजाओं को इन लोगों से काफी संघर्ष रहा। अरसे तक असीरिया समुद्र के तट तक पहुँचने में असफल रहा।

असीरिया का साम्राज्य-विस्तार

आरमियन और फिनिशिअन सर्वदा के लिए असीरिया की प्रगति न रोक सके। प्राकृतिक और आर्थिक कारणों से असीरिया को साम्राज्य-विस्तार करना जरूरी था। लड़ाकू असीरिअन अपनी शक्ति का उपयोग करने को आतुर थे। उस समय पश्चिम एशिया में कोई सार्वभौम सत्ता नहीं थी। मिश्र का एशिया का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था। आरमिअन साम्राज्य स्थापित न कर सके। इस अनुकूल परिस्थिति में असीरिया ने कदम बढ़ाया। पश्चिम एशिया मिश्र और भूमध्यसागर-तटवर्ती प्रदेशों से लाभदायक व्यापार करता था। यौरप व मिश्र के माल एशिया व हिन्दुस्तान इसी रास्ते से जाते थे। बेबिलोन इन तिजारती रास्तों पर अपना अधिकार स्थापित कर संसार का सबसे धनी नगर बन गया था। असीरिया दरिद्र देश था, इसलिए वणिक् पथों पर यदि उसका आधिपत्य हो जाता तो उसकी आय की अतिवृद्धि होती। पर असीरियन लोग स्वयं तिजारती नहीं थे। इसलिए यदि असीरिया पश्चिम एशिया का तिजारती धन (Commercial wealth) में हिस्सा बँटाना चाहता था तो उसे इन प्रदेशों पर, वणिक् पथों पर, अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना था। असीरिया की साम्राज्यवादी नीति के पीछे यही मूल सिद्धांत छिपा है।

ईसा से करीब ११०० वर्ष पूर्व तिगलथ पिलेसर प्रथम (Tigleth Pileser I) ने असीरिया को साम्राज्य-पथ पर अग्रसर किया। इसने दक्षिण में बेबिलोनिया पर विजय प्राप्त की।

पूर्व में वह ईरान की सीमा तक पहुंच गया। उत्तर में हिटाइटों को हरा कर टारस की पहाड़ियों तक असीरिया का प्रभाव जमा दिया। पश्चिम में सीरिया और फिलस्तीन के शहरों को जीता। फिनिशिअनों से भी इसने लोहा लिया। इसके मरने के बाद इसके विजित साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह खड़े हो गए। सीरिआ में ही जबर्दस्त विरोध हुआ। शालमन्जर तृतीय व अदद निरारी तृतीय ने साम्राज्य को बचाने की अकथ कोशिश की, पर असीरिया का प्रथम साम्राज्य टिक न सका। फिलस्तीन आरमिअनों और फिनिशिअनों का प्रत्याक्रमण इस असफलता के कारण बने।

पर असीरिया का भाग्य सूर्य सारगन द्वितीय व उसके वंशजों के राजकाल में खूब चमका। सारगन ईसा से ७२२ वर्ष पूर्व गद्दी पर बैठा। इसने असीरिया की बड़ी उन्नति की, और साम्राज्यवादी नीति अपनाई। नैनवा के उत्तर पूर्व इसने एक सुन्दर राजमहल बनाया जिसका सानी उस समय एशिया में नहीं था। असीरिया पश्चिम एशिया की रानी हो गई।

सारगन का पुत्र सेन्नाचरिब ७०५–६८१ (Sennacherib) एशिया का महान् सम्राटों में गिना जाता है। वह क्रूरता का अवतार था। उसने यवन (Greek) शहरों को भी लूटा। भूमध्यसागर तट उसका कार्य-क्षेत्र था, और मिश्र की सीमा पर उसकी फौज थी। मिश्र बराबर एशिया की कमजोर शक्तियों को असीरिया के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रोत्साहित करता रहता था, इसलिए सेन्नाचरिब ने खीझ कर मिश्र पर ही आक्रमण करने का निश्चय किया, पर महामारी के प्रकोप से उसकी सेना का बहुत बड़ा भाग सीमा पर नष्ट हो गया, इसलिए उसकी आशा पूरी न हो सकी। बेबिलोन बराबर विद्रोह करता था। जब कभी असूर की राजधानी में नया राजा गद्दी पर बैठता, बेबिलोन स्वतन्त्रता का स्वप्न देखने लगता, और विद्रोह करता। सारगन ने बेबिलोन पर विजय

प्राप्त की थी, पर उसने बेबिलोनियनों की भावना का आदर करते हुये अपने को बेबिलोन का सम्राट् घोषित किया था। सेन्नाचरिब ने बेबिलोन में शान्ति स्थापित रहे ऐसी कोशिश की, और कई प्रकार के प्रयोग शासन में किया, पर जब वह पश्चिम में बुरी तरह फंसा था, बेबिलोन ने फिर विद्रोह कर दिया। सेन्नाचरिब ने इस बार उसे एक सीख देना निश्चय किया, बेबिलोन का विद्रोह दबा दिया, और नगर को लूटा-खसोटा। हम्मूराबी का सुसज्जित शहर को बर्बाद कर दिया। दुनियां सेन्नाचरिब के इस कुकर्म को कभी नहीं माफ कर सकती।

सेन्नाचरिब मिश्र को अपने अधीन नहीं कर सका था। असीरिया विजित प्रदेशों से बहुत अधिक कर वसूल करता, इसलिए असीरिअन साम्राज्य में असन्तोष की आग बराबर जलती रही। इसका फायदा मिश्र उठाता था, और बराबर इन देशों को असीरिया के विरुद्ध उभाड़ता रहा। मिश्र की यह नीति अवांछनीय थी। वह स्वयं तो कमजोर था, और असीरिया की प्रगति खुले मैदान में रोकने में असमर्थ सिद्ध हो चुका था। सारगन ने राफिया के मैदान में मिश्र की सेना को हराया था। पर मिश्र कमजोर राष्ट्रों को असीरिया की कोधाग्नि में जलने के लिए छोड़ दिया करता। इससे पश्चिम एशिया का बहुत नुकशान हुआ। शान्ति दूर रही, आर्थिक दशा बिगड़ती गई, कला की प्रगति रुक गई। मिश्र पर निर्भर करना टूटी हुई सरी डाली का सहारा लेना था।

सेन्नाचरिब का पुत्र इसारहेड्डन (Esharhaddon 681–668 B. C.) ने उत्तरी मिश्र पर, मुहाने के प्रदेश पर आक्रमण किया और उसका पुत्र असुरबनिपाल (668–626 B. C.) ने उत्तर मिश्र पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। जमाना पलट गया। एशिया का साम्राज्य मिश्र पर ही गया।



असीरिया का साम्राज्य

(Facing Page 76)



(Facing Page 90)

असीरिया का पतन और उसके कारण

असुरबानिपाल असीरिया का अन्तिम महान् सम्राट् था। उसके अन्तिम दिन बुरी तरह बीते। मिस्र, बेबिलोन (बाबेरु) फिनिशिया, इलम सभी विजित प्रदेशों में विद्रोह होने लगे। मिस्र ने एशियामाइनर के वेतनभोगी सैनिकों की मदद से असीरियनों को मार भगाया, और स्वतन्त्रता प्राप्त कर लिया। असुरबानि पाल ने बहुत मुश्किल से बेबिलोनिया के पूरब स्थित प्राचीन देश इलम को हरा कर अपने राज्य में मिला लिया था। पर इलम अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा व गरिमा को न भूल सका था, इसलिए असीरिया बराबर इलम के प्रति खबरदार रहा। इलम का पतन के बाद असीरिया की पूर्वीय सीमा आगे बढ़ गई और असीरिया नयी लड़ाकू आर्यजातियों के रास्ते में आ गया। असीरिया युद्ध करते-करते थक गया था। अन्त में काल्डिया, मिडिया और पर्शिया ने मिल कर ६०६ ई० पू० असीरिया का नाश कर दिया। नैनवा (Ninevah) जो एशिया का सबसे सुन्दर व ऐश्वर्यशाली नगर था, नेस्तनाबूद हो गया। असीरिया का विश्वप्रसिद्ध क्रूर साम्राज्य का पतन हो गया, और कुछ वर्षों के बाद ही असीरिया का नामनिशान तक की याद भूल गई।

असीरिया का पतन आकस्मिक और पूर्ण था। इसके कई कारण थे। असीरिया का साम्राज्य सैन्यबल पर आधारित था; पाशविक शक्ति पर ही निर्भर करता था। ऐसा साम्राज्य चिरस्थायी नहीं हो सकता। असीरिया अपने विजित प्रदेशों को बुरी तरह सताता था। कर के बोझ से वे दबे रहते थे। प्रजा असीरिया के सैनिकों के दुर्व्यवहार से तबाह रहती। विजित देशों में असीरियन शासक व सैनिक-छावनी का बन्दोबस्त रहता, और प्रजा को बराबर यह याद दिलाई जाती थी की वह गुलाम

है, और उसका जीवन, धन सब असीरिया के हित के लिए है। युद्ध में असीरिया के सम्राट् व सैनिक क्रूरता का ताण्डव नृत्य करते थे। शहर का शहर जला दिया जाता। हारे हुये सिपाहियों को जीता जलाया जाता। मृतकों के ढेर बनाये जाते, मुण्डों का मीनाराकार टीला बना कर लोगों को आतंकित किया जाता। हजारों स्त्रियां व बच्चे मौत के घाट उतार दिये जाते। हजारों को अपने घर से उजाड़ कर दूसरे देश में बसाया जाता। असीरिया के सम्राट् ऐसे कर्म पर अफसोस क्या करते, बल्कि गर्वपूर्ण भाषा में इन दुष्कर्मों का विवरण पत्थरों में, या मिट्टी की टिकियों पर खुदवा कर आत्मश्लाघा से बाज नहीं आते थे। इस स्थिति में कोई भी विजित देश की प्रजा असीरिया के राज्य से सन्तुष्ट नहीं रह सकती थी, इसलिए उनके दिल में विद्रोहाग्नि बराबर भड़कती रहती थी। प्रत्येक अवसर पर वे अपना सर उठाते थे। उनके प्रयास भले ही विफल कर दिये गये हों; पर असीरिया की शक्ति की लगातार हानि होती रही। युद्धों का तांता असीरिया के प्रत्येक सम्राट् को झेलना पड़ता। असीरिया सैनिकप्रधान देश था, पर किसी भी चीज की हद होती है। लगातार युद्ध में संलग्न रहने के कारण उसकी शक्ति क्रमशः क्षीण होती गई। असीरिया के पतन में मिश्र का बड़ा हाथ था। एशियाई राज्यों को बराबर उभाड़ता रहा, और असीरिया को हमेशा विद्रोह का ही सामना करना पड़ा।

असीरिया का साम्राज्य राजा के व्यक्तित्व पर बहुत अंशों में निर्भर करता था। किसी भी योग्य राजा का उत्तराधिकारी योग्य ही होगा, ऐसा कोई नियम नहीं है। किसी भी राजवंश में चार या पांच पीढ़ियों के सुयोग्य राजाओं के पश्चात् अयोग्य और कमजोर राजा गद्दी पर बैठते हैं। कितना भी योग्य राजवंश क्यों न हो, उसका ह्रास स्वाभाविक है। असुरबानिपाल के पश्चात् असीरिया की

गद्दी पर अयोग्य राजा आये, और साम्राज्य की उलझती हुई समस्याओं का समाधान करने में असमर्थ सिद्ध हुये।

असीरिया युद्धलिप्सा में इस तरह फंस गया था कि उसके प्रत्येक योग्य नागरिक को युद्ध का आवाहन सुनना पड़ता था। इस कारण कृषि की उपेक्षा होने लगी। आर्थिक दृष्टि से असीरिया कमजोर हो गया। विदेशों का ही मुंह जोहता रहा। यह देश के लिए बड़ी ही घातक बात थी।

असीरिया की उन्नति में राष्ट्रीयता की भावना का बड़ा हाथ था। असीरिया के सैनिक एक जाति व राष्ट्र के थे। एक भावना से प्रेरित होकर वे एकता की सूत्र में बंधे थे। इसलिए सेना में जोश व आत्मविश्वास था। पर जैसे २ साम्राज्य बढ़ता गया विजित देशों के नागरिकों को असीरिया में स्थान दिया गया। असीरिया की एकता में बाधा आ गई। उसकी सेना में गैर असीरियन भी भर्ती होने लगे। सेना की एकता लुप्त हो गई। वेतनभोगी व अराष्ट्रीय सैनिक असीरिया के लिए युद्ध में उतना जोश व आत्मबलिदान का भावना कहां दिखा सकते थे जितना की असीरियन स्वयं!

इन सब कारणों के अलावे बाहरी आक्रमणों ने भी असीरिया की कमर तोड़ दी। जब अन्दरूनी कमजोरी आती है तब बाहर के दुश्मनों को बन आती है। पश्चिम एशिया में नई जातियों का आक्रमण हो रहा था। सातवीं शताब्दी ईसा से पूर्व शकों ने पश्चिम एशिया पर धावा बोल दिया। असीरिया का सम्राट् इसारहद्दन (Esharhaddon) को इन बर्बरों का सामना करना पड़ा। शकों की एक शाखा से वैवाहिक सम्बन्ध कर उसने बला टालने की कोशिश की। पर शकों को रोकना असम्भव था। वे नदी की बाढ़ के समान रोके न रुकते थे। और

अन्त में उन्होंने असीरिया के साम्राज्य को खूब लूटा-खसोटा। असीरिया की इज्जत मिट्टी में मिल गई। इसकी आर्थिक दशा बिगड़ गई। असीरिया की शक्ति जर्जर हो गई थी, अब सिर्फ एक और धक्के की जरूरत थी। विशाल महल की नींव हिल चुकी थी, अब वह गिर कर ढेर होने ही वाला था। चाल्डियन लोग असीरिया के पुराने दुश्मन थे। वे बराबर बेबिलोनिया पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे, पर असीरिया की सैनिक शक्ति के सामने उन्हें झुकना पड़ता था। इस बार चाल्डियनों ने मिड्स (मद्र) व पशिअंन (परशु) से मित्रता कर असीरिया पर आक्रमण कर दिया, और असीरिया का पतन हो गया। असीरिया का पतन ने विश्व को आश्चर्यचकित कर दिया। उसकी विजित प्रजा कभी नहीं सोचती थी कि शक्तिशाली असीरिया का कभी पतन भी होगा। अपनी कीर्ति व गौरव की चरमसीमा पर पहुँच कर असीरिया एकाएक गिर पड़ा, और पूरी तरह चूर हो गया। उसके अन्त पर कोई रोनेवाला नहीं था। उसकी साम्राज्यवादी नीति इतनी कठोर व शोषक थी कि असीरिया के पतन पर पश्चिम एशिया व उत्तरी अफ्रिका के निवासी ताली पीट कर खुशी का इजहार किए होंगे। असीरिया का पूर्ण पतन यह दिखाता है कि पशुबल पर स्थापित साम्राज्य बहुत दिनों तक कमजोरों की छाती पर नहीं टिक सकता। प्रजा का क्रोध अन्त में साम्राज्य का नाश ही कर देता है।

असीरिया की सभ्यता

असीरिया का पतन उसके दोषों के कारण हुआ। पर असीरिया ने विश्वसभ्यता व इतिहास के भाण्डार में सिर्फ क्रूरता व नृशंसता की निशानी ही नहीं छोड़ा, वरन् शासन, सैन्यसंचालन और कला के क्षेत्र में काफी दान दिया है। असीरिया का साम्राज्य सैनिक बल पर निर्भर करता था। लोहे के हथियार का व्यवहार इस शक्ति का स्रोत

था। इसकी सेना में भाला-बर्छी का प्रयोग होता था। इनके सैनिक तीर-धनुष चलाते थे, तलवार भी भाँजते थे, और रथ पर चढ़कर सेना का नेतृत्व करते थे। असीरिया की सेना ने किलों को तोड़ने में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की थी। शहरों को घेरना, बड़ी ऊँची दीवालों को तोड़ना व उस पर चढ़ना सेना के लिए मुश्किल नहीं था। सैनिक-यन्त्रकला व युद्ध-विद्या में असीरियनों ने भविष्य को बहुत कुछ दिया।

साम्राज्य-शासन की नीति में भी असीरियनों ने काफी न्यूनता दिखाई। विजित देशों को आतंकित रखना, और कर के बोझ से उन्हें परेशान करना उनकी नीति थी। युद्ध में अत्यन्त कठोरता का व्यवहार करना उनका स्वभाव सा हो गया था। भय की नीति पर ही इनलोगों ने अपना आधिपत्य स्थापित किया था। विजित राष्ट्रों में एकता न रहे, वे एक जाति के न रहें और उनके नेता और उत्साही देश भक्तों को उनसे जुदा कर दिया जाय, इसलिए विजित देशों से हजारों स्त्री-पुरुष को निकाल कर दूसरे देश में बसाया जाता था। आशय यह था कि विद्रोह करने की शक्ति ही खत्म कर दी जाय। फिर विजित देशों में भिन्न २ राष्ट्रों के नागरिक रहने लगे, और इस तरह एक दल दूसरे दल की प्रगति का अवरोधक हो गया—प्रत्येक विजित प्रदेश में फूट का अखाड़ा खुल गया और इसका फायदा असीरिया उठाता था। एक समूह दूसरे राष्ट्रीय समूह के विरुद्ध असीरिया का मुह जोहते रहता। एक विजित राष्ट्र के नागरिकों के द्वारा दूसरे विजित राष्ट्र को इस तरह दबा कर रखा जाता। हिटलर ने ऐसी ही नीति अपनाई थी। पोलैण्ड के हजारों मनुष्यों को आस्ट्रिया में बसाया था। पोलैण्ड और आस्ट्रिया में पुरानी अनबन थी। इसलिए आस्ट्रिया में बसे पोल हिटलर के इशारे पर चलते थे। वरना आस्ट्रियावासी उन्हें बेहद परेशान करते।

प्रत्येक विजित देश में असीरिया अपना सैनिक छावनी रखता, और सैनिक शासक। ये लोग असीरिया के हितों की रक्षा करते, राष्ट्रीय नागरिकों को सताते और जरा-सा भी हलचल होने पर इन्हें कुचल देते।

असीरिया को कभी अपने गवर्नरों पर भी विश्वास नहीं रहता था, इसलिए उन पर बराबर कड़ी दृष्टि रखी जाती थी। गुप्तचर सभी जरूरी बातों का पता देते। यदि किसी गवर्नर को राजधानी बुलाया जाता तो वह घबड़ा कर आत्महत्या कर लेता था।

इस तरह भय व कठोर नियन्त्रित शासन के द्वारा साम्राज्य स्थापित किया गया, और उसे स्थिर रखने की फिजूल कोशिश की गई। असीरिया की साम्राज्यवादी नीति व नृशंस शासन यद्यपि अन्त में असफल रहा, तब भी भविष्य में आनेवाली साम्राज्य-वादी शक्तियों ने असीरिया की नीति को बहुत अंशों में अपनाया। विश्व-साम्राज्य का भाव असीरिया के विशाल साम्राज्य के बाद ही विकसित हुआ। पर्शिया का साम्राज्य का आधार असीरिया का साम्राज्य ही था।

संस्कृति के क्षेत्र में असीरिया की सबसे बड़ी कीर्ति थी बेबि-लोन की संस्कृति को जीवित रखना। बेबिलोनिया 'कशों' के आधिपत्य-काल में अवनति कर रहा था। उसकी संस्कृति कुण्ठित हो गई थी। असीरिया ने बेबिलोनिया की संस्कृति को अपनाया और उसे अपने साम्राज्य में फैलाया। जब असीरिया का पतन हुआ तब चाल्डियनों ने बेबिलोनिया की संस्कृति का भार अपने ऊपर लिया।

शिल्पकला व भवननिर्माण कला में असीरियनों ने बहुत उन्नति की। पत्थर के बने सुन्दर मकानों से सुसज्जित कई शहर बने, जो कि एशिया में अद्वितीय रहे। क्रूर सेन्नाचरिब ने नैनवी

(Ninevah) को संसार का सबसे सुन्दर शहर बना दिया और प्राचीन बेबिलोन की गरिमा इसके सामने फीकी पड़ गई। सारगन का महल 'दुरशरूकिन्' (Dur-Sharukin) का घेरा १ वर्गमील था, और यहाँ ८०००० मनुष्य रह सकते थे। असीरिया में सम्राट् सेन्नाचरिब के समय में पश्चिम एशिया में पहले पहल सड़क बनाने का काम मुस्तैदी से शुरू हुआ। सारगन द्वितीय ने नेनवा और दुरशरूकिन् के बीच एक सड़क बनवायी थी। सड़क के प्रमुख कोनों पर सरकारी आफिस स्थापित किए गये थे।

साम्राज्य-विस्तार से जो धन का अपहरण किया गया था वह सिर्फ सेना पर ही खर्च नहीं किया जाता था। कला पर भी असीरिया के सम्राट् काफी व्यय करते थे। भवन-निर्माण कला में आर्च (Arch) का प्रयोग नये ढंग से हुआ, और भवन का वह एक प्रमुख भूषण हो गया। दीवालों पर कई तरह के दृश्य खुदे हुये थे। शिकार व युद्ध के दृश्य प्रमुख थे। मूर्तिकला में मनुष्य का रूप स्वस्थ और कठोर है। असीरिया की प्रकृति का प्रतीक! प्राकृतिक भावनाओं से पूर्ण सिंह, बाघ व साँड़ों के चित्र पाए गये हैं। कला की उन्नति में विदेशी कलाकारों की सहायता ली जाती थी। रंगीन ईंटों को चमकाने की कला मिश्र से सीखी गई। फिनिशिअनों ने असीरिया के असबाब (Furniture) बनाए। सेन्नाचरिब ने अपने राजमहल में हिटाइट् की नकल पर एक द्वार बनवाया था।

असुरबानिपाल साहित्य का बहुत बड़ा प्रेमी था। उसके पुस्तकालय में २२००० मिट्टी की लिखित टिकियों का संग्रह पाया गया था। उनमें कुछ आज भी बृटिश म्यूजियम में पाये जाते हैं। वह स्वयं लिखना-पढ़ना जानता था।

चाल्डियन साम्राज्य (Chaldean Empire)

चाल्डियनों ने अपना राज्य बेबिलोनिया (बभेरु) पर स्थापित कर लिया, और मेसोपोटोमिया के इतिहास का तृतीय अध्याय शुरू हुआ। बेबिलोन का पुनः निर्माण हुआ। सारे शहर की जबरदस्त किलेबन्दी की गई। नहर का समुचित प्रबन्ध किया गया। बेबिलोन का क्षेत्रफल बढ़ाया गया, और वह पहले से अधिक सुन्दर बन गया। पुराने मंदिरों का फिर से निर्माण हुआ। इन मंदिरों से राजमहल तक जाने के लिए सुन्दर झुरमुट (avenue) बने, और एक विशाल आकर्षक द्वार, इस्तार-द्वार (Ishtar Gate) का निर्माण हुआ। इस द्वार के बाद सरकारी महल व आफिस थे और तत्पश्चात् सबको अपनी प्रतिमा से आछन्न करनेवाला मीनाराकार मन्दिर, जिसे हम बेबेल का मीनार (Tower of Babel) कह सकते हैं। बेबिलोन का पुनर्निर्माण का श्रेय राजा नेबूचडनेजर (Nebuchadnezer) को है। इसीने अपनी रानी के लिए आसमान में लटकता हुआ बाग (Hanging Garden) बनाया, जिसे यूनानी लोग संसार के सातवें आश्चर्यजनक वस्तुओं में एक समझते थे। यह बाग सम्राट् के राजमहल के छत पर बसा था। इस पर मुंड़ेर पर मुंडेरे सजे गये थे, प्रत्येक मुंड़ेरे पर वृक्ष रोपे गये थे, और पूरे बाग मे टहलने के लिए पगडण्डी थी। दूर से देखने पर यही लगता था कि आसमान में बाग लटक रहा है।

इस समय व्यापार व उद्योग की भी उन्नति हुई। कला और साहित्य की प्रगति बढ़ती गई। ज्योतिष में उन्नति हुई। ग्रहों के द्वारा भविष्यवाणी करने का प्रयास जारी रहा।

पर चाल्डियनों ने कभी नया कदम उठाने की इच्छा प्रकट नहीं की। उनका आदर्श था हम्मूराबी के समय का गौरव को पुनर्जी-

बित करना। इसलिए इस प्रयास में हम नयी लहर नहीं देखते। पुरानी चीजों को फिर से जीवित करने की कोशिश में कला के क्षेत्र में प्रर्याप्त उन्नति हुई, पर जब आदर्श ही पीछे की ओर जाना था तब बेबिलोनिया का पुनरुत्थान नामुमकिन था। जनता व शासकों में नवजीवन की शक्ति का अभाव था। अतः बेबिलोनिया का इतिहास का पटाक्षेप शीघ्र ही हो गया। पर्शिया का राजा कुरुश प्रथम (Cyrus I) ने चाल्डियन साम्राज्य का ५३९ ई० पू० में अन्त कर दिया।

षष्ठ अध्याय

सिन्धु-घाटी की सभ्यता

मेसोपोटेमिया और मिश्र की नवप्रस्तर युग की ग्रामिण-सभ्यता नागरिक सभ्यता में परिणत हो गई थी। अतिरिक्त अन्न की उपज (Surplus food) के आधार पर ही यह संभव हो सका था। इन्हीं कारणों से भारत में भी नदी किनारे के गाँव विशाल शहर और सभ्यता के केन्द्र बन गये। भाग्यवश स्वर्गीय राखल दास बन्धोपाध्याय ने सिन्ध के लारकाना जिला में स्थित मोहन्जोदाड़ो में अति प्राचीन सभ्यता के अवशेष का पता लगाया। वह कुशनकालीन स्तूप की खुदाई कर रहे थे कि उन्हें बहुत पुराने ईंट व मुहरें मिलीं। भारत की सबसे प्राचीन सभ्यता की खोज का श्रेय उन्हें मिलना चाहिये। यह १९२२ ई० की बात है। पंजाब के मोन्टगुमरी जिले में हरप्पा और पूर्व पंजाब में रूपड़ में कई चीजें मिली थी, जो पुरातत्व-वेत्ताओं की राय में नवप्रस्तर युग की बाद की थी; पर भारत के इतिहास की प्राचीन सभ्यता, संभवतः वेदकालीन सभ्यता से भी पुरानी थीं। मोहन्जोदाड़ो में भी इसी प्रकार की चीजें मिली थीं। संसार की आँख इस बड़ी खोज पर गई, और मोहन्जोदाड़ो और हरप्पा की खुदाई मार्शल (Marshal), हारग्रिवर्स, (Hargreeves) वत्स, मैके (Mackey), दयाराम शाहनी और दीक्षित महोदयों ने कड़ी मेहनत कर किया। अमेरिका की एक विद्वान सोसाइटी ने सिन्ध में स्थित चान्हूदारों की खुदाई में बड़ी सहायता की। अभाग्यवश अर्थाभाव, जनता की उपेक्षा, और धनीमानी सज्जनों के असहयोग के कारण खुदाई का काम अधूरा ही रह गया। कुछ साल पहले व्हीलर साहब (Wheeler) ने फिर से काम शुरु किया था, और उन्हें आशा से अधिक सफलता मिली थी। अब यह क्षेत्र पाकिस्तान में है और सुनने में आता है कि वहाँ की सरकार अपनी इस बृहत् जवाबदेही को समझती है।

मोहन्जोदाड़ो और हरप्पा में हमें पूर्णविकसित नागरिक सभ्यता के भव्य अवशेष मिले हैं। लोग सुविधाजनक मकानों में रहते थे। मकान में स्नानागार भी था। शहर की सड़कें सीधी और चौड़ी होती थीं। शहर का निर्माण किसी योजना के आधार पर हुआ था। लोग ताम्बा व कांसा का प्रयोग जानते थे। इनके बने सुन्दर बर्तन व मूर्तियां मिली हैं। कई देवी देवताओं की पूजा होती थी। मातृ-पूजा, योगाभ्यास, विशेष प्रकार के पशु व वृक्षों की पूजा का प्रचार था। लिंग व योनि पूजा प्रचलित थी। जब और गेहूं के कई किस्मों का ज्ञान था। कपास के कपड़े बुने जाते थे। शृंगार के लिए आंखों का सुरमा, कपोलों के लिए रंग का व्यवहार होता था। आईने व कंघी पाए गये हैं। बड़े २ विशाल भवनों के अवशेष मिले हैं। इनमें कुछ सरकारी और कुछ धार्मिक महत्व के होंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि इस युग की सभ्यता सर्वोन्मुखी थी, और अपनी समकालीन नागरिक सभ्यताओं से कई क्षेत्रों में यह सभ्यता बढ़ी-चढ़ी थी। मोहन्जोदाड़ो व हरप्पा में सबसे नीची सतह पर जो चीजें मिली हैं, शहर का जैसा सुन्दर रूप मिला है, इससे तो यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि सिन्धुघाटी की सभ्यता मेसोपोटेमिया और मिश्र की सभ्यता से कम पुरानी नहीं है।

मोहन्जोदाड़ो की नीची सतहों पर की सभ्यता इतनी विकसित और परिपक्व है कि यह मानना तर्कसंगत होगा कि इसके पीछे सदियों का विकास है। कुछ दिन पहले यह समझा जाता है था कि कोई नयी विदेशी सभ्यजाति ने यहां आकर इन उन्नत शहरों का निर्माण किया और विदेश से लाई हुई विकसित सभ्यता को यहां स्थापित किया। पर हाल में सिन्ध के कुछ और प्राचीन क्षेत्रों की खुदाई हुई जैसे अमरी, चन्हुदारो, झुकर, झांगर इत्यादि, और हमें सिन्ध की सभ्यताओं का क्रमिक विकास का कुछ-कुछ पता चलता है। चन्हुदारो की खुदाई इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण है। सभ्यता के चार प्रत्यक्ष रूपों का पता चला है। अमरी-सभ्यता हरप्पा-सभ्यता के पहले की है। इस समय बर्तन अच्छे बनते थे पर मकान मामूली तरह के बने हैं। धातु का प्रयोग नहीं के बराबर था। हरप्पा-सभ्यता नागरिक

सभ्यता का पूर्णविकसित रूप है। बड़े २ भव्य भवनों का निर्माण हुआ। बर्त्तन साधारण और उपयोगी हैं। अन्तिम स्थिति में शिल्पकला में अवनति पाते हैं। कला और मिट्टी के बर्त्तन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। शायद इस युग में नयी जाति का आगमन हुआ हो। इस सभ्यता को झुकर सभ्यता कहा जाता है। इसके बाद की झांगर—संस्कृति में सब दिशा में अवनति ही है। विद्वान लोग एक और नई जाति का आगमन ही इस अवनति का कारण बताते हैं।[1]

भूगोल व जलवायु

भारत की सबसे प्राचीन कृषक जातियों की स्थिति का पता हमें पश्चिम भारत-सिन्ध व बलूचिस्तान में ही मिलता है। सभ्यता के क्रमिक विकास व नागरिक-सभ्यता का उत्कर्ष का पता यहीं चला है। पर यह प्रदेश आज प्रायः रेगिस्तान ही है। वर्षा बहुत कम होती है, गर्मी बहुत अधिक पड़ती है और जमीन पर बालू ही बालू है। । ऐसे शून्य व आतिथ्यविमुख प्रदेश में सभ्यता किस तरह पनपी होगी ! यह ठीक है कि सिन्धु नदी अपने साथ सिन्ध में काफी उपजाऊ मिट्टी लाती है। सिन्ध नदी ने ऐतिहासिक काल में कई बार अपनी दिशा में परिवर्त्तन किया है। पहले भी ऐसा ही हुआ होगा। यहाँ की जलवायु भी बहुत पहले भिन्न थी। सिकन्दर के समय में, ईसा से चार शताब्दी पूर्व, सिन्ध व बलूचिस्तान की वही हालत थी जो अब है। पर प्राचीन स्थानों की खुदाई से, हरप्पा-सभ्यता में पाई गई चीजों से यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय इस प्रदेश में वर्षा आज से काफी अधिक होती थी। बलूचिस्तान में तो इसके प्रत्यक्ष प्रमाण मिले हैं। सिन्ध के लिए हमें अनुमान ही करना है। पके हुये ईंटों के मकान, पानी निकलने की सुन्दर

---

१. सभ्यता का नामकरण जिस स्थान पर उस प्रकार की सभ्यता के चिह्न पहले पहल पाये गये हों, उसी नाम से किया जाता है। हरप्पा व मोहन्जोदाड़ो की सभ्यता एक है, इन सभ्यता के अवशेष पहले हरप्पा में पाए गए थे, इसलिए इसे हरप्पा-सभ्यता कहते हैं।

व्यवस्था, हाथी, बाघ, गैंडा इत्यादि पशुओं का पाया जाना इस बात की पुष्टि करता है कि उस समय यह प्रदेश इतना सूखा नहीं था जितना कि आज है। शायद वर्षाकालिक वायु (Monsoon) पहले पश्चिम तक फैल जाती थी। और यह भी सम्भव है कि उस समय भी सिन्धु नदी में सालाना बाढ़ आता होगा और उसका फायदा नहरें व आहर के द्वारा लिया जाता हो, जैसे मिस्र में।

सभ्यता का विस्तार

सिन्ध व बलूचिस्तान के प्राचीन स्थानों की खुदाई व निरीक्षण से हमें इस प्रदेश की कई संस्कृतियों का पता चला है, जिनमें हरप्पा की सभ्यता सब से महत्वपूर्ण है। बर्तन के रंगने की कला में बराबर फर्क होता रहा, और प्रत्येक नये तरीके से एक नयी सभ्यता का जन्म समझा जाता है। इसी आधार पर सिन्ध व बलूचिस्तान में कई सभ्यताओं का पता चला है। क्वेटा, अमरी-नाल और कुल्ली सभ्यताएं का विस्तार दक्षिण बलूचिस्तान में था। सिन्ध में अमरी व बलूचिस्तान में नाल में पाए हुये मिट्टी के रंगे बर्तन एक ही तरीके के हैं, और यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हरप्पा सभ्यता के पहले भी सिन्ध और बलूचिस्तान की सभ्यताएं एक दूसरे से निकट सम्बन्ध रखती थीं। अमरी-सभ्यता अपने अन्तिम समय में दक्षिण बलूचिस्तान में पूर्ण रूप से फैली हुई थी। इस समय के बर्तन कई रंगों से रंगे जाते थे। लाल, पीला, हरा व नीला रंग का व्यवहार होता था। बर्तन पर वर्गाकार चौखटे में खड़ी और पड़ी रेखाओं के रेखाचित्र मिलते हैं। काले और लाल रंग का सुन्दर प्रयोग होता था। इस युग में ताम्बे के भी कुछ उपकरण पाये जाते हैं। ताम्बे में सीसा और निकल मिलाया जाता था। मकान छोटे-छोटे थे, और पत्थर या मिट्टी की ईंट के बने थे। मुर्दों को जलाया जाता था और अव-शेष पर समाधि बनायी जाती थी।

अमरी-सभ्यता के पश्चात् हरप्पा सभ्यता का विकास हुआ। अमरी व चन्हूदारों में हरप्पा-सभ्यता के अवशेष अमरी-सभ्यता के अवशेषों के

ऊपर पाये गये है, इसलिए उनका समय अमरी सभ्यता के बाद का ही है। हरप्पा और मोहन्जोदाड़ो में जो चीजें मिली है, सभ्यता का जो रूप है, वह एकदम एक है। हरप्पा (पंजाब) और मोहन्जोदाड़ो (सिन्ध) में एक ही सभ्यता थी। अमरी व चन्हूदारो (सिन्ध) में भी हम वही भवन-निर्माण कला, बर्तन-कला और सामाजिक व आर्थिक जीवन पाते हैं। इसलिए यह तो प्रत्यक्ष है कि पश्चिम पंजाब और सिन्ध में यह सभ्यता एक समानरूप से विस्तृत थी। सतलज नदी के किनारे उत्तर में भी हरप्पा सभ्यता के विशिष्ट चिह्न मिले हैं। दीक्षित साहब का ख्याल है कि हरप्पा सभ्यता दक्षिण पश्चिम में काठियावाड़ तक, दक्षिण में राजपूताना और नमर्दा व ताप्ती की घाटियों में, और पूर्व में उत्तर गंगा-प्रदेश अर्थात् पश्चिम उत्तर प्रदेश में बम्बू बिजनौर व मथुरा तक फैली हुई थी। भारतवर्ष के अन्य भागों से भी सम्बन्ध था। काश्मीर से हरिणों की हड्डियां, और मैसूर से सोना मंगाया जाता था। मार्शल साहब का भी यह संकेत था कि यह सभ्यता पूर्व में गंगा की कांठे में भी फैली होगी। पर अभाग्यवश अभी इसका कोई प्रमाण नहीं मिला है। सिन्ध और पंजाब, जहाँ कि हरप्पा सभ्यता पूर्णरूप से विकसित थी, क्षेत्रफल में मेसोपोटेमिया या ईरान से बड़ा है। इसलिए प्राचीन नागरिक सभ्यता का सबसे विस्तृत-क्षेत्र सिन्धु-कांठा ही था।

नगर योजना और भवन-निर्माण

मोहन्जोदाड़ो के खण्डहरों में घूमने पर यही मालूम होता है कि हम आज के किसी औद्योगिक आधुनिक शहर के भग्नावशेष में घूम रहे हैं। शहर एक निश्चित योजना के आधार पर बसा था। और यही योजना, यही यन्त्रकला (technique) एक ही तरह के ईंटें, एक ही शिल्प-कला सभी समकालीन नगरों में प्रचलित थी। हरप्पा सभ्यता काफी विस्तृत थी। पर यह ध्यान देने की बात है कि सारे क्षेत्र में एक ही प्रकार की, एक ही ढांचे की, चीजें मिलती हैं। इन चीजों में इतनी समानता है

कि हम नहीं कह सकते कि अमुक वस्तु मोहन्जोदाड़ो की है या हरप्पा की, या चान्हूदारो की। यही नहीं एक ही किस्म की ईंट, एक ही आकार की ईंट, एक ही तरह का पलस्तर, एक ही नगर-योजना हम इस युग के सभी नगरों में पाते हैं। ये नगर एक दूसरे से सैंकड़ों मील दूरी पर बसे थे। पर उनमें इतनी समानता है, इतना एकापन है कि यह प्रत्यक्ष है कि सारा समाज एक मजबूत केन्द्र के द्वारा संचालित था। यहां स्वतन्त्र शहरों का नागरिक-राज्य नहीं था, बल्कि एक सुगठित और सुव्यवस्थित साम्राज्य था जिसका दबदबा समूचे सिन्धु-काँठे पर पूरा था। यह राज्य कई सदियों तक लगातार टिका रहा। इसका प्रमाण यह है कि हरप्पा व मोहन्जोदाड़ो की खुदाई से यह पता चला है कि ये शहर कई बार बसाये गये थे। शायद बाढ़ के वजह से पुराने शहर पर पर नया शहर बनाना जरूरी हो जाता था। मोहन्जोदाड़ो शहर पांच-सात सौ वर्ष तक आबाद रहा। इस शहर के नौ सतह खोदे गये हैं। पर इन सतहों पर पाई गई चीजें एक समान हैं। देखकर कहना असंभव है कि अमुक चीज नीची सतह पर, और अमुक उपरी सतह पर पाई गई है। इसलिए यह निर्विवाद है कि एक ही राजसत्ता यहां सदियों तक स्थापित रही। एक ही सभ्यता यहां पनपती रही। संगठित और शक्तिशाली राज ने शान्ति कायम रक्खी, और सभ्यता की गति में कोई फर्क नहीं आया। बिना शक्तिशाली राजसत्ता व सुगठित समाज के किसी एक योजना के अनुसार नगरों का निर्माण नहीं हो सकता था, न सारे क्षेत्र में जो, आर्थिक व सामाजिक जीवन में, समता पाते हैं, वह मिल सकती थी।

मोहन्जोदाड़ो व हरप्पा ऊँची दीवालों की चहारदिवारी से घिरा था। मोहन्जोदाड़ो की दीवालों के अवशेष यहां वहां पाए जाते हैं। हरप्पा में हाल ही में जो खुदाई हुई थी उससे उसकी किलेबन्दी व मजबूत चहर-दिवारी का पता चलता है। सुरक्षा के लिए मजबूत दीवाल से शहर घिरा था। मिट्टी या कच्चे ईंटों के टुकड़ों का बांध व ऊंचा चबूतरा बनाया गया था, और उस पर रक्षापंक्ति की दीवाल खड़ी की गई थी। दीवाल कच्चे ईंटों की बनी थी, और अन्दर व बाहर से काफी पीटी हुई थी। आगे चल कर

बाहर से भट्टे में पक्की हुई ईंटों से किले की दीवाल को मजबूत किया गया था। दीवाल ४० फीट चौड़ी और ३५ फीट ऊँची थी। इसी चहारदिवारी के अन्दर दुर्ग था। दुर्ग का पश्चिमी दरवाजा का पता चला है। प्रमुख द्वार उत्तर की ओर था। रक्षापंक्ति की दीवाल बुर्जों से और भी मजबूत कर दी गई थी। मोहन्जोदाड़ों में भी दुर्ग था ऐसी आशा की जाती है। सबसे पश्चिम टीले पर तृतीय या चतुर्थ शताब्दी का एक बौद्ध स्तूप खड़ा है। यह स्तूप एक ऊँचे चबूतरा पर खड़ा है, और ऐसा अनुमान है कि इस प्लेटफार्म पर कोई बड़ी भव्य इमारत खड़ी होगी। इस क्षेत्र में कई विशाल भवनों के अवशेष मिले हैं। इसलिए यह संभव है कि यह क्षेत्र राजनीतिक व धार्मिक केन्द्र था। बौद्ध स्तूप के नीचे शायद प्राचीन दुर्ग हो, जिसमें नगर का प्रमुख मन्दिर हो, और उसके पुरोहित-राजा रहे हों। बेबिलोनिया के के प्राचीन नगरों में पुरोहित-राजा का ही शासन था। शायद यही रवैया रहा भी हो।

दुर्ग के नीचे शहर बसा था। शहर किसी विशेष योजना के आधार पर बना था। शहर का आकार समकोण चतुर्भुज था। सीधी सड़कें पूर्व पश्चिम और उत्तर दक्षिण तक फैली थी, और एक दूसरे से समकोण पर मिलती थी। एक मील लम्बी सीधी सड़क अभी भी अच्छी दशा में है। खुदाई के समय में इसका व्यवहार हुआ था। शहर की मुख्य सड़कें काफी चौड़ी थीं—३० फीट चौड़ी एक सड़क का पता चला है। इन सड़कों में गलियाँ व पगडंडियाँ आकर मिलती थीं। ९फीट चौड़ी गलियाँ थीं। इसकापूरा ख्याल रखा जाता था कि सड़कों के किनारे सटे हुये मकान न बनें जिससे कि सड़कें संकुचित हो जायें व राहगीर व यातायात-गाड़ियाँ को मकान की दीवालों से रगड़ लगे। सड़कों के कोने पर के मकान की बाहरी दीवाल थोड़ा वृत्ताकार कर दी जाती थी जिससे कि गाड़ियों के रगड़ से रक्षा हो सके।

साधारण मकान प्रायः एक ही प्रकार के थे। बड़े मकान की योजना में कोई विशेष अन्तर नहीं था, सिर्फ उनमें जगह अधिक थी, और आराम

की सुविधाएं प्राप्त। मकान मिट्टी में पके ईंटों के बने थे। मिट्टी व चूना का पलस्तर का व्यवहार था। सभी शहरों में एक ही प्रकार व आकार के ईंटों का व्यवहार था। एक ही योजना नगर-निर्माण का आधार थी। मकान में स्नानागार का प्रबन्ध था। कुछ मकान दोतल्ले भी थे। कभी २ सीढ़ियाँ बाहर से दी गई थी। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दो स्वतन्त्र परिवार किराया देकर रह सकते थे। प्रत्येक मकान में द्वारपाल के रहने की व्यवस्था थी। वह रात्रि में चौकसी करता था। आँगन बड़ा रहता था, गाय-बैलों को यहीं बाँधा जाता था। आँगन में कहीं २ ऊँचे चबूतरों के अवशेष मिले हैं। शायद बाढ़ के जमाने में पानी मकान में घुस आता था, और लोग इस चबूतरे की शरण लेते थे। बड़े २ मकानों में अतिथिगृह, और विश्रामागार का भी प्रबन्ध था।

इन नगरों की सबसे बड़ी विशेषता थी शहर की सफाई और पानी निकालने का प्रबन्ध। प्रत्येक मकान में मिट्टी के बड़े नाद आँगन में रखे रहते थे जिनमें गन्दी चीज व गन्दा पानी जमा रखा जाता था, और जब वह नाद काफी भर जाता था तब उसका पानी बाहर नाबदान में डाल दिया जाता। मिट्टी के ऐसे बड़े नाद व घड़े जमीन में गड़े पाए गये हैं। आँगन में नाली भी पाई गई है, जिसके द्वारा गंदा व बरसात का पानी बाहर नाबदान में या गली व सड़क के नीचे बहते हुये नाले में गिरता था। प्रत्येक मकान में स्नानागार था। बाथ-रूम की गच खड़ी ईंटों (खड़ंजा) से इस तरह पाटी जाती थी कि पानी गच के अन्दर न चला जाय। गच नाली की ओर ढालुआ था। नाली से पानी बाहर नाबदान में गिरता था। बाथरूम में मिट्टी के खिलौने के कुछ टुकड़े पाये गए हैं। बच्चों को स्नान करने के समय खेलने के लिए दिये गये हों। शरीर का मैल साफ करने के लिए झाँवा के टुकड़े भी मिले हैं। आगे बता दिया गया है कि कुछ मकान दो मंजिले भी थे। कोठे पर भी बाथ-रूम की सुविधा थी। दुमंजिले से बाथ-रूम का पानी या बरसात की छत पर का पानी नीचे नाबदान में मिट्टी की टोंटी से गिरता

था। कुछ मकानों में मिट्टी की पाईप के अवशेष मिले हैं। मिट्टी की कई टोंटियों को छत पर से नाबदान तक जोड़कर पाइप बनाया जाता। जोड़ इतना अच्छा रहता कि बाहर से पता नहीं चलता। कभी २ तो पाइप वाली दीवाल को ईंट से इस तरह चुन दिया जाता था कि बाहर से पता नहीं चलता कि दीवाल में पाइप लगी हुई हो, बल्कि बाहर से दीवाल की खूबसूरती भी बढ़ जाती, और समूची कारीगरी शोभनीय होती। पाइप से पानी एकाएक पूरे जोर से नाबदान में गिर कर सड़क व गली में चलते हुए यात्रियों पर छींटें न उछाले इसलिए पाइप को कई जगहों पर जरा कोणाकार (टेढ़ा) कर दिया जाता जिससे गिरते हुए पानी का जोर कम हो जाय। जब नाबदान तीन चौथाई भर जाता तब उसका पानी स्वयं गली के नीचे बहते हुए नाले में गिरने लगता। गली व पगडण्डियों की नालियां खुली न रहतीं, बल्कि जमीन के नीचे बहतीं। वे सब सड़क व प्रमुख राज-पथों के पक्के नाले में मिल जातीं। जब एक नाली दूसरी नाली से मिलती तो संगम पर कोणाकार बना दिया जाता, जिससे पानी द्रुतगति से बहते हुये नाले के तल भाग के नीचे न चली जाय और भूमि को गीला कर दे। नाले पक्की ईंटों के बने थे, और सड़कों के दोनों ओर अन्दर ही अन्दर बहते थे। निश्चित अन्तर पर नाले में पक्के गड्ढे बने थे जिससे पानी जमा होता, और समय पर शहर के मेहतर इसे साफ करते। सड़क पर यहाँ-वहाँ नाली में मनुष्यों के उतरने के लिए छिद्र (Manhole) पाये गये हैं। कहीं २ तो नाली में उतरने के लिए छोटी-छोटी पक्की सीढ़ियां (Steps) बनी हुई थी। बराबर बाढ़ आने के कारण शहर तथा सड़कों का समतल ऊँचा होता रहता, इसलिए नाला काफी गहरा हो जाता। कभी २ तो नालों की सतह भी ऊँची कर दी जाती। नाबदान का पानी गलियों के नालियों में जाता, और गलियों की नाली का पानी प्रमुख सड़कों के नीचे बहते हुए नाले में गिरता। इस तरह शहर का अतिरिक्त पानी व गन्दा पानी सड़कों के नीचे बहता, और ये बड़े २ नाले इस बेकार व गन्दे पानी को शहर के बाहर ले जाते। इसका प्रमाण है

एक काफी बड़ा मेहराबदार नाली (Culvert) का अवशेष। शहर के कूड़ा-कर्कट फेंकने के लिए ईंटों के बने डस्टबिन मिलते हैं। समय पर मेहतर इन्हें साफ कर दिया करते थे।

इस तरह मोहन्जोदाड़ो व हरप्पा में सफाई का जो प्रबन्ध था वह आज भी हमारे प्रमुख शहरों के लिए अनुकरणीय है, और ईर्षा के योग्य। प्रमुख सड़कों के संगम पर कोठरी के अवशेष मिले हैं। शायद पुलिस के लिए यह व्यवस्था हो। इतना सुन्दर व योजनापूर्ण नगर अवश्य ही नगरपालिका के वार्डों में बंटा होगा, जिससे जन साधारण व शासक को सुविधा रहे। चोरों का भय बना रहता था। मकानों के प्रमुख द्वार सड़क की ओर न रहकर गलियों में खुलते। दो मकानों के बीच अलगाने वाली दीवाल (Partition wall) होती थी। दोनों ओर के मकान मालिक इस दीवाल को ईंटों से दुहरा मजबूत रखते, जिससे चोरों को सेंध डालने में दिक्कत हो। मकानों में खिड़कियों का अभाव का भी शायद यही रहस्य हो।

पानी का भी अच्छा प्रबन्ध था। मकानों में स्नानागारों का रहना इस बात का प्रमाण है कि लोग शारीरिक सफाई का काफी ध्यान रखते थे। बड़े २ मकानों में कुएं थे। कभी २ कई मकानों के लिए एक ही इनारा रहता। कुएं पक्की ईंटों के बने थे, और उनकी दीवाल में पानी नहीं घुस सकता था। इनारे के ऊपर मुंडेरे रहते। इन मुंडेरों पर पानी-भरने के बर्तन, (गगरे) इत्यादि के रखने के चिह्न मिले हैं। मिट्टी के बर्तन के कई टुकड़े नजदीक में मिले हैं। शायद लोग मिट्टी के गिलास में पानी पीकर उसे फेंक दिया करते थे। पनघट पर यात्रियों व पानी भरने वालों की भीड़ का अनुमान हमलोग लगा सकते हैं। आज की तरह उस समय भी पनघट शहर का गपशप (gossip) का केन्द्र रहा होगा।

शहर एक पूर्व निश्चित योजना के आधार पर बसाया गया था। शहर के अधिकारी इस ओर पूरी तरह सतर्क थे कि योजना का

अवहेलना न हो। घरों के जो अवशेष मिले हैं उससे साफ मालूम हो जाता है कि मकान निश्चित नमूने (Types) के आधार पर बने थे। मकान छोटे, मझोले व बड़े तीन नमूने के थे। मकान किसी एक टाइप (Type) के बनाये जाते थे। इसका प्रमाण मजदूरों का महल्ला है। मोहन्जोदाड़ो में एक किनारे सोलह मकान के अवशेष मिले हैं। सब एक प्रकार के हैं। समान क्षेत्रफल और एक ही ढांचा। आठ-आठ मकान दो समानान्तर पंक्ति में हैं, और इनके बीच एक तंग गली है, और दूसरी ओर सड़क है। दीवालें पतली हैं। इसलिए ये मकान एक-मंजिले रहे होंगे। आजकल के कुली-घर के ऐसे हैं। हरप्पा में किले के उत्तर नीचे में मजदूरों का एक महल्ला बसा था। चौदह मकान मिले हैं, सात २ की दो पंक्तियों में बने हुये। प्रत्येक घर में दो कोठरियां थीं, एक बड़ी और एक उनसे छोटी। मोहन्जोदाड़ो के कुली-घर से हरप्पा का कुलीघर अधिक बड़ा था। मध्यवर्ग व उच्च वर्ग के मकान में आंगन था, और आंगन की दो-तीन ओर कोठरियां थीं, कुछ बड़ी और कुछ छोटी। स्नानागार, भांडार, रसोईखाना, अतिथि-गृह सभी बड़े लोगों के काम में पाए जाते हैं। मकानों में अंगीठी का अभाव है। लकड़ी के कोयले की बोरसी से शरीर और कोठरी गर्म रखा जाता होगा।

असाधारण इमारतें

साधारण मकानों व दूकानों के सिवा मोहन्जोदाड़ो व हरप्पा में ऐसी विशाल ईमारतों के अवशेष मिले हैं, जो अवश्य ही विशेष प्रयोजन के निमित्त होंगे। मोहन्जोदाड़ो में एक बहुत बड़ा स्नानागार (Great Bath) मिला है। खुले चौखूटे आंगन के चारों तरफ बरामदे हैं। तीन बरामदे के पीछे कई गैलरी व कोठरियां हैं। दक्षिण की ओर एक लम्बा तंग बरमदा है जिसके प्रत्येक कोने में एक छोटा कमरा है। पूर्व में छोटे कमरे की एक कतार है, और दक्षिण में कई हाल व बड़े कमरे हैं। खुली आंगन के बीच में स्नान करने का तालाब है। यह आठ फीट

चित्र १



(पृ० १६) मोहेन्जोदाड़ो का विशाल स्नानघाट (Great Bath)



(पृ० १००) शिव (?): मोहेन्जोदाड़ो (*From a Cast*)
(पटना म्यूज़ियम के सौजन्य से)

गहरा, ३३ फीट लम्बा और २३ फीट चौड़ा है। दो ओर सीढ़ियों से नीचे उतरने का प्रबन्ध है। नीचे में दोनों ओर नीचा चबूतरा है जिस पर बच्चे व नाटे आदमी स्नान करते थे। इस तालाब में पानी एक कोठरी के कुएं से आता था, और पानी बाहर निकालने का भी रास्ता था। इस तालाब के उत्तर दो पंक्ति में कई गुसलखाने बने थे, इनके बीच थोड़ा रास्ता छोड़ दिया गया था, आने जाने के लिए, या पानी ले जाने के लिए। इन गुसलखानों के दरवाजे इस तरह बने थे कि आमने-सामने के गुसलखाने में नहाने वाले एक दूसरे को नहीं देख सकते थे। इन स्नानागारों के ऊपर छोटी कोठरियां थी, जिनमें शायद यात्री व पुजारी ठहरा करते। स्नानागार से ऊपर की कोठरी में जाने के लिए खास सीढ़ी का प्रबन्ध था। मार्शल साहब ग्रेट-बाथ के समीप 'हम्माम' का भी प्रबन्ध का अनुमान करते हैं। ठंडे व गर्म भाप से स्नान करने का प्रयोग भी लोग जानते होंगे। हिन्दुस्तान में धार्मिक व सामाजिक अवसरों पर इकट्ठे नहाने का रिवाज है। शायद ग्रेट-बाथ इसी प्रकार का कोई पुण्य स्थान हो, या उसके समीप ही विशेष अवसरों पर स्नान करनेवालों का मेला लगता हो। पुजारियों व पण्डों का ऐसे स्थानों पर रहना स्वाभाविक है। ग्रेट-बाथ का पूरा क्षेत्र २३० फीट × ७२ फीट है। इसकी विशालता का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है।

एक और भव्य इमारत स्तूपवाले टीलेके दक्षिण है। ९० फीट समचतुर्भुज के आकार का एक बड़ा कमरा (Hall) मिला है। इसकी छत पांच-पांच की चार कतारों की २० ईंटों की खम्भों पर टिकी थी। इन समानान्तर कोराइडरों की गच ईंट से पीटी हुई थी, और खम्भों के बीच की जमीन गच नहीं है। यह संभव है कि यहां पर बैठने के लिए लकड़ी की छोटी बेन्चें रखी गई हों, जो अब नष्ट हो गई हैं। क्या यहां बाजार लगता था? ऐसे स्थानों पर आजकल बाजार लगता है; या यह एक

बड़ा धार्मिक सभा-भवन था, जहाँ बैठकर लोग धार्मिक चर्चा करते व भाषण सुनते थे। स्तूप वाले टीले का सामीप्य धार्मिक महत्व की ओर संकेत करता है।

हरपा में अन्नों का एक बड़ा गोला (Granary) का अवशेष मिला है। दो समानान्तर पंक्ति में ५२ फीट लम्बा 'अवेष्ठित प्रतिष्ठान है'। इनके बीच २३ फीट चौड़ा रास्ता है। दीवाल की मुटाई ९ इंच है। हाल ही में मोहन्जोदाड़ो में भी एक विशाल गोला का पता चला है।

मैके साहब (Mackay) की वह यह धारणा है कि मोहन्जोदाड़ो में बौद्ध स्तूप के नीचे सबसे बड़ी इमारत पड़ी है। २० फीट ऊँचे चबूतरा पर एक विशाल भवन के अवशेष मिले हैं, और यह शायद नगर का प्रमुख मन्दिर हो। इसके ऊपर स्तूप बनाया गया है। साधारणतः पुराने धार्मिक भवनों के ऊपर नये धर्म-मन्दिरों के निर्माण किए जाते थे। मन्दिर के ध्वंशावशेष पर मस्जिदें मुसलिम युग में बनाई गई थी। सुमेर में भी प्रत्येक शहर का सबसे भव्य भवन प्रमुख मन्दिर ही होता था।

शहर के उत्तरी भाग में, मध्यसड़क के उत्तर की ओर, एक विशाल भवन के चिह्न पाये जाते हैं। इसका क्षेत्रफल २४२ फीट लम्बा, १०० फीट चौड़ा और दीवाल पाँच फीट चौड़ी थी। पीछे चल कर इसके ऊपर मामूली मकान बनाये गये थे। यह भवन गैर मजहबी मतलब का था। शायद सर-कारी आफिस रहा हो। इसके दक्षिण राजमहल के अवशेष पाए गये हैं। इसकी राजगिरी अद्वितीय है, बड़े २ मकान एक विस्तृत आंगन के चारों ओर बने थे। कई भण्डार, और नौकरों के और धातु के काम करनेवाले कारीगरों के रहने के लिए कोठरियाँ भी थी। यह भी गैरधार्मिक संस्था का स्थान था। शायद मोहन्जोदाड़ो में राजा भी होता था। क्रीट में नौसस् (Knossus) में राजमहल का नक्शा इसी प्रकार का है।

सड़कों के कोने पर मकानों के ध्वंश मिले हैं। यहाँ शायद जल्पान-गृह व पनसल्ला रहा हो। एक मकान में, एक होल स दूसरे छोटे कमरे में जाने के लिए रास्ता था। बड़ा हाल शायद जल्पान-गृह रहा हो, और छोटा कमरा भण्डार (Pantry) रहा हो, जहाँ चीजें इकट्ठी कर रक्खी जाती हों।

अतः मोहन्जोदाड़ो की नगर-योजना प्राचीन युग में अद्वितीय थी, और आज भी एशिया के प्रमुख शहरों के लिए अनुकरणीय। पूर्व-योजना के आधार पर शहर बसाना वर्तमान युग की विशेषता समझी जाती है। पर आज से पाँच हजार वर्ष पहले मोहन्जोदाड़ो नगर वर्तमान योजनानुकूल नगर के समान था। उसकी सड़कें टेढ़ी-मेढ़ी नहीं थीं, वरन् सीधी और चौड़ी। शहर का विकास घटनाक्रम पर नहीं छोड़ा गया था, पर पूर्व-विवेक का परिणाम था। मोहन्जोदाड़ो की स्वच्छता और स्वास्थ्य-संबंधी साधन मेसोपोटेमिया के समकालीन ऊर व किश् नगर में नहीं पाए जाते। मोहन्जोदाड़ो प्राचीनकाल का सबसे स्वस्थ नगर रहा होगा।

धर्म

हरप्पा वासियों का धर्म क्या था? उनके देवी-देवता कौन थे? धार्मिक विधि क्या थी? इन सब प्रश्नों का समुचित उत्तर अभी नहीं दिया जा सकता। सबसे विलक्षण बात यह है कि अभी तक कोई ऐसा भवन नहीं मिला है जिसे निश्चय ही मंदिर कहा जाय। क्या मंदिर नहीं होते थे? बौद्ध स्तूप की खुदाई के बाद शायद मंदिर का पता चले। छोटी २ मिट्टी की स्त्री-मूर्तियाँ मिली हैं। इससे यह पता चलता है कि उस समय मातृपूजा का बहुत प्रचार था। मातृपूजा का प्राचीन सभ्यताओं में जैसे मेसोपोटेमिया, मिश्र या क्रीट के धर्म में सबसे ऊँचा स्थान था। ये मूर्तियाँ करीब-करीब नंगी हैं, या बहुत छोटा घाघरा पहनी हुयी हैं। सर का साफा (Head dress) विचित्र प्रकार का था। पंखे की आकार का भारी बोझ सर का शृंगार था। दोनों ओर प्यालानुमा चीजें बनी हुई थीं। शायद धूपदानी

रखीं हों। गले में कई प्रकार के हार पड़े हैं जो त्रिकोणाकार सजे हैं। एक मुहर पर एक स्त्री की मूर्त्ति उल्टी पड़ी है, सर नीचे पैर ऊपर और गर्भाशय से एक पौधा निकला हुआ है। कुछ लेख भी है जिसे पढा नहीं जा सकता। दो पशु-पिशाच हैं (Genii)। मुद्रा की दूसरी ओर वही लेख दुहराया गया है। एक स्त्री जमीन पर बैठी हुई है, और उसके दोनों हाथ ऊपर उठे हैं। पास में एक मनुष्य हंसिया लेकर खड़ा है। क्या यह देवी के सामने नर बलि का दृष्टान्त है? मातृपूजा, देवीपूजा आज भी खूब प्रचलित है, और आदिम जातियों में सबसे प्रधान पूजा है। काली, दुर्गा मातृदेवी के ही रूप हैं।

मातृदेवी की पूजा के अलावे एक प्रमुख देवता की भी पूजा होती थी। एक मुद्रा पर एक ध्यानावस्थित योगासन में प्रायः नंगा पुरुष की मूर्त्ति है। उसके तीन सिर हैं। दोनों हाथों में बड़े २ कड़े व बाजूबन्द हैं। सर पर त्रिशूलनुमा साफा है। दोनों ओर पशु खड़े हैं, व्याघ्र व हाथी दाहिने ओर, गैंड़ा (Rhionceros) और भैंस बायीं ओर। छोटे चबूतरे पर, जिस पर, मूर्त्ति बैठी हुई है, दो मृग की मूर्तियां हैं। मार्शल साहब इस मूर्त्ति को हिन्दूकालीन शिव का प्राचीन रूप समझते हैं। पशुओं से घनिष्ट संबंध के कारण इसे हम पशुपति कह सकते हैं। योगमुद्रा महायोगी शिव का प्रिय मुद्रा है। सर पर त्रिकोणाकार श्रृंगार पीछे चल कर त्रिशूल बन गया हो। विश्व की सभी प्राचीन सभ्यताओं में मातृदेवी के साथ एक प्रमुख देवता का घनिष्ट संबंध माना गया है। हिन्दूधर्म में भी यही बात मिलती है। हरप्पा व मोहन्जोदाड़ो में अभी कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिला है जिससे हम यह निश्चयपूर्वक कह सकें कि मातृदेवी और इस देवता (शिव ?) का अचूक सम्बन्ध था। पर ऐसा संबंध रहा हो, यह अनुमान के परे की बात नहीं है।

योगाभ्यास इस काल के धर्म का अंग था, यह शिव की मूर्ति के अलावे दूसरी मूर्तियों से भी पता चलता है। पत्थर की कुछ मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें योग मुद्रा है। आँखें आधी खुली हैं, सर, गर्दन व सीना ऊँचा है। मातृपूजा, शिवपूजा व योगाभ्यास जो पीछे चल कर हिन्दूधर्म के अभिन्न अंग बन गये हैं, शायद इस प्राचीन धर्म से ही निकले हों। पत्थर की एक टूटी मूर्ति मिली है। इसके तीन सिर थे ऐसा मालूम होता है। यह एक नर्तक की मूर्ति है। मूर्ति दाहिना पैर पर खड़ा है, बायां पैर उठा हुआ है और मूर्ति बाईं ओर झुकी है। मार्शल साहब का विचार है कि यह मूर्ति शिव का नर्तक-रूप है। पर हिन्दू-साहित्य में त्रिमूर्ति ब्रह्मा का भी उल्लेख आया है।

पशुओं की पूजा, व जानवरों को ईश्वरीय दूत समझना इस धर्म का सार्वजनिक अंग था। मिट्टी की बहुत सी मानवीय मूर्तियों में बकरी व साँड़ के सींग पाए जाते हैं। इससे यह प्रत्यक्ष है ये पशु धार्मिक महत्व के समझे जाते थे। कई ताबीज व जन्तर मिले हैं जिनमें जानवरों की मूर्ति है। जानवरों की पत्थर की मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिनका आशय धार्मिक ही होगा। भेड़, बकरी, कई प्रकार के साँड़, व्याघ्र हाथी, गैंड़ा, मगर, पेड़की इत्यादि धार्मिक महत्व के पशु हैं।

मुहरों या जन्तर पर सबसे अधिक संख्या में एक सींगवाला साँड़ चित्रित है। इसके सामने एक स्तम्भाकार चीज खड़ी है। ऊपर और नीचे के दो बर्तन एक सीधा डन्डा से जुटे हुये हैं। इसका क्या अर्थ है नहीं कहा जा सकता।

सर्पों या नागों का भी धार्मिक महत्व था। पत्थर के एक टुकरे पर एक बैठे हुवे मनुष्य की दोनो ओर फन खोले हुवे साँप हैं।

पशु-पूजा और भी प्राचीन सभ्यताओं में पाई जाती है। जानवरों से मनुष्यों को बहुत पहले भय था। वे उन्हें देवताओं के रूप समझते थे। इसलिए भय से उनकी पूजा करते। कुछ जानवरों को देवताओं का दूत

समझा जाता था। उनकी पूजा से देवता का आशीर्वाद प्राप्त किया जा सकता था। पीछे चलकर कई जानवर भिन्न २ देवी-देवताओं के वाहन समझे जाने लगे। हरप्पा सभ्यता का धर्म और ऐतिहासिक हिन्दूधर्म दोनों में पशु पूजा पाई जाती है। मोहन्जोदाड़ों व हरप्पा में कई मुहरें पाई गई हैं जिनमें एक से अधिक पशुओं का व उनके अंगों का सम्मिश्रण है। एक मुहर में लेटे हुये भेड़ के सामने एक लम्बी चीज लटक रही है, जो हाथी का मुँह है। यह भेड़ व हाथी दो पशु—देवताओं का मिश्रण है। एक मुहर में चार पशुओं के सिर हैं—तीन प्रकार के सांड़ और एक व्याघ्र का, और दो भिन्न पशुओं की गर्दन हैं। इस तरह के दृश्य से यही पता चलता है कि कई धार्मिक पन्थों का, भिन्न२ देवताओं का, सम्मिश्रण किया गया था। आशय शायद यह रहा हो कि इससे पूजा करने वाले को अधिक ताकत व फल मिलता है। एक ताबीज पर व्याघ्र की मूर्त्ति है, उस पर एक देवी बैठी है। देवी को बकरी की सींघ हैं, शरीर व पूंछ बाघ का है, और सिर में से फूलों का गुच्छा निकल रहा है। एक मुहर में विजयी भैंस कुछ लोगों पर आक्रमण कर रहा है। व्याघ्र देवी की पूजा अभी भी कुछ जातियों में होती है। व्याघ्र देवी का वाहन भी माना गया है। भैंस यम का वाहन है। इस तरह हम हरप्पा-कालीन धर्म और हिन्दूधर्म में काफी समानता पाते हैं। एक ठप्पे पर सींघ वाले मनुष्य के पैर व पूंछ सांड़ के हैं, और वह सींघ वाले बाघ से युद्ध कर रहा है। कुछ मुहरों पर एक बलवान मनुष्य, जिसके घुंघराले बाल मुंह पर लटक रहे हैं, दो बाघों से लड़ रहा है। ऐसे दृश्य प्राचीन सुमेर में भी पाये गए हैं। सींघदार मनुष्य (Horned-men) के चित्र प्राचीन मिश्र व सुमेर में धार्मिक महत्व रखते थे। ऋग्वेद में भी 'सुवर्णसींघ वाला असुर' का उल्लेख है।

इस समय वृक्षों की भी पूजा प्रचलित थी। कुछ वृक्ष पूजे जाते थे, और कुछ वृक्षों का देवताओं या देवताओं के दूतों से घनिष्ट सम्बन्ध था। इस आशय को स्पष्ट करने के लिए एक जन्तर-मुहर पर खुदे हुये दृश्य पर ध्यान देना जरूरी है। वृत्ताकार जमीन से एक पीपल का पेड़,



पृ० १०१) बाह्मी साड़ (मोहन्जोदाड़ो) (*From a Cast*)
(पटना म्यूजियम् के सौजन्य से)



(पृ० १०२) मोहेन्जोदाड़ो : एक मनुष्य का दो व्याघ्रों से लड़ना (*From a Cast*)

(पटना म्यूजियम् के सौजन्य से)

जिसकी दो शाखाएं चित्रित हैं, निकल रहा है। इन दो शाखाओं के बीच में एक सींघदार मनुष्य खड़ा है। इसके बाल लम्बे और घुंघराले हैं। सिर पर त्रिशूलनुमा साफा है। मूर्त्ति वस्तुतः नंगी है। उसके सामने एक व्यक्ति भक्तिमुद्रा में घुटने टेके हुये है। इसकी भी चोटी लम्बी है, बाहों में बाजूबन्द हैं और सर पर सींघों के बीच फूल का एक गुच्छा निकला आ रहा है। इस मूर्ति के पैर के समीप एक छोटे स्टूल पर एक चीज रक्खी हुई है। इस व्यक्ति के पीछे एक बकरीनुमा पशु जिसका चेहरा मनुष्य का है खड़ा है। मुहर के निचले भाग में सात स्त्रियों की खड़ी मूर्तियां हैं। इस दृश्य का अभिप्राय समझना आसान नहीं है। मार्शल साहब वृक्ष के बीच की मूर्ति को स्त्री मूर्त्ति समझते हैं, और उसे 'उपज की देवी' मानते हैं। घुटने टेकने वाला व्यक्ति पुरुष है, और देवी की आराधना कर रहा है। बकरी शायद बलिदान के लिए है। सात स्वर्ग की परियाँ गवाह हैं। शीतला महारानी भी सात बहन हैं। कौन जाने ये मूर्तियाँ शीतला और उसकी बहन ही हों। कुछ लोग वृक्ष के बीच की मूर्ति को पुरुष की मूर्ति समझते हैं। वृक्ष देवी के अलावे वृक्ष-देव भी होते हैं। बकरी का चेहरा मनुष्य का है, और वह भक्त के पीछे खड़ा है इसलिए संभव है कि वह बलिदान का बकरा न होकर, वृक्ष देव का दूत हो, और भक्त को देवता के सन्निकट लाने का श्रेय उसी का हो। कुछ भी हो यहाँ हम वृक्ष-देव व वृक्ष देवी की पूजा देखते हैं। एक दूसरे मुहर पर के अंकित दृश्य से यह आशय और भी स्पष्ट हो जाता है। वृक्ष के बीच एक देवता हैं, और उनके सामने एक भक्त घुटने टेक रहा है, इस भक्त के सर पर सींघदार साफा नहीं है। इसके हाथ में एक छूरी है, और सामने एक बकरा, जिसकी आकृति मनुष्य की नहीं है। मुहर के ऊपर के भाग पर ६ मूर्तियां खड़ी हैं। यह दृश्य किसी वृक्ष-देव की पूजा है जिसमें बकरा का बलिदान होता होगा।

वृक्षों में पीपल व नीम पवित्र वृक्ष समझे जाते थे। आज भी ऐसी ही धारणा है। कुछ मुहरों पर पीपल के वृक्ष के जड़ के चारों ओर एक

छोटा चबूतरा बना है, शायद पूजा की सुविधा के लिए। आज भी ऐसी चीज पाई जाती है। हरप्पा के एक प्रसिद्ध ठप्पे पर पीपल का एक वृक्ष है जिसके अधोभाग से एक सींघ वाला विशेष पशु का सिर व गर्दन निकले आ रहे हैं। एक सींघवाला पशु अवश्य ही देवता व देवतुल्य समझा जाता था। क्या एकशृंगी पशु का वृक्ष-देवी से घनिष्ठ सम्बन्ध था? एक दूसरे मुहर पर एक वृक्ष चित्रित है, इस वृक्ष की फुनगी पर एक पशु का सिर निकला हुआ है, और सर पर सींघ हैं, जिसके बीच में फूलों का गुच्छा निकल रहा है। इस वृक्ष के चारों ओर अधोभाग में एक ऊँचा चबूतरा है। एक और मुहर में हम दो मनुष्यों को एक वृक्ष के दो शाखाओं को या एक प्रकार के ही दो वृक्षों को पकड़े देखते हैं। शायद यह वृक्ष रोपन का धार्मिक महत्त्व का प्रमाण है, या कोई विशेष त्योहार रहा हो।

इस काल में लिंग-पूजा का भी चलन था। कई चिकने नोकदार पत्थर मिले हैं, जिन्हें हम लिंग-पूजा का प्रतीक समझते हैं। वैदूर्य पत्थर (Lapis-lazuli) के बने दो इंच लम्बे लिंगाकृति के पत्थर बहुत से मिले हैं, जिन्हें शायद लिंग-सम्प्रदाय के अनुयायी अपने पास बराबर रखते रहे हों। ऐतिहासिक कालमें लिंगायत-सम्प्रदाय के माननेवाले पीछे चलकर ऐसा करते थे।

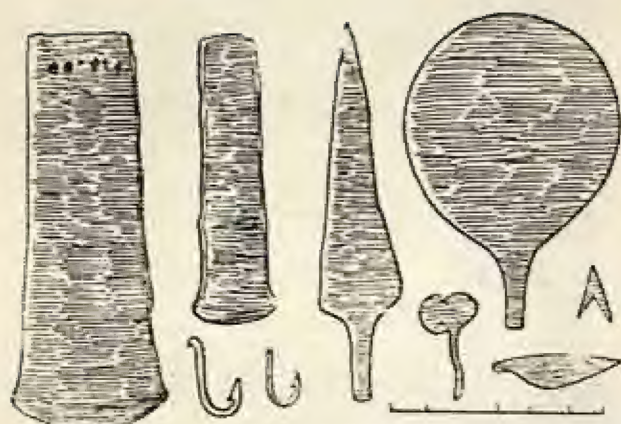
पत्थर के बड़े चक्र मिले हैं जिन्हें कुछ लोग योनि (स्त्रीलिंग) का प्रतीक समझते हैं। कई तो अंगूठी के समान छोटी भी हैं। प्राचीन काल में यह समझा जाता था कि स्त्रीलिंग के प्रतीक को अंगुली में पहने रहने से या गले में पहने रहने से बुरे ग्रहों की शान्ति होती है या प्रेतों से भय नहीं होता। एक योनि में स्थित लिंग भी मिला है। लिंग पूजा अवश्य ही प्रचलित थी। पर शिव (?) से उसका सम्बन्ध था या नहीं, हम नहीं कह सकते।

पूजा व धार्मिक उत्सव में जुलूस, नृत्य व गाना-बजाना का भी स्थान था। दो जन्तरों में एक सांड़ की मूर्ति जुलूस में ले जाया जा रहा है। हरप्पा से प्राप्त एक मुहर में एक मनुष्य बाघ के सामने ढोल पीट रहा



(पृ० १०४) मोहेन्जोदाड़ो : पीपल का वृक्ष और दो एक सींग वाला सिर (*From a Cast*)

(पटना म्यूजियम् के सौजन्य से)



(पृ ११०) हड़प्पा सभ्यता के धातु के औज़ार।

है। एक दूसरे ठप्पे पर एक स्त्री धर्मस्तम्भ के समीप नाच रही है। एक पत्थर के टुकड़े पर एक मनुष्य ढोल बजा रहा है, और लोग उसके ताल पर नाच रहे हैं। काँसे की एक नृतकी की मूर्ति का भी शायद धार्मिक महत्व ही हो। ऐतिहासिक काल में देवदासी देवता की मूर्ति के सामने नाचती थी।

कुछ ठप्पों पर स्वस्तिका, यूनानीकास भी मिले हैं। उस समय भी इनका शायद धार्मिक महत्व रहा हो।

जन्तर पर बहुत विश्वास था। अमूल्य पत्थर व मामूली मिट्टी के जन्तर मिले हैं, जिन पर पशुओं के चित्र और भिन्न २ धार्मिक दृश्य अंकित हैं। कुछ जन्तरों में दो-दो छेद हैं, जिससे पता चलता है कि इन्हें गले में या बाजू में बाँधा जाता था।

जल का भी धार्मिक महत्व रहा होगा। मकानों में स्नानागार का विशेष प्रबन्ध था, और एक बृहत् तालाब (Great bath) और उसके ईर्द-गिर्द मकानों का पता चला है। इसका धार्मिक महत्व ही होगा। विशेष पर्वों में यह सम्मिलित पुण्यस्नान का स्थान होगा। हिन्दुओं के मन्दिर अधिकतर तालाब के समीप ही बने हैं। पर्वों के अवसर पर सम्मिलित स्नान एक साधारण घटना है।

हरप्पा निवासियों के धर्म का रूप का आभास अब आपको मिल चुका होगा। उनके दर्शन व धर्मसिद्धांत का पता नहीं है क्योंकि उनकी लिपि अभी तक पढ़ी नहीं गई है। पर धर्म के इन बाहरी लक्षणों की विवेचना करने के पश्चात् यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि हिन्दूधर्म ने हरप्पा धर्म के कई लक्षणों को अपना लिया। मातृ-पूजा, शिवभक्ति, लिंग-योनि पूजा, पशु-पूजा व कुछ पशुओं को ईश्वरीय दूत समझना, पीपल व नीम के वृक्ष की पूजा व वृक्ष-देव व देवी में विश्वास, धार्मिक उत्सवों में जलूस, नृत्य, गान का व्यवहार, जन्तर-मन्तर में श्रद्धा, योगाभ्यास इत्यादि लक्षण हिन्दू धर्म व हरप्पा धर्म में एक समान पाए जाते हैं। ऐसा समझना निराधार न होगा कि आर्यों ने अनार्यों पर विजय प्राप्त कर कालक्रम

से इनके धर्म के कई प्रमुख अंगों को स्वीकार कर लिया, और पीछे चलकर हिन्दूधर्म के ये अभिन्न भाग बन गये। हिन्दूधर्म की यही विशेषता बराबर रही है कि यह अपने विशाल हृदय में भिन्न २ सम्प्रदायों को स्थान देकर उन्हें अपने में समन्वय कर लेता है।

मृत संस्कार

हरप्पावासियों के मृत-संस्कार के विषय में अभीतक पूरा पूरा पता नहीं चला है। मोहन्जोदाड़ो में सभी उम्र के मनुष्यों के, स्त्री-पुरुष, बूढ़े-बच्चों के अस्थिपंजर एक जगह मिले हैं। पर वे ऐसी दशा में पड़े हैं, कि उस स्थान को कब्रगाह नहीं कहा जा सकता। मालूम तो यही होता है कि ये लोग अपमृत्यु (Violent death) के शिकार हो गये हैं। हरप्पा में शहर के बाहर करीब बीस मनुष्यों के अस्थिपंजर एक दूसरे से सटे पाए गए हैं। कहना मुश्किल है कि यह एक साधारण कब्रगाह था या इसका कुछ दूसरा मतलब है। इसी शहर में एक जगह आंशिक दफन (Fractional Burial) के चिन्ह मिले हैं। मनुष्य के शरीर की कुछ अस्थियों को जमा कर गाड़ने की प्रथा शायद उस समय भी प्रचलित थी। दाहक्रिया के पश्चात् किसी बर्तन में कुछ अस्थियों को जमा करने की वर्तमान विधि उस समय प्रचलित थी। मोहन्जोदाड़ो व हरप्पा में कई शवभस्म रखने के पात्र मिले हैं, जिनमें जले हुये राख के साथ हड्डियाँ भी मिली हैं। शायद शव को जलाने की प्रथा का भी व्यवहार होता था, और अग्नि में से चुन कर भस्म को बर्तन में रखा जाता, और बाकी सब कुछ नदी में डाल दिया जाता होगा।

हाल की खुदाई से हरप्पा में एक मुख्य कब्रगाह का पता चला है। यह कब्रगाह कई पीढ़ियों तक कायम रहा और हरप्पा-सभ्यता का समकालीन है। इसके ५७ कब्र खोदे गये। शव का सर उत्तर की ओर रखा जाता था, और शव लम्बा रखा जाता। कब्र काफी बड़ा खुदा

रहता जिसमें मिट्टी के बीसों पात्र रखे जा सकते थे। मृतकों के साथ उनके खास जेवरात व शृंगार की चीजें गाड़ी जाती थीं। कुछ कब्रों में शव के दाहिने हाथ की अंगुली में ताम्बे की अंगूठी है। कुछ में पाये गए हैं गले के हार व पैर के पायजेब, बाला व माला के दानों के तार और सुरमा करने की सलाई। बारह कब्रों में ताम्बे के मूंठदार आइने मिले हैं। एक लकड़ी का बक्स मिला है जिसमें एक लड़की का अस्थि पंजर है, और वह सरी (Reeds) के कफन से ढका है। शव की रक्षा का प्रबन्ध प्राचीन सुमेर में भी होता था।

हरप्पावासियों का सामाजिक व आर्थिक जीवन

हरप्पा में दुर्ग के प्रामाणिक अवशेष मिले हैं। मोहन्जोदाड़ों में भी दुर्ग-क्षेत्र मिलने की सम्भावना बहुत है। दुर्ग में शासक और उसके कर्मचारी रहते होंगे। ऐसा बहुत संभव है कि जिस तरह प्राचीन सुमेर के नगरों का शासन धार्मिक व सियासी दोनों उच्चाधिकारियों के अधीन था, हरप्पा में भी यही नक्शा रहा हो। हरप्पा व मोहन्जोदाड़ों के भवन भी समाज के भिन्न २ वर्गों की स्थिति का ज्ञान देते हैं। समाज में सबसे ऊँचा स्थान शासक का था, जो शासन में उच्च पुरोहित की सलाह शायद लेता रहा हो। गढ़ के क्षेत्र में ही कुछ और बड़े मकान के अवशेष मिले हैं, जिसमें उच्चवर्ग के अमीर-उमराव रहते होंगे, या सरकार के सर्वोच्च कर्मचारी। इसके बाद मध्यमवर्ग का स्थान आता है, जिनके मकान साधारण थे। चार-पाँच कोठरियाँ थीं, स्नानागार का प्रबन्ध था। कृषक, धातु के कारीगर, बनियां मध्यम वर्ग के प्रतिनिधि थे। निम्न वर्ग के लोग छोटे २ मकान में रहते थे। छोटे कारीगर, कुली-मजदूर, व कुम्भकार के मकान दो कमरे के होते थे। समाज में इनका स्थान नीचे था। शहर के बाहर सीमा पर ही खास मुहल्ले में इनके क्वार्टर रहे होंगे। प्रत्येक सभ्रान्त मकान में नौकरों व चौकीदार के रहने के लिए खास कमरा था। तृतीय वर्ग (Third Estate) की संख्या काफी रही होगी।

कृषि

असमानता पर आधारित यह समाज-व्यवस्था अतिरिक्त अन्न के सिद्धांत पर ही टिक सकती थी। मोहन्जोदाड़ो-हरप्पा के शासकवर्ग, धनी सेठ और कारखाने के कारीगरों के लिए कृषकों को अतिरिक्त अन्न उपजाना पड़ता था। बड़ी २ नदियों से नहरें निकाली गई होंगी, अन्न के यातायात में भी इनसे मदद मिलती होगी। शासक का यह कर्त्तव्य था कि वह ऐसी व्यवस्था करे कि अतिरिक्त अन्न उपजे और जो कृषक नहीं हैं उन्हें अन्न मिले। सिन्ध की उपजाऊ भूमि में अतिरिक्त अन्न मेहनत करने से ही पैदा हो सकता था। कृषक व खेत-मजदूर को काफी परिश्रम करना पड़ता था। गेहूँ और जौ की खेती होती थी। तिल और मटर उपजाया जाता था। राई भी पैदा होता था। इस प्रकार भोजन के लिए अन्न, तेल और मसाला उपजाया जाता। भोजन आजकल के समान ही था।

कपास

सबसे आकर्षक बात यह है कि इस समय यहाँ कपास की भी खेती होती थी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मोहन्जोदाड़ो में मिला है। एक चाँदी के कलश में सूती कपड़े के टुकरे लिपटे हुये थे। ये लाल रंग में रंगे हुए थे। यह सूत जंगली कपास का नहीं, वरन् उस कपास का है जिसकी खेती अभी भी इस प्रदेश में होती है। मिश्र के कुछ प्राचीन ममी (रक्षित मृतक-शरीर) सूती कपड़ों से लिपटे हैं। वह सूती कपड़ा भारत से ही आया होगा। यहाँ से सूती कपड़ा मेसोपोटेमिया भेजा जाता था।

पशुपालन

कृषि पर आधारित आर्थिक व्यवस्था के लिए पशुपालन आवश्यक है। हरप्पा-सभ्यता में कई प्रकार के पालतू पशुओं का पता चलता है। भिन्न २ प्रकार के पशुओं की हड्डियाँ मिली हैं। ककुदवाले साँड़ (Hump-edull) के कई किस्म पाए गये हैं। बिना ककुद के ठिगने कद और छोटी सींग वाले साँड़ भी थे। भैंस, बकरी और भेंड़ पाले जाते थे। बकरे व भेंड़ के

बाल से गर्म कपड़ा तैयार किया जाता था। दो प्रकार के कुत्तों के भी चिन्ह मिले हैं। बिल्लियाँ आज-कल की तरह तब भी पोसी जाती थीं। चान्हूदारों में एक ईंटे पर एक कुत्ते और बिल्ली के पैर के निशान हैं; एक दूसरे का पीछा कर रहे थे। एक विशेष नस्ल के ऊंट की हड्डियाँ हरप्पा में मिली हैं। ठिगने कद के देशी घोड़े भी पोसे जाते थे। गदहे भी पाए गये हैं। दो नस्ल के हाथी पोसे जाते थे। मुहरों व ठप्पों पर हाथी के चित्र काफी संख्या में खुदे हैं। देशी घोड़े व ऊंट का इस काल में पोसा जाना हरप्पा-सभ्यता की, समकालीन सभ्यताओं की तुलना में, विशेषता है। इन पाल्तू जानवरों के अलावे गैंड़ा, व्याघ्र, मगर, जंगली भैंस इत्यादि भी इस प्रदेश में उस समय पाए जाते थे।

धातु के कारीगर

कृषि व पशुपालन के अतिरिक्त जीविकोपार्जन के और भी अनेक साधन थे। इस युग में सोना, चाँदी, ताम्बा, और काँसा इत्यादि धातुओं के कई चीज बनाए जाते थे। धातुओं की कारीगरों की संख्या काफी थी। धातु की बनी चीजें सिर्फ उपयोगी ही नहीं, वरन् सुन्दर कारीगरी की भी होती थी।

ताम्बा राजपूताना, बलूचिस्तान, छोटा नागपुर या अरब से मंगाया जाता होगा। ताम्बा का प्रचुर व्यवहार होता था। ताम्बा को बंग (tin) से मिश्रित कर काँसा बनानेकी विधि ज्ञात थी। ताम्बा को गलाया भी जाता था, क्योंकि मोहन्जोदाड़ो में ईंट से पाटे हुये कई गड्ढे मिले हैं जिनमें कच्चा ताम्बा के ढेर पाएगए हैं। पर अभी तक कोई भट्ठी नहीं मिली है। धातु की चीजों में सबसे अधिक मात्रा में काँसे की सुराही है, कटोरा, हत्थेदार तवा, तेजधार वाली लम्बी और छोटी कुल्हाड़ी है। काँसा की एक आरी, जिसकी मूठ लकड़ी की थी, मिला है। ताम्बा की बनी दो तलवार भी मिली हैं, छूरे व छूरियाँ भी पाई गई हैं। मछली फसाने का काँटा भी काँसा का होता था। चार प्रकार के बाल-बनाने वाला छूरा मिला है। इनमें एक दो-धारी छूरा है, जिसमें एक लम्बा मूठ लगा हुआ है। कुछ पात्रों में लेख व चिन्ह खुदे हुये हैं, शायद वे व्यापार के विशिष्ट चिन्ह (Trade-

mark) हों, या स्वामित्व के चिन्ह। ढाले हुये कांसे की मूर्तियां व खिलौने भी मिले हैं। नर्तकी की कांसे की मूर्ति कला की दृष्टि से विलक्षण है। बैलगाड़ी व तांगे के नमूने मिले हैं।

सीसा (Lead) का भी व्यवहार होता था। सीसे की एक तस्तरी मिली है।

सुवर्णकार का पेशा खूब चलता था। सोने-चांदी के बर्तन या आभूषण काफी मिले हैं। स्त्री व पुरुषों की मूर्तियों में हम आभूषण का व्यवहार देखते हैं। कनरधनी, गले के हार, इयररिंग, नाक का बेसर, बाला, बाजूबन्द और कंगन मिले हैं। मोहन्जोदाड़ो में एक बहुत ही सुन्दर सोने का कंगन मिला है जिसमें सोने के दानों की ६ समानान्तर कतार हैं और दानों के बीच में निश्चित अन्तर पर सोना का पत्तर बीच में पाया जाता है। अपनी सरलता और बनावट की अनूकता के लिए यह प्रशंसनीय है।

माला का दाना (Bead making)

माला का दाना (Bead) बनाने का रोजगार खूब बढ़ा चढ़ा था; सोना के दाने के बने कंगन का उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। बहुमूल्य पत्थरों के, कसकट के, सोना और चांदी के लम्बे व वृत्ताकार दाने बनते थे। इन दानों में बारीक छेद भी किया जाता था। छेद करने में काफी कौशल की आवश्यकता थी। अकीक (Carnelian), और Jadeite के दानों के हार बनते थे। कई और पत्थरों के दाने बनते थे। पत्थरों के परत को लम्बा तोड़ा जाता, उसको निश्चित आकार का बनाया जाता, और फिर हड्डी से घिस कर उसे चिकना किया जाता था। अन्त में सूराख किया जाता था। कभी-कभी दो और अधिक पत्थरों को जोड़कर दाना बनाया जाता। पीपे के आकार का करीब आधा इंच लम्बा एक दाना पाया गया है। यह पांच रंग-बिरंगे पत्थरों के टुकड़ों का बना हुआ है, पर ये टुकड़े इस चतुराई से जोड़े गए हैं कि यदि ये टूटे न रहते तो पता न चलता कि यह एक ही बहुरंग पत्थर

चित्र १५



(पृ० २१२) मोहेंजोदाड़ो–मिट्टी के रंग बर्तनों के टुकड़े (*From Casts*)
(पटना म्यूजिअम् के सौजन्य से)

चित्र १६



(पृ० ११७) मोहेन्जोदाड़ो : पुजारी (?) की पाषाण मूर्ति

(पटना म्यूजिअम् के सौजन्य से) *(From a Cast)*

का दाना नहीं है। Carnelian के दाना के ऊपर उबले रंग में कोई चित्र (Pattren) रंग दिया जाता, और फिर उसे आग में डाल कर पका दिया जाता। । इसे Etched Bead कहते है । चान्हूदारों की यह विशेषता थी। इस प्रकार के दाने सुमेर और फारस में भी मिलते थे, पर मैंके साहब ने इस विषय पर बहुत अध्ययन करके यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि माला के दाना बनाने की कला में सिन्धुतट वासी आगे थे। चान्हूदारों में माला के दाना बनाने की एक दुकान मिली है। माला के दानों में बारीक छेद करने के लिए बरमी (Drill) व्यवहार किया जाता था।

हाथी-दांत का काम

हाथी के दांत की बनी चीजों का भी व्यवहार था। कंघी, छोटी छड़ी इत्यादि पाई गई हैं। हाथी के दांत का काम करने वालों का बाजार इस समृद्ध शहर में गर्म ही रहा होगा।

कुम्हार व मिट्टी के बर्तन

मिट्टी के बर्तन और कुम्हारों के विषय में काफी जानकारी है। मिट्टी के बर्तन चाक पर कुशल कुम्हारों के द्वारा बनाये जाते थे। बर्तन भट्टे में पकाए जाते थे। कुछ ईंटों के पंजावों के अवशेष मिले हैं। सुराही चाक पर गढ़ लिया जाता, और धूप में सूखने के लिए छोड़ दिया जाता था। जब सूख जाता था तब उस पर लाल गेरू का लेप लगाया जाता, और लेप के सूखने पर झिकटे व हड्डी से उसे चिकना किया जाता था। ऐसे बर्तन प्राचीन इलम, सुमेर, चीन, सीरिया, साइप्रस, और होरमुज में पाए गये हैं। जब लेप सूख जाता तब उस पर काले रंग की स्याही से चित्र व रेखाएं बनाई जातीं, और तब उस सुराही को आग में पूरी तरह सावधानी से पकाया जाता था। सुराही की चमक खूब खिलती। सबसे प्रिय डिजाइन है एक केन्द्र के कई वृत्तों की रचना (Concentric Circles), वृक्षों

का चित्र भी काफी साधारण और लोकप्रिय डिजाइन है। त्रिकोण व शतरंज के बोर्ड के पैटर्न भी मिलते हैं। जानवरों और चिड़ियों के चित्र भी इन बर्तनों पर पाए गये हैं। कभी २ प्राकृतिक वातावरण भी उपस्थित किया गया है, जैसे पेड़ों पर चिड़िया, झाड़ी में जंगली मुर्ग। मोहन्जोदाड़ों में मनुष्य के चित्र मिट्टी के बर्तन पर नहीं मिले हैं, पर हरप्पा में के एक ठिकरे पर एक आदमी और एक बच्चा चित्रित है। कुछ बर्तनों के अन्दर (तह में), जैसे तस्तरी में, चित्र खुदे हैं। यह आश्चर्य की बात है कि बहुरंगे बर्तन (Polychrome pottery) हरप्पा-सभ्यता में अपवाद के रूप ही में मिले हैं। आमरी-काल में (हरप्पा-सभ्यता के पूर्व) बहुरंगे बर्तन का खूब व्यवहार था। हरप्पा-सभ्यता में इस कला की अनुपस्थिति इस निष्कर्ष को दृढ़ करती है कि इस युग में कला के विपरीत उपयोगिता का अधिक महत्व था, और मिट्टी के बर्तन बहुत बड़ी संख्या में एक सर्वमान्य सिद्धांत के अनुसार बनाये जाते थे। हरप्पा-सभ्यता के बाद की सभ्यता में, जिसे झुकुर-सभ्यता कहते हैं, रंगीन बर्तनों का खूब प्रचार था, पर उनके डिजाइन एकदम भिन्न हैं।

मिट्टी की थाली, कटोरा, हुमाददानी, इत्रदान, सुराही, ग्लास, बड़े २ नाद व गगरे मिले हैं। मिट्टी के ट्रे भी पाए गये हैं। कुछ कई भागों में बटे हैं, जिसमें शायद लौंग, इलायची, पान व जर्दा अलग २ रखा जाता हो। मिट्टी के बक्स, तिपाई, चूहे फंसाने का जाल, मछली के जाल के लिए मिट्टी के कड़े टुकड़े भी मिले हैं। तोता के लिए एक पिंजड़ा भी पाया गया है। मिट्टी के मुहर तो बहुत अधिक संख्या में पाये गये हैं। इन पर जानवर और धार्मिक दृश्य अंकित हैं। कला की दृष्टि में ये लासानी हैं। बर्तन को चमकाने की विधि का भी ज्ञान था।

अन्य पेशा

सिलाई-बिनाई का भी काम होता था। ताम्बा और कलकट की सूई मिली है। दो सोने की सूई भी मिली हैं। शायद अमीर स्त्रियों

के लिए सिलाई का काम एक मनोरंजन रहा हो।

मछुवे और नाव बनाने वाले भी होते थे। एक मुहर पर नाव का नक्शा है जिसके बीच में एक केबिन बना है। मछली फंसाना भी एक पेशा था। मछली के जाल के पत्थर (Net weights) पाए गये है, ये मिट्टी के बने हैं। हरप्पा में पाए गए मिट्टी के एक ठिकरे पर एक मनुष्य के कंधे पर बांस में लटके हुये दोनों ओर मछली फंसाने के जाल हैं। इसी चित्र में एक मछली और एक कछुआ पास ही में पड़े हैं।

मनोरंजन

बड़ों और बच्चों के लिए मनोरंजन के सामान भी थे। बच्चों के कई खिलौने मिले हैं। अधिकतर ये मिट्टी के थे। गुसलखाने में पड़े मिट्टी के टुकड़े शायद खिलौने के टुकड़े ही हैं। मिट्टी के बने कुछ मनुष्य व जानवर का चित्र इतना मामूली है कि वे शायद बच्चों के बनाए हुए हों। बच्चे आपस में खेल में खिलौने बनाने का भी दुःप्रयोग करते थे। मिट्टी की बैलगाड़ी व टमटम खिलौने मिले हैं। मिट्टी का झुनझुना भी पाया गया है, चिड़ियानुमा सीटी का भी पता चला है। बांस पर चढ़ते हुये बन्दर और दूसरे जानवर के खिलौने मिले हैं। धागे से जानवर या आदमीकी मूर्ति को ऊपर व नीचे खींचने वाला खिलौना किसी पेशेवर खिलौनावाला का ही बनाया हुआ होगा।

शतरंज और पासा (dice) खेलना प्रिय मनोरंजन था। हाथी के दांतों की बनी शतरंज की गोटियाँ मिली हैं। ईंटों पर पचीसी (हिन्दुस्तान का एक लोकप्रिय मनोरंजन) व चौसर के घर खुदे पाये गये हैं। बच्चे गोली भी खेलते थे। पत्थरों की बनी गोलियां मिली हैं। नाच-गान भी सामाजिक मनोरंजन था। ढोल व तबला का प्रयोग मालूम था। वीणा का व्यवहार ज्ञात था।

स्त्रियों का स्थान

हरप्पा-सभ्यता में स्त्रियों का स्थान ऊँचा था। मातृदेवी की पूजा सबसे अधिक प्रचलित थी, और शायद समाज भी मातृकुल के सिद्धान्त पर ही (Matriachal) आधारित होगा। मकानों में स्त्रियों के लिए विशेष प्रबन्ध नहीं था। इसलिए उस समय वहां पर्दा का रिवाज नहीं था। स्त्रियां अपने लम्बे बाल को बेणी में गूँथती थीं, और कई तरह के साफा (head-dress) का व्यवहार होता था जिसमें कुछ तो काफी तकलीफ दे रहे होंगे। रेस्टोरेशन युग में और वर्तमान युग में भी पश्चिम की फैशन-परस्त स्त्रियों को बाल संवारने व बनाने म काफी परेशानी उठानी पड़ती है। उस समय भी स्त्रियां आभूषणप्रिय थीं। कंगन, बाजूबन्द, गले का हार, नाक का कील, इयररिंग, कमरधनी, पायजेब, अगूठी इत्यादि का व्यवहार होता था। जेवर सोना, चांदी, कांसा और बहुमूल्य पत्थरों के बने होते थे। बालों के हेयरपिन कई तरह के मिले हैं। कॅसकट का एक चार इंच के पिन के मस्तक पर दो काले मृग पीठ सटाए विरोधी दिशा में बैठे हुये हैं। लकड़ी के भी पिन रहे होंगे, जिनके मस्तक कंसकट व ताम्बे के थे। करीब आधा इंच के एक मस्तक पर (Pin head) तीन बन्दर गलबहियां दिये चित्रित हैं। समूचा दृश्य बड़ा ही आकर्षक है, और उस समय की उच्चतम कला का द्योतक। एक पिन पर कमल का चित्र अंकित है। बालों को संवारने के लिए कंघी का व्यवहार होता था। दोनों तरफ दांतवाला हाथी की दांत की बनी एक कंघी मिली है। इस पर एक केन्द्र के कई वृत्तों का ढांचा (design) है। यह कंघी एक तरुण युवती के अस्थिपंजर के नजदीक मिली थी। कांसा व ताम्बा के आइने, सुरमा की सीसी व सलाई मिली है। स्त्रियां उस प्राचीन काल में भी सौन्दर्य-प्रिय थीं। पर मर्द भी कई तरह से बाल संवारते थे। इसका पता मिट्टी व पत्थर की मूर्तियों से मिलता है। वे भी बालों में कंघी या पिन लगाते थे। बाल बनाने वाले व संवारने वालों की दूकान (Haircutting

and dressing saloons) खूब चलती होंगी, और नाइयों का पेशा काफी लाभदायक रहा होगा।

दासों की अवस्था

प्राचीन काल में सभ्यता व आर्थिक विकास बहुत अंशों में दासों पर ही निर्भर करता था। बेबिलोनिया के मीनाराकार मंदिर या मिश्र के पिरामिड व विशाल देवालय दासों के श्रम के बिना असम्भव होते। मोहन्जोदाड़ो व हरप्पा के बड़े २ मकान, और हरप्पा और मोहन्जोदाड़ो में पाए गये विशाल अन्न का गोला (granaries), दासों के श्रम से ही बने होंगे। अन्न का विशाल गोला इस बात का प्रमाण है कि उस समय की सरकार कृषकों से कर के रूप में अन्न ही लेती थी, और वह अन्न सरकारी गोले में जमा किया जाता था। कुलियों व मजदूरों के द्वारा अन्न की ढोलाई होती होगी। अन्न को पीसने व कूटने का काम भी इन गरीबों के ही जिम्मे था। हरप्पा के दुर्ग (Citadel) के उत्तर नीचे में कुली-वाड़ी था। इस क्षेत्र के नजदीक खुदाई में कई जांतों के अवशेष मिले हैं। ये जांता आजकल के ऐसे ही थे। इनके द्वारा अनाज पीसा जाता था। इसी क्षेत्र के पीछे बड़ा गोला था। मजदूरों के लिए एक खास मुहल्ला का होना आर्थिक व औद्योगिक व्यवस्था के विकास का चिह्न ही समझना चाहिये।

व्यापार

मोहन्जोदाड़ो व हरप्पा की समृद्धि, चौड़ी सड़कों का होना, सड़कों के कोने पर रेस्टूरां का रहना, और दूर २ के देशों की चीजों का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि उस काल में ये नगर व्यापार के केन्द्र थे। राजपूताना से ताम्बा, सीसा और कई प्रकार के पत्थर; मैसूर से सोना, काश्मीर व शिवालक पहाड़ियों से देवदार की लकड़ी, शिलाजित और मृगचूर्ण मंगाया जाता था। राल (Bituman) सेलखड़ी इत्यादि बलूचिस्तान से आता था। पर्शिया या अफगानिस्तान से चांदी आता

होगा। अतिरिक्त अन्न का उपयोग वणिक्वर्ग के लिए किया जाता था। व्यापारी चीजें ले आते व ले जाते, थे और उन्हें अन्न पैदा करने की परेशानी से मुक्ति रहती थी। व्यापार नावों के द्वारा या बैलगाड़ी व बैल पर लाद कर होता था। नाव का नक्शा एक जन्तर पर मिला है। आन्तरिक व्यापार के अलावे अन्तर्देशीय व्यापार भी होता था। सुमेर की कई चीजों को हम हरप्पा व मोहन्जोदाड़ो में पाते हैं। हरप्पा-कालीन चीजें सुमेर के नगरों में पाई गई हैं। सुमेर में मुहरें मिली हैं जिस पर हरप्पाकाल के विशेष दृश्य व ढांचे चित्रित हैं। बनावट जरा निम्न प्रकार की है और ऐसा सम्भव है कि सिन्धु तट के कुछ व्यापारी सुमेर में तिजारत के लिए बस गये हों, और इन भारतीयों के लिए सुमेर के कारीगरों को भारतीय धर्म-जन्तर बनाने पड़े हों। हरप्पा और मोहन्जोदाड़ो में कई कॅसकट के पिन का मस्तक एक ओर या दोनों ओर झुका हुआ है—(Spiral pins) ऐसे पिन एशियामाइनर और क्रीट में दो हजार वर्ष ईसा से पूर्व पाए गये हैं। इन दूरस्थित देशों से शायद प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष व्यापारिक सम्बन्ध रहा हो। प्राचीन इलम और सूसा से तो बहुत ही घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध था। मिट्टी के बर्तनों के उदाहरण इसके साक्षी हैं। सिन्ध में कई जगह दुर्गों के अवशेष मिले हैं, शायद ये व्यापारियों की सुविधा व सुरक्षा के लिए बनाये गये हों।

कला व विज्ञान

विभिन्न कलाओं के क्षेत्र में हरप्पा-वासियों ने काफी प्रौढ़ता दिखाई। भवननिर्माण कला में ये लोग उस समय अद्वितीय थे। मूर्ति निर्माण कला के उदाहरण न्यून हैं, पर जो कुछ भी मिले हैं वे कला के दृष्टिकोण से अपना सानी नही रखते। इनमें कुछ मूर्तियां इतनी स्वाभाविक हैं कि कला के आलोचकों के लिए यह मानना मुश्किल हो जाता है कि ये ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व की कृतियां हैं। लाल बलुवे पत्थर

(Red sand-stone) की बनी एक मर्द की नंगी मूर्ति मध्यपूर्व के प्राचीन मूर्तियों में सर्वोत्तम है। मनुष्य के शरीर का इतना स्वाभाविक चित्रण इस मूर्ति के कलाकार को भविष्य के कलाकारों का आदर्श सिद्ध करता है। उत्तर काल की भारत की मूर्तियां कई अंशों में इस मूर्ति की तरह हैं। इस मूर्ति का पेट तो कुशाणकाल की मूर्तियों के पेट-सा ही है। हरप्पा से भूरे रंग के बलुवे पत्थर का बना एक नंगा धड़ प्राप्त हुआ है। धातु के कीलों से इस मूर्ति का सर अलग से जोड़ा गया था। इसके हाथ-पैर कई टुकड़े में जोड़े गए हैं। यह मूर्ति एक स्वतन्त्र शैली की प्रतीक है, मोहन्जोदाड़ो में भी कई मूर्तियां मिली हैं। इनमें त्रिदलाकार बूटेदार चादर ओढ़े दाढ़ीवाला मनुष्य की मूर्ति सबसे अधिक प्रसिद्ध है। आंख व कान अलग से जड़ दिये गये हैं। पत्थर के एक छोटे सांड़ की मूर्ति में धातु के बने कान, आंख व सींघ के लिए छेद छोड़ दिये गये हैं। एक बात ध्यान देने की है कि पत्थर की मूर्तियों में जड़ाऊ व धातु का काम प्रागैतिहासिक पश्चिम-एशिया में तो पाये जाते हैं, पर हिन्दुस्तान के ऐतिहासिक युग की मूर्तियों में इस गुण का अभाव है। काँसकट की नर्तकी की मूर्ति मानव शरीर व भाव भंगियों के चित्रण के लिए जगत् प्रसिद्ध है। इस मूर्ति में इतनी सजीवता है कि मानों वह अब नाची कि तब नाची। इस मूर्ति के आभूषण और शृंगार बलूचिस्तान के नाल क्षेत्र से प्राप्त मिट्टी की बनी स्त्री मूर्तियां ऐसे हैं। इन सब प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत के उत्तरकालीन मूर्तिकला के भिन्न २ रूप हरप्पा व मोहन्जोदाड़ो में प्रथम-प्रथम उत्पन्न हुए।

मूर्तिकला के अतिरिक्त और भी अन्य कलाओं के सुन्दर उदाहरण मिले हैं। सोना-चांदी के आभूषण इतने आकर्षक और सुन्दर डिजाइन के बने हैं कि आजकल की स्त्रियां भी उन गहनों को ग्रहण कर लेंगी। माला व धागे में पिरोने के लिए दाना बनाने की कला में तो हरप्पाकालीन कलाकार समकालीन दुनियां में अपना सानी नहीं रखते थे।

लाल अकीक के दाने (carnelian beads) पर उजले डिजाइन खोदे जाते थे जिन्हें Etched Beads कहा जाता है। मिट्टी के बर्तन पर को भिन्न-भिन्न आकर्षक डिजाइन में कला का ध्यान रखा जाता था, और उनके ऊपर रंगे चित्र व रेखाचित्र तो आकर्षक है ही। मिट्टी के बर्तन अधिकत्तर बिना रंग के हैं, सिर्फ लाल लेप पर काले रंग में चित्र बने हैं। पर कुछ बहुरंगे बर्तन भी मिले हैं। बर्तनों को शीशे की तरह चमकाने की कला (Glazing) का उन्हें ज्ञान था। धूमिले (Buff) रंग के लेप पर लाल व हरे रंग में मिश्रित चित्र बनाये जाते थे। कांसा व ताम्बा के बने उपकरण धातुशोधन की विद्या का ज्ञान के प्रमाण हैं। खुदे हुये मुहर या ठप्पे इस क्षेत्र में पूर्ण विकसित कला के जीते-जागते उदाहरण हैं। इनमें खुदे कुछ जानवर बड़े ही स्वाभाविक मुद्रा ˘ चित्रित हैं, जैसे कुछ मनुष्यों पर विजय प्राप्त कर खड़ा विजयी भैंसा। इनमें बहुत से मुहरों का धार्मिक महत्व है, जन्तर का काम में आते होंगे। पर बहुत से मुहर आजकल के ऐसा ठप्पे हैं, जो स्वामित्व के प्रतीक हैं। जबकि समकालीन मेसोपोटेमिया में गोलाकार मुहरें थीं, यहां समचतुर्भुजाकार मुहरें या ठप्पे (Seals) मिलते हैं।

पत्थर के घनाकार बटखरे (Weights) काफी संख्या में प्राप्त हुये हैं। ये सब एक नियम के आधार पर हैं। तुलना करने की उनकी पद्धति समकालीन पद्धतियों से अलग थी। इस पद्धति का यूनिट १६ था। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि अभी भी भारतीय मुद्रा का यूनिट १६ ही है। शुद्ध नाप की पद्धति के भी कुछ प्रमाण मिले हैं। मोहन्जो-दाड़ो और हरप्पा में नापने का दण्डा मिला है, जिससे पता चलता है कि एक फुट = १३·२ इंच का था और एक हाथ (cubit) २०·६२' इंच का। यही प[illegible] [illegible]चीन दुनियां में खूब [illegible]लित था। नाप के ये दण्डे बड़े ही शुद्ध हैं। शुद्ध नाप और हरप्पाकालीन भवनों व सड़कों की सुन्दर योजना इस बात का प्रमाण है कि ये लोग व्यवहारिक ज्योमिति और भूमिनाप में पंडित थे।

समकालीन सभ्यताओं से सम्बन्ध

उत्तर में हिमालय, दक्षिण में हिन्द महासागर, पूर्व-पश्चिम में बंगाल की खाड़ी व अरब का समुद्र, व उत्तर-पश्चिम व उत्तरपूर्व पहाड़ियों से घिरा रहने के बावजूद भारतवर्ष कभी भी बाहरी प्रभावों से अछूता न रहा। अति प्राचीनकाल से ही समकालीन देशों से भारत का व्यापारिक व सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। दुनिया से भारत बराबर कुछ लेता रहा है, और संसार के भण्डार में बहुत कुछ देता रहा है। हरप्पा काल में सिन्धु-कांठे का ईरान और मेसोपोटेमिया से घनिष्ट सम्बन्ध था, और मिश्र व एशियामाइनर से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध भी रहा होगा। इसके कई प्रमाण मिले हैं।

सभी समकालीन सभ्य क्षेत्रों में, विशेष कर मेसोपोटेमिया, ईरान व पंजाब और सिन्ध में हम पत्थरों के उपकरण के साथ साथ धातु की बनी चीजों का व्यवहार पाते हैं। इन सब जगहों में कुम्हार के चक्की का प्रचार था, ईंटों के बने मकान थे, चित्रसंकेत पर आधारित लिपि थी, चक्केवाली गाड़ी का व्यवहार था, और मातृदेवी की पूजा होती थी। इन सभी चीजों का सम्मिलित प्रमाण इस तथ्य की पुष्टि करता है कि इन विभिन्न सभ्य क्षेत्रों में पारस्परिक सम्बन्ध और आदान-प्रदान होता रहा और इसीका परिणाम है कि सभ्यता के प्रमुख अंगों को सब जगह सामान्य रूप से पाया जाता है।

सुमेर और सिन्धुघाटी में ईसा से ३००० वर्ष पहले से ही व्यापारिक व सांस्कृतिक सम्बन्ध था। हरप्पा के मुहर व ठप्पे प्राचीन सुमेर के शहरों की खुदाई में मिले हैं। इश्नुन्ना में एक ऐसी मुहर मिली है जैसी मोहन्जोदाड़ो के ऊपरी सतहों पर मिलती हैं। ऊर में भी हरप्पा की मुहर मिली है जिसका समय २१०० ई० पूर्व होगा। ये मुहरें सिन्धु-घाटी मुहरों की तरह न गोल हैं न समचतुर्भुजाकार, बल्कि पश्चिमी एशिया की मुहरों की तरह लम्बनुमा (Cylindrical)

हैं। ये शायद सुमेर के कलाकार सुमेर में हिन्दुस्तानी प्रवासियों के लिए बनाये हों। ऊर में एक हरप्पा-सभ्यता की मुहर जिसपर भारतीय डिजाइन बने थे और हरप्पालिपि अंकित थी, काफी नीचे मिली है और उसका समय २४००–२५०० ई० पूर्व होगा। ऊर के शाही कब्रों में 'हरप्पा' के ताम्बा के शृंगार दान (toilet case) पाये गये हैं। ऊर की स्त्रियों की मूर्तियों में बाल संवारने का ढंग 'हरप्पा' की स्त्रियों के ऐसा ही था। ये प्रत्यक्ष सम्बन्ध के प्रमाण हैं। इश्नुन्ना में 'हरप्पा' के बने बर्तन मिले हैं। हरप्पा और मोहन्जोदाड़ो में भी सुमेर सभ्यता का प्रभाव के उदाहरण मिले हैं। कुछ मिट्टी के बर्तन, एक शृंगारदान मेसोपोटेमिया से आए होंगे। मुहरों पर नर-केशरी को दो बाघों से लड़ने का दृश्य सुमेर का पौराणिक वीर गिल्गमश का ही नकल है। ईबर-पिन व छुरों के मस्तक पर जानवरों के चित्र पहले-पहल मेसोपोटेमिया में ही पाए जाते हैं। मोहन्जोदाड़ो के अकीक के दाने विशेष कर (etched cornelian beads) सुमेर में पाए गये हैं। इन सब उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि हरप्पा-काल में सिन्धु-घाटी और मेसोपोटेमिया से घनिष्ट सम्बन्ध था। भारतीय व्यापारी सुमेर के नगर में बस गए थे, और कुछ सुमेर के तिजारती यहाँ भी रहने लगे हों। सुमेर की प्राचीन सभ्यता के इतिहास का विश्लेषण करने पर पैट्रिक कार्लटन साहब इस अनुमान पर पहुँचे हैं कि सुमेर की सभ्यता का इतना सर्वव्यापी और संक्षिप्त विकास प्रौढ़ हरप्पा-सभ्यता से उत्साह पाकर ही सम्भव हो सका, और जब हरप्पा-सभ्यता नष्ट हो गई तब सुमेर की सभ्यता का स्रोत ही बन्द हो गया, और वह सूख गई। प्रसिद्ध आंग्ल विद्वान हॉल साहब का यह मत है कि सुमेर-निवासी भारतीय थे।

मेसोपोटेमिया व ईरान के अतिरिक्त और भी समकालीन देशों से हरप्पावासियों का सम्बन्ध था। 'हरप्पा' में भूरे रंग की मिट्टी के बने बर्तन मिले हैं, इन पर गाढ़ा काला लेप चढ़ा है। यह शैली

'हरप्पा' की निजी नहीं वरन् सिरिया में पहले पहल पनपी। मोहन्जो-दाड़ो और चान्हूदारो में एक ओर और दोनों ओर मुड़े हुए (Single spiral & double spiral) ताम्बे के पिन मिले हैं। ऐसी चीजों का २५०० ई० पू० पूर्वी भूमध्यसागर के क्षेत्रों में व्यवहार था। प्राचीन शाहर ट्राय (दूसरा) और डैनूब नदी की घाटी में भी ये पाए गए हैं।

प्राचीन मिश्र से सम्बन्ध का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता है। पर अप्रत्यक्ष सम्बन्ध जरूर रहा होगा। सिन्धु-घाटी के विलक्षण माला के-दाने प्राचीन मिश्र में पाए गये हैं। मिश्र की 'ममी' शायद सिन्धु-घाटी में बने महीन सूती कपड़े से ढके जाते थे। मिश्र और "हरप्पा" दोनों जगह बैले के पैर-वाला स्टूल मिले हैं। छोटी खाट पर एक लेटी हुई स्त्री की मूर्ति दोनों जगह पाई गई है। प्राचीन मिश्र में मृतकों के कब्र में खाट पर रखैल की मूर्ति रख दी जाती थी। शायद दोनों सभ्यताओं में यह विश्वास रहा हो कि मृतकों को दूसरी दुनिया में भी रखैल की जरूरत है। मिश्र के १३-१७ वां राजवंश काल के कुछ मुहरों पर रस्सी-नुमा डिजाइन है, और यह डिजाइन 'हरप्पा' की विशेषता है। अत: यह अनुमान तर्क संगत है कि 'हरप्पा' व मिश्र में अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा होगा। मिश्र की पौराणिक कथा के आधार पर मिश्र के प्राचीन सभ्यता के स्थापक लालसागर के तट पर रहते थे। वहां वे मेसोपोटेमिया से अवश्य ही प्रभावित होंगे, और मेसोपोटेमिया और सिन्धु-घाटी का सम्बन्ध तो हम जानते ही हैं। इस तरह मिश्रवासी बहुत पहले ही 'हरप्पा' संस्कृति के संसर्ग में आ गए थे।

समीपस्थ बलूचिस्तान से 'हरप्पा' का बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध था। उत्तर व दक्षिण बलूचिस्तान में कई प्राचीन स्थलों का पता चला है। इन जगहों में मिट्टी के बर्तन के टुकड़े, व मिट्टी की बनी मूर्तियां मिली हैं। इन मिट्टी के बर्तनों की परीक्षा के बाद विशेषज्ञों ने यह सिद्ध कर दिया है कि बलूचिस्तान में, सिन्धुघाटी व ईरान दोनों की सांस्कृतिक धाराएँ मिलती थी, उनका समन्वय होता था। बलूचिस्तान के ही रास्ते

सिन्धु-घाटी और मेसोपोटेमिया, सिन्धु-घाटी और ईरान का पारस्परिक सम्बन्ध होता था। दक्षिण बलूचिस्तान के 'नाल' (Nal) के बर्तन का प्रभाव आमरी (सिन्ध) सभ्यता के बर्तन पर है। 'हरप्पा' की मातृ देवी की मूर्तियां कई अंशों में बलूचिस्तान की मातृदेवी का अनुसरण मात्र हैं। 'हरप्पा'-काल में बलूचिस्तान 'हरप्पा' सभ्यता के पार्श्व में पूरा आ गया था, और उस समय के यहां के बर्तन, जिन पर हरप्पा-कालीन विशेष चित्रकारी है, हरप्पा से ही मंगाये गए होंगे। दाहर-कोट, मेही-दाम्बे, इत्यादि प्राचीन स्थल हरप्पा सभ्यता से बहुत प्रभावित थे।

हरप्पा-सभ्यता का समय

'हरप्पा' सभ्यता का काल निर्णय करना एक कठिन समस्या है। मोहन्जोदाड़ो में ३० फीट तक खुदाई हुई है, और कई सतह (levels) पाए गये हैं। कम से कम तीन बार यह शहर बाढ़ से बर्बाद हुआ और फिर बसा, पर ध्यान देने की बात यह है कि सबसे ऊपर के तह पर की चीजों में और सब से नीचे की तह पर मिली चीजों में कोई फर्क नहीं है, एक ही शैली, एक ही रूप। एक ही संस्कृति नगर में व्याप्त रही। ३० फीट से अधिक नीचे जाने में पानी निकल आता है, इसलिए यह कहना मुश्किल है कि और नीचेकी सभ्यता वही थी या दूसरी। पर जहां तक शहर की खुदाई हुई है, उससे मार्शल साहब इस शहर का इतिहास ५०० वर्ष का मानते हैं। सबसे नीचे की तह पर भी संस्कृति का विकसित रूप ही मिला है, इसलिए इस अति पूर्ण विकसित इतिहास के पीछे १००० वर्ष का इतिहास रहा हो तो मुश्किल नहीं है। आमरी और चान्हूदारो की खुदाई से मोहन्जोदाड़ो की सभ्यता के पूर्व की सभ्यता का भी आभास मिलता है, और आमरी-सभ्यता नाल सभ्यता के समकालीन थी। हरप्पा में हाल की खुदाई से 'हरप्पा'-सभ्यता के बाद के इतिहास व संस्कृति का भी पता चलता है। इस तरह सिन्धु-घाटी की सभ्यताओं का सिलसिलेवार इतिहास की झांकी मिलती है, विस्तृत विवरण नहीं मिलता है।

मोहन्जोदाड़ो में बाढ़ बराबर आया करता था, और शहर का सतह बराबर ऊंचा उठता रहता था। कई बार तो शहर बर्बाद ही हो गया था। इसलिए यह सम्भव है कि शहर के सात सतह का समय औसत से कम ही हो। मैके साहब ३०० वर्ष बताते हैं और ह्वीलर साहब १००० वर्ष।

शहर की जिन्दगी जितने सालों तक रही हो, इस सभ्यता का क्या समय होगा, इस पर विचार करना है। सौभाग्यवश हरप्पा-सभ्यता और सुमेर की सभ्यता का घनिष्ट सम्बन्ध का हमें पता है। सुमेर के नगरों का तारीखेवार या सिलसिलेवार इतिहास विशेषज्ञों ने करीब २ तय कर दिया है। इसी आधार पर हम हरप्पा-सभ्यता का भी समय का अन्दाजा लगा सकते हैं। हरप्पा व मोहन्जोदाड़ो में पाई गई चीजों में बहुत कम संख्या में सारगन प्रथम (मेसोपोटेमिया का प्रथम बड़ा बादशाह) के समय के पहले की चीज हैं। सारगन प्रथम का समय पहले २८०० ई० पू० समझा जाता था, पर अब नये प्रमाणों के आधार पर उसका समय २३५० ई० पू० माना गया है। इसलिए मोहन्जोदाड़ो का करीब २५०० ई० पू० सुमेर से सम्बन्ध था, यह स्वयंसिद्ध है। 'हरप्पा' के ताम्बा व कंसकट के बने हथियार समकालीन मेसोपोटेमिया के हथियारों की तुलना में बहुत निम्नकोटि के हैं, और इसलिए 'हरप्पा' का समय सुमेर के पहले का समझा जा सकता है, पर ये चीजें ऊपरी सतहों पर मिली हैं। पर धारवाली कुल्हाड़ी जो 'हरप्पा' में मिली है वह तो प्राचीन ईरान के प्रथम युग की है। इसलिए इस सभ्यता का काल निर्णय बहुत ही कठिन हो जाता है। सारगन के समय का ऊर में एक मुहर मिली है जो कि 'हरप्पा' की है, और वहीं एक और मोहर मिली है जिसमें एक आदमी दो मछली के जाल डन्डे के सहारे कन्धे पर लिए हुये है। ऐसा ही दृश्य हरप्पा में मिट्टी के एक ठिकरे पर मिला है। ऊर का यह मुहर कस्स युग के बाद का है और इसका समय १६००-१५००

ई० पू० होगा। इस तरह २३०० ई० पू०—१५०० ई० पू० तक के उदाहरण हरप्पा में पाये गये है। बहुतों ने हरप्पा सभ्यता का काल २५००-२००० वर्ष ई० पू० तक माना है। इसके बाद झुकर युग की नयी सभ्यता का पदार्पण हुआ। फिर झांगर सभ्यता का बोल-बाला रहा। ये आर्य थे, या आर्यों के अग्रदूत, कहना मुश्किल है।

हरप्पा-लिपि

बर्तनों और मुहरों या ठप्पों पर संक्षिप्त लेख मिले हैं। यह लिखावट अभी तक पढ़ी नहीं गई है। शुरू में यह लिपि चित्रसंकेत लिपि ही होगी। हिन्दुस्तान की प्राचीन ब्राह्मी लिपि या खरोष्ठी से इसका कोई सम्बन्ध निश्चय नहीं हो सकता है। कुछ लोगों का ख्याल है कि यह लिपि मेसोपोटेमिया के क्युनिफार्म लिपि से निकली है। कुछ लोग इनका सम्बन्ध प्राचीन मिश्र की हाइरोग्लिफ से बताते हैं। यह बहुत सम्भव है कि इन प्राचीन लिपियों का स्रोत एक ही हो, पर आगे चल कर इनका रूप अलग अलग हो गया। हरप्पालिपि इन समकालीन लिपियों से भिन्न है। इसके चित्र अलग हैं, और शब्द-चित्रों की संख्या कम है। यह काफी प्रौढ़ और विकसित लिपि है। इसके पढ़ने के लिए बहुत प्रयास किए गये हैं। लैंगडन, हंटर, प्राणनाथ, और स्वामी शंकरानन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। सबसे पिछले सज्जन तान्त्रिक मन्त्रों के द्वारा इन लेखों को पढ़ते हैं, इसकी भाषा वे संस्कृत मानते हैं। विद्वत्संसार अभी इसे मानने को तैयार नहीं है।

हरप्पा-वासी कौन थे

हरप्पा-वासी कौन थे, यह भी एक विवादग्रस्त प्रश्न है। हरप्पा व मोहन्जोदाड़ो में कुछ अस्थिपंजर मिले हैं, जिनका वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। मृतसंस्कार के आधार पर भी काफी बहस

हुई हैं। पर कुछ स्थिर परिणाम नहीं निकलता है। चार भिन्न प्रकार की जातियों की खोपड़ी के नाप मिले हैं। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जैसे वर्तमान काल में वैसे ही उस समय भी इस प्रदेश में विभिन्न जातियों का सम्मिश्रण होता था। इनमें कौन विदेशी थे, और कौन इस सभ्यता के जनक, कहना नामुमकिन है। बहुत से विद्वान हरप्पा-वासियों को द्रविड़ समझते हैं। हॉल साहब का मत था कि द्राविड़ों ने ही सूमेर की सभ्यता की स्थापना हिन्दुस्तान से चल कर की। उत्तर-पश्चिम सीमा पर ब्राहू लोग की भाषा द्रविड़-समूह की है, इससे यह समझा जा सकता है कि ये प्राचीन पश्चिम-भारत के द्रविड़ों के अवशेष हैं। आर्यों ने द्राविड़ों को उत्तर से दक्षिण मार भगाया। पर ब्राहू लोगों के शारीरिक लक्षण द्राविड़ों के नहीं हैं। हो सकता है कि शताब्दियों के रक्तमिश्रण से द्रविड़ विशेषताएँ लुप्त हो गई हों। कुछ विद्वान, जैसे श्री रमेश प्रसाद चन्द, हरप्पा-वासियों को फिनिशियन समझते हैं। वेदों के 'पणि' उनके मत से हरप्पा के व्यापारिक प्रभु थे, और पणि-फिनिशियन।

कुछ भारतीय विद्वान् हरप्पा-वासियों को वैदिक आर्य समझते हैं, कोई ऋग्वैदिक और कोई अथर्ववैदिक। इनलोगों का कहना है कि हिन्दुओं के प्राचीन ग्रन्थों में भारत में आर्यजाति के बाहर से आक्रमण का कहीं जिक्र नहीं आया है। हरप्पा और वैदिक सभ्यता में धर्म, व कला के क्षेत्र में समानता है। हरप्पा के मृतसंस्कारों का भी वेद में उल्लेख है, इत्यादि, इत्यादि।

पर अधिकतर विद्वान, खासकर पश्चिम के विद्वान, इस बात पर दृढ़ हैं कि हरप्पा सभ्यता आर्य सभ्यता के पहले की सभ्यता है, और हरप्पावासी अनार्य थे। नागरिक सभ्यता का इतना विकास वेदों की ग्रामीण सभ्यता से परे की चीज है। आर्य जब कि लिंग व योनि के पूजकों की निन्दा करते थे, हरप्पावासी लिंगपूजक थे। हरप्पा-युग में

लोहे का ज्ञान नहीं था। उनके हथियार निवारक (defensive) नहीं, आक्रमणक होते थे, जबकि आर्य लोग ढाल व बख्तर का प्रयोग करते थे। आर्यों के प्रमुख देवता पुरुष थे, हरप्पा में मातृपूजा की प्रमुखता थी। वैदिक युग में प्रत्येक घर में अग्निकुण्ड रहता था, हरप्पा के किसी भी मकान में अग्निकुण्ड (hearth) का चिह्न नहीं मिला है। इन सब कारणों से हरप्पा-वासी को अनार्य माना गया है। हरप्पा-सभ्यता वैदिक सभ्यता के पहले की है, नहीं तो यह समझना मुश्किल है कि आखिर लोहा का ज्ञान हो जाने पर भी क्यों उसे भुला दिया गया या निवारक हथियारों को हरप्पा-सभ्यता में छोड़ दिया गया। इन सब प्रश्नों का सही जवाब यही हो सकता है कि हरप्पा सभ्यता अनार्यों की सभ्यता थी, और आर्य सभ्यता के स्थापक उनसे भिन्न थे और उनकी संस्कृति भिन्न थी।

हरप्पा-सभ्यता का अन्त

इस पूर्ण विकसित सभ्यता का अन्त भी इतना ही रहस्यमय है जितना इसका आरम्भ। जलप्रलय ही मोहन्जोदाड़ो का अन्त का कारण होगा, क्योंकि सबसे ऊपरी तह पर हम वही सभ्यता के चिह्न पाते हैं। पर हरप्पा व बलूचिस्तान में कुछ प्रमाण मिले हैं जिससे इस सभ्यता का अन्त कैसे हुआ इस पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। हम देख चुके हैं कि सदियों तक 'हरप्पा' सभ्यता एक रफ्तार से चलती रही और इसका अन्त आकस्मिक हुआ। ईरान व बलूचिस्तान के प्राचीन स्थलों व उनके मिट्टी के बर्त्तनों की रूपरेखा के आधार पर विद्वान् लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ईसा से करीब १८००—१६०० ई० पू० पश्चिम एशिया में नई जातियों का आगमन शुरू हुआ, और इस दबाव के कारण बसी हुई जातियां अपने देश छोड़ कर नये देश की ओर चल पड़ीं। पर तब भी आक्रमणकारी जातियों ने उनका पीछा न छोड़ा। १८०० ई० पू० कस्सजाति का दबाव बेबिलोनिया पर पड़ा और हम्मू-



(Facing Page 126)

चित्र १७



(पृ० ११७) मोहेंन्जोदाड़ो : नर्तकी की कांसे की मूर्ति
(*From a Cast*)
(पटना म्यूजियम् के सौजन्य से)

राबी का वंश मृतप्राय हो गया। ये जातियां गिरोह बांधकर और काफी संख्या में चलतीं। सारे क्षेत्र में उथलपुथल मच गया। उत्तर बलूचिस्तान के झोब घाटी (Zhob valley) में रानाघुन्डाइ नामक एक टीले के खुदाई से इस समय के इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ा है। यह स्थल बराबर मनुष्यों का निवासस्थान रहा, और यहां बर्तन बनाने की शैलियां विकसित होती रहीं। रा० घु० ३ (तीसरा काल) हरप्पा के समकालीन है, और इसका समय २००० वर्ष माना जा सकता है। इस समय यहां काफी लूटपाट हुई थी, और इस स्थल में आग लगाई गई थी। इसके बाद जो मिट्टी के बर्तन मिले हैं जिन्हें रा० घु० ४ के समय का कह सकते हैं, पहले के बर्तनों से एकदम भिन्न है, हरप्पा-कालीन बर्तनों से एकदम अलग हैं। इसके बाद फिर बर्बादी हुई, आग लगी, और इसके पश्चात् के जो बर्तन हैं वे रा० घु० ४ से भिन्न है, निम्न है, उन्हें रा० घु० ५ का कह सकते हैं। दक्षिण बलूचिस्तान में नाल क्षेत्र में भी इस समय के उथल-पुथल के प्रमाण मिले हैं। दक्षिण बलूचिस्तान के शाहीटम्प में हरप्पा-कालीन गांव को इसी समय कब्रिस्तान में परिणत कर दिया गया था। हरप्पा में भी हरप्पा-सभ्यता से दो भिन्न शैली के मिट्टी के बर्तन व मृतसंस्कार के नियम पाये गये हैं। झुकर, झांगर व चान्हूदारों में इनका उचित क्रम पता चलता है। अतः यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि पश्चिम एशिया में नई जातियों का जो आवागमन शुरू हुआ, (जिससे बेबिलोनिया की सभ्यता न बच सकी), उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा। बहुत सम्भव है कि झाकर व झांगर सभ्यता के लोग आर्य नहीं हों, शायद वे आर्यों के पदचाप से बचने के लिए हिन्दुस्तान में शरण लेने आए हों। पर अन्त में उन्हें आर्यों का सामना करना ही पड़ा। आर्यों के आक्रमण का यह पहला फल था कि बचे-खुचे अनार्य नगरों को आर्यों ने तबाह किया। उनके देवता इन्द्र पुरभेत्ता व पुरन्दर कहे जाते थे—दुर्गों पर विजय प्राप्त करना इन्द्र का ही काम था। किलों के तोड़ने में वे आगे रहते थे।

तभी तो वे आर्यों के समर-देव थे। वेदों में इन किलों का जिक्र आया है। हरप्पा व मोहन्जोदाड़ो में किला का अवशेष मिला है, मोहन्जोदाड़ो व हरप्पा में कई अस्थिपंजर ऐसे अस्तव्यस्त अवस्था में पड़े पाए गये हैं कि मालूम होता है कि ये युद्ध में मारे गये हों, या जल्दी में मृत छोड़ दिये हों।

उपसंहार

हरप्पा नगर का अन्त भले हो गया हो, पर हरप्पा-सभ्यता की कई पहलुओं को हिन्दु-सभ्यता ने अपनाई जैसे मातृपूजा लिंगपूजा, शिवपूजा, पशुबलि, जन्तर-मन्तर पर विश्वास, और बर्तनों के रूप; कला व मूर्तिनिर्माण कला से प्रोत्साहन लिया। आर्य व हरप्पासभ्यताओं का समन्वय ही हिन्दुधर्म और सभ्यता का सच्चा रूप निश्चित हुआ।

सप्तम अध्याय

आर्यों का आगमन और उनका विस्तार

हरप्पा व चान्हूदारों की खुदाई में पाए गए अवशेषों से पता चलता है कि 'हरप्पावासियों' को नयी जातियों या नई संस्कृतियों का मुकाबिला करना पड़ा। सम्भव है कि ये लोग आर्य न रहे हों, पर आर्यों के दबाव के परिणाम स्वरूप भागते भागते भारत पहुँचे हों, और आर्य उनकी पीठ पर थे। वेदों में आर्यों की सभ्यता व विस्तार का वर्णन मिलता है। प्रश्न यह है कि आर्य कौन थे और उनकी जन्मभूमि कहां थी ?

आर्य कौन थे ?

योरप के विद्वानों ने जब संस्कृत का पता पाया तब उन लोगों को योरप की कई भाषाओं और संस्कृत में घनिष्ट सम्बन्ध मालूम पड़ा। फ्लोरेन्स (इटली का एक शहर) के एक व्यापारी फिलिप्पो सस्सेटी ने सोलहवीं शताब्दी में यह घोषणा की कि सस्कृत और योरप की मुख्य भाषाओं में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। पर इस सम्बन्ध का कारण एक ही स्रोत है. इस तथ्य का विश्लेषण पहले पहल सर विलियम जोन्स (William Zones) ने कलकत्ते में १७८६ में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की एक एक सभा में किया। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि संस्कृत, जर्मन, लैटिन, इंगलिश, ग्रीक, पर्शियन इत्यादि सभी भाषाओं की जननी एक ही थी, सबों की उत्पत्ति का एक ही स्रोत था। इसके पश्चात् भाषा-विज्ञान के प्रकाण्ड विद्वानों ने इस विषय पर खूब सोचा-विचारा। जब यह तय हो गया कि इन सब भाषाओं का एक ही स्रोत था तब यह मानना युक्तिसंगत है कि इन सब भाषाओं के बोलनेवालों के पूर्वज एक ही रहे होंगे,

और इनकी भाषा वही होगी जिनकी शाखाएँ आज की मुख्य योरोपीय व संस्कृत, फारसी इत्यादि भाषाएं हैं। इस मूल भाषा के बोलनेवालों को इन्डोयोरोपियन या इन्डोजर्मन या आर्य कहा जाता है।

अब प्रश्न यह है कि यदि कोई मूल भाषा थी, तो उसके बोलने वाले भी रहे होंगे। यह जरूरी नहीं है कि एक भाषा के बोलने वाले एक ही जाति (Race) के हों। अमेरिका के हब्शी (Negro) और अमेरिकन एक ही भाषा बोलते हैं, पर भिन्न जाति के हैं। इसलिए 'आर्य' शब्द को जातीय महत्व न देकर सांस्कृतिक महत्व देना ही अधिक श्रेयस्कर होगा। यह निर्विवाद है कि इस मूल आर्य भाषा के बोलने वाले बहुत दिनों तक एक ऐसे भौगोलिक क्षेत्र में बसे होंगे, जहां उनमें घनिष्ट सम्बन्ध रहा होगा; उस क्षेत्र में यातायात सुलभ होगा; वरना आर्य भाषाओं का दूर २ देशों में फैलना, और हजारों व सैकड़ों वर्षों से अलग रहने पर भी इन भाषाओं का मूल-भाषा के आधार पर स्थिर रहना नामुमकिन होता।

आर्यों का मूलस्थान।

इस मूल-आर्यजाति का निवास स्थान कहां था? यह विषय बहुत ही विवादग्रस्त है और अभी तक विद्वान कोई निश्चित परिणाम पर नहीं पहुंचे हैं। राष्ट्रीय भावना से प्रभावित होकर जर्मनी के विद्वान जर्मनी में ही इनकी जन्मभूमि मानते हैं, अधिकतर योरोपीय विद्वान आर्य को योरोपवासी समझते हैं, और कुछ भारतीय भारतवर्ष को ही यह श्रेय देते हैं। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर इस विषय का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही अध्ययन होना चाहिये। यदि किसी परिणाम पर पहुंचना असम्भव है तो हमें अपनी परिमितता माननी ही पड़ेगी।

भाषाविज्ञान के आधार पर आर्य-भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन करने से कुछ धातुओं (roots) का पता चलता है जो इन सभी

भाषाओं में पाये जाते हैं, और उनका एक ही अर्थ है। ऐसे धातुओं की सूची बनाई गई है, और इससे मूल आर्य-सभ्यता का परिचय मिलता है।

मूल सभ्यता

तुलनात्मक भाषाविज्ञान के आधार पर मूल आर्यसभ्यता के विषय में हमारी जानकारी बहुत कम है। पर इस सभ्यता का ज्ञान हमें और किसी अन्य स्रोत से उपलब्ध नहीं हो सकता है। आर्यभाषाओं के समान-शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह पता चलता है कि मूलआर्य स्थिर जीवन व्यतीत करते थे और मिट्टी की झोंपड़ियों में रहते थे। गाय-बैल, भेड़, घोड़ा, कुत्ता और सूअर पालते थे। अन्न उपजाते थे। जव (Barley) और गेहूं का व्यवहार जानते थे। उनके देश में बलूत का पेड़ (Oak), बीच (Beech) (एक जंगली वृक्ष) सरपत या सरइ (Willow), और अन्य समशीतोष्ण-कटिबन्ध के पौधे पाये जाते थे। बत्तक, भेड़िया और भालू से ये लोग परिचित थे। समुद्र का ज्ञान इन्हें नहीं था, क्योंकि समुद्र शब्द सभी भाषाओं में नहीं पाया जाता है। मछली का व्यवहार वे नहीं जानते थे। पर निषेधात्मक प्रमाणों के आधार पर निश्चित परिणाम पर नहीं पहुंचा जा सकता है। ऐसा सम्भव है कि कालक्रम व स्थान की दूरी के कारण कुछ भाषाओं में वे शब्द अब नहीं रहे हैं जो मूलभाषा में रहे हों। पशु-पौधे एक जगह से दूसरी जगह ले जाये जा सकते हैं। मूल आर्य जाति की शाखाएं जब अपनी जन्मभूमि से चलीं तो अपने नये घर में वहां की चीजों को लेती गईं, या नये घर की चीजों का अपनी मूलभाषा में ही नामकरण किया। पर यह भी सम्भव है कि कुछ दिनों के उपरान्त उनकी नयी भाषा में उन पुरानी चीजों का, पशु-पौधों के नाम का अभाव हो ही गया हो क्योंकि वहां वे चीजें पाई ही नहीं जाती हों। पर इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि मूल आर्य भाषा में ही उन चीजों के नाम का अभाव

था। सभी भाषाओं में भाई-बहन शब्द आया है। पर ग्रीक में भाई शब्द है, पर बहन के लिए जो शब्द है वह अन्य आर्यभाषाओं के शब्द के समान नहीं है। तो क्या इसका यह अर्थ होगा कि मूल आर्यजाति में बहन का सम्बन्ध नहीं था और भाई का था? यह भी सम्भव है कि समय और स्थान की दूरी के कारण आर्य भाषाओं में एक ही चीज के लिए दूसरे शब्दों का व्यवहार होने लगा हो। इसलिए निषेधात्मक प्रमाणों की नींव पर कोई भवन नहीं खड़ा किया जा सकता है। पर समान-शब्दों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि मूल आर्यजाति की सभ्यता क्या थी। पर शब्दों की असमानता के आधार पर हम उतनी ही दृढ़ता से यह नहीं कह सकते कि मूल आर्यसभ्यता में अमुक भाव व वस्तु का अभाव था। हमें स्पष्ट प्रमाणों के आधार पर ही मूल-आर्य-सभ्यता का नक्शा जानना है।

उत्तरी ध्रुव (?)

मूल आर्य सभ्यता का रूप ऊपर बताया जा चुका है। सबसे प्रमुख प्रश्न यह है कि वह कौन सा देश है, कौन सा भौगोलिक क्षेत्र है, जहां यह सभ्यता फैल सकती थी। यह सर्वमान्य है कि जब आर्य जातियां अन्य देशों की ओर चलीं उस समय की जलवायु व भूगोल आजकल से बहुत भिन्न नहीं रहा होगा। मूल आर्यजाति व सभ्यता की जन्मभूमि के प्रश्न पर विद्वानों में गहरा मतभेद है। वेद की कुछ ऋचाओं का खास माने लगाकर श्री लोकमान्य तिलक ने आर्यों का निवास स्थान उत्तरी ध्रुव क्षेत्र समझा था। पर यह अनुमान विद्वानों को ग्राह्य नहीं है। प्रासङ्गिक ऋचाओं का दूसरा अर्थ भी लगाया जाता है। और यदि उन ऋचाओं से यह अर्थ लगाया भी जाय कि दिन-रात कई महीनों के होते हैं, और सूर्य का वास्तविक में न उदय होता है और न अस्त, तो इससे तो यही अर्थ लगता है कि उतने प्राचीनकाल में भी आर्यों ने खगोल-विद्या में अद्भुत प्रगति किया था और उन्हें उत्तरी ध्रुव सम्बन्धी

घटनाओं का पता था, और न कि उत्तरी-ध्रुव उनका जन्म स्थान था।

डेनूब-कांठा (?)

अधिकतर विद्वान लोग आर्यो की जन्मभूमि एशिया या योरप के कतिपय क्षेत्रों में बताते हैं। डा० गाइल्स् (Dr. Giles) योरप के डेनूब-काठे को ही यह श्रेय देते हैं। उनके ख्याल में पूर्व में कारपेथियन पहाड़, दक्षिण में बाल्कन, पश्चिम में आस्ट्रिया के आल्प और उत्तर में इर्जेब्रिज (Erzgeberge) पहाड़ियों से घिरा हुआ डेनूब क्षेत्र में अनुकूल जलवायु, समतल व ऊंची जमीन, और प्रासंगिक पशु-पौधे पाए जाते हैं। यहां सुरक्षित होकर आबादी बढ़ती गई, और यहां से संकट आने पर देशान्तर-गमन भी सम्भव था। यहीं से आर्य जातियां एशिया माइनर व काला-समुद्र के तट होते एशिया पहुंची।

पर यह मत विद्वानों को मान्य नहीं है। पुरातत्व-विज्ञान के आधार पर यह पता चला है कि डेनूब-कांठे में नवप्रस्तर युग की संस्कृति के कई रूप विकसित हुये—और यहां के निवासियों ने पोलैण्ड, दक्षिण जर्मनी, बेल्जियम व पूर्वी-प्रशिया को भी अपने प्रभाव में कर लिया था। उत्तर में उत्तरी योरप के नौडिक निवासी से भी इनका सम्बन्ध था। इस तरह काफी जाति-मिश्रण हुआ होगा। अतः डेनूब सभ्यता का प्रभाव हम योरप के कई क्षेत्रों में पाते हैं, पर एशिया-माइनर पर इस सभ्यता का कोई प्रभाव नहीं मिलता। ट्राय शहर की खुदाई में डेनूब-सभ्यता का कोई चिह्न नहीं मिला है। यह साफ है कि डेनूब-सभ्यता का जैसा फैलाव मोरविया से बेल्जियम तक पाते हैं, वैसा एशिया व एशिया माइनर में नहीं मिलता है। अतः डेनूब-कांठे से आर्य-जातियां एशिया में फैलीं, यह सिद्ध नहीं होता। यहां तीर और आर्यो के अन्य हथियार भी नहीं मिलते हैं। इस समय यहां मातृदेवी की पूजा होती थी। इन सब कारणों से यह कहा जा सकता है कि तुलनात्मक भाषा विज्ञान के

आधार पर स्थित आर्य-सभ्यता के सब प्रमाण यहां नहीं मिलते हैं। फिर सदियों से इस समतलभूमि में स्थिर जीवन व्यतीत करने वाले आर्य भला क्यों कष्टदायक रास्ते से होकर बन्जारों का जीवन व्यतीत करने के लिए निकल पड़ते ? इस देश में जलवायु का कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन, जो कि यहां के निवासियों को देशान्तर गमन करने को बाध्य करता, नहीं हुआ।

स्कैन्डिनेभिया या जर्मनी (?)

पेंका (Penka) और कोसिन्ना (Kossinna) प्रभृति विद्वानों ने आर्यों की प्र म क्रीड़ाभूमि उत्तरी योरप (Scandinavia) या जर्मनी समझा। उनके विचार राष्ट्रीयता से प्रभावित थे। योरप के इस भाग पर बाहरी आक्रमण नहीं हुआ है, और यहां के निवासी गोरे लम्बे हैं और उनके बाल हल्के रंग के हैं। ये नौर्डिक (Nordic) ही आर्यों का शुद्ध और सच्चा प्रतीक हैं। मूल आर्य की शारीरिक विशेषता ऐसी ही थी। वेदों में आर्यों को कृष्णवर्ण दस्युओं से भिन्न माना गया है। कस्सी, एचिअन, यवन, और रोमन सभी आर्यजातियों का यही रूप-रंग था। क्योंकि यह नस्ल अभी भी योरप में उत्तर-समुद्र से कास्पिअन समुद्र तक फैली समतलभूमि में ही शुद्ध पाई जाती है इसलिए आर्यों की जन्मभूमि भी यही है। यहीं की जलवायु और भूमि में मूलआर्यों की शारीरिक विशेषता बच सकी है। इस अति विस्तृत क्षेत्र के मध्यस्थित भाग (North Central Europe) या यूक्रेन ही आर्यों का प्रथम क्रीड़ास्थल रहा होगा। ये स्वदेशाभिमानी विद्वान यह भी कहते थे कि संसार में आर्यभाषाओं की श्रेष्ठता या प्रधानता और नौर्डिक जातियों की शारीरिक श्रेष्ठता में स्वाभाविक सम्बन्ध है। जर्मनी का विश्वविजयी होने का दावा को उचित व न्यायसंगत समझने के लिए उपरोक्त दलील की मदद ली जाती थी। पेंका का यह विचार था कि नौर्डिक जाति बराबर विजयी ही रही, और इस पर कभी किसी अन्य जाति ने विजय नहीं प्राप्त किया।

विद्वानों ने इस विचार का खोखलापन दिखा दिया है। स्कैन्डि-नेभिया या उत्तरी जर्मनी में प्राचीन अस्थिपञ्जर पाये गये हैं। उनके मस्तकों के नाप लेने पर यह पता चला है कि वहां भी एक से अधिक जातियों का मिश्रण हुआ था। ट्यूटोनिक (Teutonic) भाषा सबसे शुद्ध आर्यभाषा नहीं है, और इसमें भी अनार्यभाषाओं का सम्मिश्रण है। स्कैन्डिनेभिया की सबसे प्राचीन-सभ्यता मूलआर्यसभ्यता से भिन्न है। यह सामुद्रिक प्रदेश है, मछली यहां बहुत मिलती है, और इसका प्रचुर व्यवहार भी है। पर मूलआर्य मछली का व्यवहार नहीं जानते थे, और शायद समुद्र से अनभिज्ञ थे। यहां की प्राचीन सभ्यता में धातु का प्रयोग का पता नहीं चलता है, पर आर्यसभ्यता में धातु का ज्ञान था। इसलिए तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर मूल-आर्य-सभ्यता का जो चित्र मिलता है वह स्कैन्डिनेभिया की सबसे प्राचीन संस्कृति से भिन्न है।

दक्षिण रूस (?)

अधिकतर विद्वानलोग दक्षिण रूस (South Russia) में मूल-आर्यों का निवासस्थान समझते हैं। श्रेडर (Schraeder) और चाइल्ड (Childe) इस मत के पोषक हैं। आर्य जातियों के देशान्तर-गमन की पौराणिक कथाओं व भाषा-विज्ञान के आधार पर मूल आर्य-सभ्यता का चित्र का वर्णन हम दक्षिण रूस को आर्यों की जन्मभूमि मान कर अच्छी तरह कर सकते हैं। दक्षिण रूस का विस्तृत चारागाह (Steppes) में हम मूल-आर्य-सभ्यता के अनुकूल जलवायु और पशु-पौधे पाते हैं। इस क्षेत्र में हिमयुग के पश्चात् के सबसे प्राचीन मनुष्यों की सभ्यता और मूल-आर्य-सभ्यता में विलक्षण समानता है। कास्पियन-समुद्र से नीपर नदी पर्यन्त एक ही सभ्यता फैली थी। पुराने कब्रों के खोदने पर जो अस्थिपंजर मिले हैं उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि ये लोग लम्बे, गोरे अर्थात् नॉर्डिक थे। लोग भेड़ चराते थे, गाय-बैल पोसते थे और फुर्तीले और मजबूत घोड़े की सवारी करते थे।

पहियेदार गाड़ी का नमूना भी मिला है। इसमें शायद घोड़े जोते जाते होंगे। घोड़े की सवारी व घोड़े से खींचा गया रथ आर्यों की विशेषता थी। कुछ कब्रों में अन्न भी मिलता है। खेती-बारी के साथ साथ गड़ेरिया का जीवन भी इस क्षेत्र में बिताया जा सकता था; यह मूल-आर्य-सम्यता का विशिष्ट गुण है। मूल आर्य-भाषा और सुमेरिअन भाषा में कुछ सम्बन्ध है। इसका कारण सांस्कृतिक सम्बन्ध ही होगा। दक्षिण रूस के चारागाह के पुराने कब्रों से जिन उद्योगों का पता चला है, उन पर मेसोपोटेमिया की छाप स्पष्ट है। दक्षिण रूस में पाये गए सबसे प्राचीन ताम्बे की छेनी, सूराखदार कुल्हाड़ी, भाले की नोक, कीट, मिश्र या पश्चिम योरप की इन चीजों से भिन्न है, और इनका निकटतर सम्बन्ध एशिया से है, मेसोपोटेमिया से विशेषकर। यह सम्यता कई अंशों में नव-प्रस्तर सम्यता है। ऐसा मालूम होता कि है मूल-आर्यों ने यहीं नव-प्रस्तर सम्यता विकसित किया, और फिर यहीं से इनकी कई शाखाएं कई दिशाओं में कालक्रमानुसार दूसरे २ देशों में गईं। मूल-आर्य-सम्यता किसी अलगाए हुये या पृथक् देश व वातावरण में नहीं विकसी। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के विशेषज्ञ कहते हैं कि मूल-आर्यों का समकालीन जातियों या संस्कृतियों से घनिष्ट सम्बन्ध था; इसकी छाप हम उनकी भाषा में पाते हैं। दक्षिण रूस में गेरुरंग से रंगे प्राचीन शव हजारों की संख्या में कब्रों में मिले हैं। रूसी पुरातत्ववेत्ता इस क्षेत्र की सम्यता को तीन भागों में बांटते हैं। सबसे पुराने कब्रों की सम्यता बहुत साधारण है, मिट्टी के बर्तन मिले हैं। इसके पश्चात् बड़े कब्र हैं, ताम्बे की बनी चीजें मिली हैं। अन्तिम भाग में लकड़ी के बने बक्स में शव पाए गये हैं। यह लौह युग, (Iron Age) के समकालीन हैं। प्रथम भाग पर कोई ,वदेशी प्रभाव नहीं मालूम पड़ता। यह आर्यों की मूल-सम्यता है जब कि आर्य लोग अभी अलग नहीं हुये थे। दूसरी स्थिति में हम इस सम्यता में बर्तन बनाने की कलाओं

का स्थानीय-विकास पाते हैं। कौकेशश पर्वत के उत्तरी ढाल-प्रदेश पर मेसोपोटेमिया की सभ्यता का तीव्र प्रभाव पाया गया है। यहां राजाओं या उच्च वर्ग के कब्र पाए गये हैं। इन कब्रों से काफी बहुमूल्य चीजें मिली हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि ये कब्र आक्रमणकारी आर्य-नेताओं के हों, जो अपनी जन्मभूमि छोड़ कर नये देशों को लूटने चले हों। आर्यजातियों का देशान्तर-गमन का इतिहास का श्रीगणेश शायद यहीं हो। बहुत सम्भव है कि ईरानिअनों व भारत के आर्यों के पूर्वजों ने पहले-पहल लुटेरे बन कर ही इन रास्तों का पता पाया, जिन पर आगे चल कर वे भारत व ईरान पहुंच सके। दूसरी शाखा उत्तर की ओर बढ़ी और बाल्टिक प्रदेश-लिथूनिया, व स्कॅन्डिनेविया पहुंची। फिर वहां से दक्षिण-पूर्व योरप-डेन्यूब की घाटी में आर्य-सभ्यता फैली। इन्हीं प्रमाणों के आधार पर श्रेडर (Schraeder) साहब फरमाते हैं—"दक्षिण रूस के चारागाह में ही इन्डो-यूरोपिअनों की सबसे प्राचीन क्रीड़ाभूमि थी। हमारी जाति का प्रथम निवासस्थान की खोज हमें यहीं करना है।"[1]

दक्षिण रूस ही आर्यों की जन्मभूमि थी—यह विचार के विरुद्ध भी दलीलें दी जाती हैं। यह भाग समुद्रतटवर्ती है, मछली का ज्ञान यहां के लोगों को बहुत पहले ही हुआ होगा। नमक से भी ये जरूर ही परिचित रहे होंगे। पर मूल-आर्य-भाषा में समुद्र, नमक व मछली शब्द का अभाव है। इस कारण, बहुत से विद्वान दक्षिण रूस में आर्यों का प्रथम निवास स्थान नहीं मानते हैं, बल्कि वे यह सम्भव समझते हैं कि अपने देश को छोड़ने के पश्चात् आर्यों का यह दूसरा वासस्थान (Secondary home) रहा हो।

---

१. It is in the Steppe of South Russia that the scene of the most ancient period of Indo-European development, the original home of our race is to the looked for—Schraeder.

मध्य एशिया (?)

एशिया में भी कई क्षेत्र हैं जिन्हें कतिपय विद्वान लोग आर्यों की जन्मभूमि समझते हैं। साइबेरिया या पामीर प्लेटो में मूल-आर्य-सभ्यता नहीं विकसित हो सकती थी। पर कास्पियन समुद्र के पूरब मध्य-एशिया (Central Asia) कई विद्वानों के विचार में आर्यों का प्रथम निवास-स्थान था। संस्कृत और जेन्द भाषा का रूप कई दिशा में योरप की आर्य भाषाओं की तुलना में अति प्राचीन है। ऐतिहासिक काल में मध्य एशिया से कितने बार जातियों का देशान्तर-गमन हुआ है, और संसार के अधिकांश भाग इन आक्रमणों की चपेट में आए हैं, जैसे शक व हूणों का आक्रमण। आर्य भाषाओं के समान-शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर कुछ विद्वानों का यह विचार है कि मूल-आर्य लोग मौंगोल व हूणों के निकट पड़ोसी रहे होंगे। कास्पिअन समुद्र के पूरब व बकशश झील तक फैला हुआ मध्य-एशिया का चारागाह में अनुकूल समशीतोष्ण जलवायु, प्रासंगिक पेड़-पौधे, पशु और तेज घोड़े मिलते हैं। आर्य यहां बन्जारों का जीवन व्यतीत करते थे। गड़रिये भेड़ चराते और लोग ऊनी कपड़ों का व्यवहार करते थे। आर्य भाषाओं को भाषाविज्ञान के विशारद् 'सौ' (hundred) शब्द के उच्चारण के आधार पर दो भागों में–Satem और Centum में बांटते हैं। योरप की आर्य भाषाएं Centum समूह की हैं, और संस्कृत व जेन्द Satem की। आर्य भाषाओं का यह अन्तर मध्य स्थित केन्द्र में ही हुआ होगा। एशिया और योरप सीमा पर स्थित दक्षिण रूस इसी कारण आर्यों की जन्मभूमि समझा गया था। पर हाल ही में एशिआई तुर्कीस्तान में तोखारिओं की एक प्राचीन भाषा Centum समूह की मिली है। इस कारण मध्य एशिया ही आर्यों का प्रथम क्रीड़ाभूमि रहा हो ऐसा विश्वास और पकड़ रहा है। ऐसा समझा जाता है कि मूल आर्यों की शाखाएं

देशान्तर गमन के लिए जब निकली थी, उसी समय आर्यभाषा के दो रूप—Centum और Satem हो गये थे। मध्य एशिया से आर्यों का देशान्तरगमन के मार्गों का भी परिचय मिलता है। यहां से पश्चिम की ओर पहली शाखा मुड़ी और योरप की जातियों की उत्पत्ति हुई। इसके पश्चात् एक दूसरी शाखा बल्ख आई, और यहां भारत के आर्य व ईरानियनों के पूर्वज बहुत दिनों तक साथ रहे। बल्ख इन आर्यों (Indo-Aryans) का दूसरा निवास-स्थान रहा। यहीं उस भाषा का विकास हुआ जो संस्कृत और जेन्द भाषा की अतिसन्निहित (immediate) पूर्वज है। यहाँ से एक शाखा ईरान की ओर गई, और वहाँ से एक जत्था भारत की ओर चल पड़ा। यह भी सम्भव है कि बल्ख से ही एक शाखा भारत की ओर, और एक शाखा ईरान की ओर चल पड़ी।

मध्य-एशिया बहुत विस्तृत प्रदेश है कास्पियन समुद्र से लेकर पूर्व में तरिम जलाशय तक। इस क्षेत्र में मूल आर्यों को अपनी सभ्यता का विकास व भाषा को स्थिर करने में उचित समय व स्थान प्राप्त था। यहां गेहूं की उपज हो सकती थी, इसलिए वे अन्न को कूटते थे। आबादी बढ़ने पर या पूर्व के बन्जारों के लगातार दबाव से आर्य की कई शाखाएं अपनी जन्मभूमि छोड़ कर बाहर निकल पड़ीं। दक्षिण रूस और बल्ख इन दो धाराओं के गौण निवास-स्थान हो गये। यहां की जलवायु व पशु पौधे मध्य-एशिया की जलवायु व पशु-पौधे से बहुत भिन्न नहीं थे। इसीलिए इन दो क्षेत्रों में एक को विद्वान लोग भ्रमवश आर्यों की जन्म-भूमि समझते हैं।

बल्ख (?)

संस्कृत और जेन्द भाषा की समानता व प्राचीनता के आधार पर बहुत से विद्वान आर्यों का निवास-स्थान बल्ख (Bactria) मानते हैं।

आवेस्त और वेद की भाषा में सचमुच काफी समानता है। वहाँ से दो शाखाएं विपरीत दिशा में चल पड़ीं, एक ईरान और हिन्दुस्तान की ओर और एक पश्चिम योरप की ओर। ईरानियनों के प्राचीन साहित्य में अपने पूर्व निवास स्थान (Aryan-Vraja) का उल्लेख आता है, और यह भी बताया गया है कि किन परिस्थितिओं में आर्यों को अपना देश छोड़ कर ईरान आना पड़ा। इसके आधार पर बल्ख को ही ईरानियनों (आर्यों) का अग्रिम क्रीड़ा-केन्द्र माना गया है। पर यह भी सम्भव है कि बल्ख-मूल आर्यों का गौण निवास-स्थान हो, जहां से ईरानियनों की शाखा निकली हो, और इसलिए इनके लिए बल्ख ही मुख्य निवास-स्थान था।

भारतवर्ष (?)

भारत के कई पंडित भारत को ही आर्यों की जन्मभूमि सिद्ध करने की चेष्टा करते रहे हैं। गंगा-यमुना की अन्तर्वेदी (मध्यदेश), काश्मीर, या मध्यहिमालय प्रदेश, या मुल्तान प्रभृति क्षेत्रों को मूलआर्यों का निवास-स्थान का श्रेय दिया गया है। इस विचार की पुष्टि में कई प्रकार के तर्क दिये जाते हैं। वेद आर्यों का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है, और इसमें कहीं भी आर्यों का बाहर से आने का जिक्र नहीं है, और न दूसरी जन्मभूमि का उल्लेख है। संस्कृत मूल-आर्य भाषा की सबसे प्राचीन और शुद्ध प्रतिनिधि है, इसलिए यह अधिक सम्भव है कि इसके बोलनेवाले ही मूलआर्य हों। यहीं यह भाषा परिपूर्ण हुई। यह समझना अनुचित है कि यहां आकर आर्यों ने भाषा को परिपूर्ण किया हो, और जहां से आये वहां भाषा इतनी परिपूर्ण न हो। भारत में मूल-आर्य भाषा में पाए गये पशु-जीव अधिकतर मिलते हैं। और जो नहीं मिलते जैसे बीच (beech) नामक जंगली वृक्ष शायद योरप में जाकर आर्यों को मिला, और इसलिए यह शब्द संस्कृत में नहीं है। बाघ व सिंह शब्द योरप की आर्यभाषाओं में नहीं है

क्योंकि ये पशु वहां नहीं पाए जाते हैं इसलिए उन्होंने इनके शब्दों को बहुत पहले ही त्याग दिया हो। भारत से बाहर ऐतिहासिक काल में लोग गये हैं, उपनिवेश स्थापित किये हैं, और अपनी संस्कृति फैलाई है। इसलिए यह बहुत सम्भव है कि यहीं से लोग ईरान, और योरप गये हों। इस विचार के पोषक यहां तक कह डालते हैं कि पर्शियन, यवन, शक, पल्लव व कम्बोज सब भारतीय आर्य थे। इनके विचार में हिटाइट् क्षत्रिय हैं और सुमेरिअन ब्राह्मण हैं। सिन्धु-कांठे की सभ्यता आर्य-सभ्यता है। आर्यों का सबसे प्राचीन प्रामाणिक पुस्तक वेद है, इसलिए वैदिक आर्य ही मूलआर्य थे और भारत के निवासी थे। अन्य आर्यों में भी अपने इतिहास व संस्कृति के उपाख्यानों को बचा रखने की प्रवृति है। यवनों ने होमर के महाकाव्य को सुरक्षित रक्खा। इसलिए यदि योरप की आर्य भाषाओं में वेद की समकालीन पुस्तक नहीं है तब इससे यही निर्णय किया जाना चाहिये कि ये आर्य जातियां वैदिक आर्य के समकालीन नहीं थे। वेदों के काल के पश्चात् ही भारत से आर्यजातियों के उपनिवेश-स्थापक योरप गये होंगे।

यह विचार कि भारत ही आर्यों की जन्मभूमि है, बहुत ही आकर्षक होते हुये भी सर्वमान्य नहीं है। यदि आर्य भारत के ही वासी थे और यहीं से दुर्गम पथों से होते हुये एशिया और योरप में फैले तो उन्होंने पहले पूरे भारत को क्यों नहीं आर्य बना लिया। द्राविड़ व मुण्डा व संथाल भाषाएं व सभ्यताएं भारत में क्यों टिकतीं? समूचा दक्षिण भारत और उत्तर भारत के भी कुछ भाग जैसे मध्यभारत व मध्यप्रदेश व छोटा नागपुर और उड़ीसा के कुछ हिस्से अनार्य-भाषी हैं। बलूचिस्तान में ब्राहुई भाषा की उपस्थिति महत्वपूर्ण है। यह भाषा द्राविड़-जाति की है। इन स्पष्ट प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पहले करीब करीब पूरे भारत में द्राविड़ भाषा का बोलबाला था और आर्यों के आक्रमण के परिणाम-स्वरूप द्राविड़ लोग दक्षिण में जमा हो

गये। पर उत्तर में ब्राहूइ भाषा उनके इतिहास की निशानी है। ऋग्वेद में गंगा का जिक्र सिर्फ एक बार है और नदियों का विवरण पश्चिम से पूरब की ओर है। अफगानिस्तान की नदियों का जिक्र है। इससे यह पता चलता है कि ऋग्वेद के समय में आर्य पंजाब ही तक फैल सके थे, और उनके विस्तार की दिशा पश्चिम से पूरब थी, न कि पूरब से पश्चिम। भाषाविज्ञान के पंडितों का मत है कि लिथुआनिअनों की भाषा संस्कृत भाषा से भी अधिक प्राचीन है। आर्यभाषाओं की तुलना के बाद जो मूलआर्यभाषा का रूप निकाला गया है उसमें व्याघ्र, सिंह पर्यायवाची शब्दों का अभाव है। पर ये जंगली जानवर भारत में बराबर पाए गये हैं, और यदि आर्यभाषा व आर्यजाति की उत्पत्ति यहाँ ही हुई थी, तो मूलआर्यभाषा में ये शब्द अवश्य मिलते। इसी तरह आर्यभाषा में जिन पेड़-पौधों के नाम-जैसे बीच (Beech) मिले हैं उनका संस्कृत भाषा में अभाव है। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि योरप में आर्यभाषाएं पूरी तरह विस्तृत है पर एशिया में दो-चार ही आर्यभाषाएं हैं और वे भी इधर-उधर फैली हुई है। इससे तो यही अनुमान सही मालूम होता है कि आर्यों का मूलस्थान योरप या योरप के अति निकट ही रहा होगा, और वहाँ से आर्य ईरान व भारत आए होंगे। भाषाविज्ञान के विद्वानों के अनुसार प्राचीन संस्कृत पर भी द्राविड़ व मुन्डा भाषाओं का प्रभाव है, और इन भाषाओं के शब्द इसमें पाये जाते हैं। इन सब तर्कों के आधार पर भारत को आर्यों का प्रथम निवासस्थान समझना उचित नहीं प्रतीत होता है। आर्यों ने भारत पर उत्तर-पश्चिम की ओर से आक्रमण किया, और द्राविड़ और मुन्डा भृति (Austric) जातियों वा भाषाओं का उनकी भाषा व संस्कृति पर प्रभाव पड़ा। 'हरप्पा'-सभ्यता को अधिकतर विद्वान आर्यों के पहले की सभ्यता मानते हैं। मातृदेवी की पूजा, नागरिक सभ्यता का विकसित रूप, मछली का व्यवहार, आक्रमण-निवारक अस्त्रों का अभाव, शिवपूजा, लिंगपूजा इत्यादि हरप्पा-सभ्यता को अनार्य

सभ्यता प्रमाणित करते हैं। हरप्पा-सभ्यता का काल २५०० ई० पू० से १५०० ई० पू० माना गया हैं। ऋग्वेद का वर्तमान रूप १५०० १००० ई० पू० में ही स्थिर हुआ होगा। आवेस्त और ऋग्वेद के समय में बहुत फर्क नहीं है, और आवेस्त का काल १००० ई० पू० से पहले नहीं माना जा सकता। अतः यह स्पष्ट हैं कि हरप्पा की अनार्य-सभ्यता वैदिक सभ्यता के पहले की हैं। कई विद्वान हरप्पा-सभ्यता को द्राविड़-सभ्यता मानते हैं। भाषा-विज्ञान के आधार पर प्राचीन द्राविड़ सभ्यता का जो रूप काल्डवेल और आयगंर साहब ने बनाया हैं वह हरप्पा-सभ्यता से बहुत अंशों में मेल खाता हैं। भाषाविज्ञान के पंडित हिन्दु-सभ्यता पर द्राविड़-सभ्यता का काफी प्रभाव पाते हैं। वेद में भी अनार्यों का प्रसंग आया हैं। इसलिए हम यह निष्कर्ष पर आते हैं कि आर्यों के पहले उत्तर भारत में द्राविड़ों की सभ्यता थी, और आर्यों ने बाहर से आक्रमण किया और में द्राविड़ों को सिन्धु-गंगा की काठे से मार भगाया; पर द्राविड़ सभ्यता की छाप हिन्दु-सभ्यता पर पड़ी।

आर्यों का फैलाव—हिटाइट् (हित्ती) और कस्स।

आर्यों के मूलस्थान के विषय में हमने ऊपर कई विचारों का अध्ययन किया, पर कोई भी मत अभी तक पूर्ण रूप से सिद्ध नहीं हुआ है। हमें अब आर्यों के इतिहास पर विचार करना हैं। मध्य और पूर्व एशिया-माइनर में १९५० ई० पू० के बाद हिटाइट् (हित्ती) पाए जाते है। हिटाइट् (हित्ती) भाषा शुद्ध आर्य-भाषा तो नहीं थी, पर आर्य-भाषा का इस पर गहरा प्रभाव अवश्य था। हिटाइट् या तो स्वयं आर्य थे, या आर्यों के बहुत निकट के पड़ोसी। १९५० ई० पू० एशिया माइनर में असीरिया के सांस्कृतिक उपनिवेश पाये जाते है, पर उसके बाद उनका पता नहीं चलता और हिटाइट् इतिहास में प्रवेश करते हैं। अतः हिटाइट् (हित्ती) लोग

एशियामाइनर में बाहर से आए, और ये बहुत दूर से नहीं आये थे। पश्चिम से तो कभी नहीं आये थे क्योंकि एशियामाइनर के तट पर उन्होंने अपना राज्य पहले-पहल नहीं स्थापित किया था। हिटाइट् आर्यों के मूलस्थान से एक छोटी गिरोह में निकले, और शायद काला समुद्र और काकेशश पहाड़ों के किनारे होते हुये दक्षिण-पश्चिम टारस-पहाड़ के उत्तरी भाग में उतर आए। इतिहास में हम आर्यों को यहीं सबसे पहले पाते हैं। हिटाइटों का देशान्तर-गमन शीघ्र आनेवाले आर्यों के विश्व-व्यापी देशान्तर-गमन का प्रतीक था।

हिटाइटों के पश्चात् इराक (मेसोपोटेमिया) में सत्रहवीं शताब्दी के अन्त और सोलहवीं शताब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में कस्सजाति का आगमन होता है। प्राचीन साहित्य के अनुसार ये लोग (Kassites) इराक में पूरब से आए। कस्स-नेताओं के नाम आर्य हैं, और इनलोगों ने तेज घोड़ों से जुता हुआ रथ की मदद से बेबिलोन के प्रथम वंश के साम्राज्य का अन्त कर दिया। हम्मूराबी के समय में ही कस्स व्यापारी व दुस्साहसी पुरुष इराक की भूमि पर छिटपुट तरह से आते रहते थे। कस्सजाति का आगमन और हम्मूराबी द्वारा स्थापित साम्राज्य का पतन से यह ज्ञात होता है कि आर्य अब अपने मूलस्थान से देशान्तरगमन के लिए बड़ी २ गिरोहों में निकल पड़े थे। आर्य अब विश्व-सभ्यता के इतिहास पर छाने लगे।

मित्तानी (Mitanni)

१५वीं व १४वीं शताब्दी ई० पू० आर्य-शब्द मित्तानी के राजाओं के नाम में पाए जाते हैं। मित्तानी का प्रदेश तिघरिस-यूफ्रेटिस के उत्तरी क्षेत्र में स्थित था, जिसे वर्तमान आरमिनिया (आराम) कहते हैं। मिश्र और हिटाइट् राजघरानों से इनका सम्बन्ध था। इन राजाओं के नाम आर्य हैं, जैसे दश्रत्त (दशरथ), सुतर्न् (सुवर्ण) इत्यादि। हिटाइट् और मित्तानी में १३८० ई० पू० एक सन्धि हुई थी। इस सन्धि की

एक प्रतिलिपि हिटाइट् की राजधानी बोघजक्यूई (Boghazquie) में मिली है। इस सन्धि में दोनों दलों ने अपने देवताओं की शपथ की थी। मित्तानी देवताओं के नाम हैं मि-इत्-त्-अस्, उ-रु-व्-न-अस्, इन्-द-र और ना-स-ति-इया-न। ये वैदिक मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य हैं। ध्यान देने की बात है कि मित्र वरुण का द्वन्द रूप है, और नासत्य भी बहुवचन में है। ये शुद्ध वैदिक रूप हैं। इस प्रमाण से यह तो स्पष्ट है कि वैदिक आर्य और मित्तान्निओं के देवता एक थे। बोघजक्यूई में पाए हुये लेख-पत्रों में किक्कुली नामक मित्तानी द्वारा लिखा हुआ रथदौड़ (Chariot-race) पर एक पुस्तक है। यह भी सन्धिपत्र के समकालीन ही है। इस पुस्तक में रथदौड़ के प्रत्येक मोड़ के लिए पारिभाषिक (Technical) शब्द हैं, जो कि संस्कृत से बहुत मिलते-जुलते हैं, जैसे ऐकवर्तन्न, तेरवर्तन्न, पन्ज़वर्तन्न, शत्तवर्तन्न। संस्कृत वर्तनम् (मोड़), एक, त्रि, पञ्च के ही ये रूप हैं। इसी पुस्तक में सैनिकों का कुलीनवर्ग (Military nobility) को मरिअन्नु (Mariannu) कहा गया है। संस्कृत में आर्य का अर्थ एक कुलीन वीर पुरुष है। अतः यह स्पष्ट है कि भारत के आर्य और मित्तान्निओं में घनिष्ट सम्बन्ध था। डा० जाइल्स साहब के विचार में मित्तान्नी भारत में पश्चिम से जानेवाले आर्य थे। पर यदि चौदहवीं शताब्दी में आर्य 'आराम' में ही थे, तो भारत पहुँचने में भी कुछ समय लगा होगा, पंजाब पर विजय करने में भी कुछ वक्त लगा ही होगा। ऋगवेद की ऋचाओं की रचना उस समय ही हुई होगी जब कि आर्य लोग अपने पूर्वनिवासस्थान की याद भी भूल गये होंगे। इस आधार पर भारत में आर्यों का आक्रमण ११००–१००० ई० पू० के पहले नहीं हो सकता है, पर यह सम्भव नहीं है क्योंकि ऋगवेद की सभ्यता, और उसकी कुछ ऋचाएं रचना १५०० ई० पू० के लगभग ही हुई होगी। अतः यह भी नामुमकिन नहीं है कि भारत से ही, या हिन्द-इरानियनों के संयुक्त-

काल में ही पूर्व से एक जमायत पश्चिम की ओर चल पड़ी, और आराम में बस गई। उनके देवता, और उनकी भाषा व सभ्यता हिन्द-इरानी सभ्यता रही। अनार्यों के झुण्ड में बहुत दिन तक वे टिक नहीं सके, और अन्त में उनका, कस्सों का व हित्तियों का नाश ही हो गया।

बल्ख में भी आर्यजाति की एक बड़ी शाखा ईसा से २००० वर्ष पूर्व के लगभग आकर बस गई थी, और यहीं से हिन्दूकुश पर्वत को लांघ कर आर्य भारत में पहुंचे। २००० ई० पू० के लगभग आर्यजातियों का मूल स्थान से देशान्तर-गमन प्रारम्भ हुआ। यह न एक बार और न एक समय हुआ। यह क्रम सदियों तक चला। योरप, भारत और और ईरान में आर्य स्थायी रूप से बस गये।

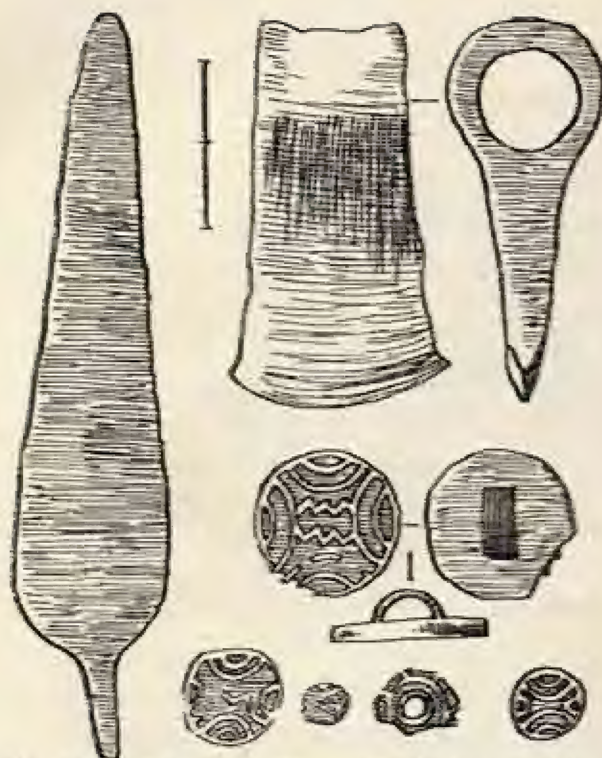
भारत में आर्य

भारत में आर्यों का प्रवेश का सीमित ज्ञान हमें पुरातत्व-विज्ञान और प्राचीन साहित्य से मिलता है। हरप्पा-सभ्यता का पतन और उत्तर-पश्चिम में जातियों के उथलपुथल में बहुत संबंध है। बलूचिस्तान की झोब-घाटी में स्थित राना-घुन्डाई के टीलों की खुदाई से यह पता चलता है कि किस प्रकार हरप्पा की शान्तिप्रिय सभ्यता पर आघात हुआ। राना-घुन्डाई की हरप्पा सभ्यता के समकालीन सतह (level) के ऊपर इन क्षेत्रों म आग लगाकर बर्बादी कर देने का स्पष्ट प्रमाण है। इन जले हुए सतह के ऊपर जो मिट्टी के बर्तन मिले हैं वे पहले के बर्तनों से भिन्न शैली के हैं। यह शैली जरा भद्दी है। यह नये और कुछ कम सभ्य जाति के आगमन का प्रतीक है। पर यह संस्कृति भी जला दी गई, और इसके बाद जो नयी सभ्यता स्थापित हुई उसके मिट्टी के बर्तन बिना रंगे हुये हैं, और इन पर नये प्रकार के चित्र (design) बनाए गये हैं। यह नयी जाति के आगमन का प्रमाण है। अतः यह स्पष्ट है कि इस समय उत्तर बलूचिस्तान में अराजकता, अशान्ति, आगलगी व लूटपाट का बोलबाला था। बलूचिस्तान के नाल-क्षेत्र में भी यही दृश्य मिलता है। दक्षिण

बलूचिस्तान में शाही-तुम्प की एक टीले की खुदाई से हरप्पा-सभ्यता के समकालीन सभ्यता का पता चला है। पर हरप्पा-सतह के समय के एक उजड़े हुये गांव में कब्रिस्तान मिला है, जिनमें १२ कब्रें पाई गई हैं। इन कब्रों में मिट्टी के बर्तन, ताम्बे के औजार व गहने, पत्थरों के बने आभूषण मिले हैं। मिट्टी के ये बर्तन मजबूत और अच्छे हैं। इन बर्तनों के ऊपर जो चित्रकारी है वह घेरे में है, या चौखटे में है। इस प्रकार के बर्तन पश्चिम में पर्शिया की सीमा पर पाए जाते हैं। इसका समय २००० ई० पू० माना गया है। इसमें एक कब्र में ताम्बे का भाला, और सूराखदार-कुल्हाडी भी मिली है। हरप्पा सभ्यता से ये चीजें भिन्न हैं, और इनकी समानता हम ईरान के प्राचीन खन्डहरों में पाते हैं, जिनका समय करीब २००० वर्ष ई० पू० है। दक्षिण बलूचिस्तान में इन चीजों का पाया जाना इस अनुमान की पुष्टि करता है कि करीब २००० ई० पू० दक्षिण-पर्शिया से होते हुये लोग यहाँ पहुँचे। एक कब्र में ताम्बे का भाला और सूराख-दार युद्ध कुल्हाड़ी (Shafthole battle-axe) प्राप्त हुई है। यह कुल्हाड़ी 'हरप्पा' की नहीं, बरन् मेसोपोटेमिया की समकालीन कुल्हाड़ी से मिलती है, और दक्षिण रूस के सर्दारों के कब्र में, जो मेसोपोटेमिया की सभ्यता की सीमा पर स्थित है, मिली है। शाही-तुम्प के कब्रों में जो ताम्बे की मुहरें (Seals) मिली हैं उनका पाश्चात्य संबंध और भी स्पष्ट है। जिस सैनिक की कब्र में यह कुल्हाड़ी और भाला मिला है उसकी खोपड़ी की जांच वैज्ञानिकों ने की है, और उनका विचार यह है कि वह मनुष्य सम्मिश्रित जाति का है, और कास्पिअन जाति के बहुत समीप है। इन सब प्रमाणों के आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि यह कब्रगाह नये आगन्तुकों का है, जिनका अभिप्राय शान्ति-पूर्ण व्यापार नहीं बरन् नये देशों का जीतना था।

मोहन्जोदाड़ो के अन्तिम दिनों में 'हरप्पा'-सभ्यता और दक्षिण बलूचिस्तान की 'कुल्ली'-सभ्यता का सम्बन्ध अधिक दृढ़ मालूम होता

है। ऐसा बहुत सम्भव है कि जब नयी जातियां इस क्षेत्र में गड़बड़ी मचा रही थीं, तब यहां के शान्तिप्रिय निवासी, कलाकार या शिल्पकार सिंधुकांठे में शरण लेने आए, क्योंकि यहां की सभ्यता और उनकी सभ्यता में घनिष्ट सम्बन्ध था और पारस्परिक तिजारत बहुत था। पर क्या ये लोग इन जातियों के आक्रमण से बच सके? नहीं, इन नयी जातियों ने इनका पीछा न छोड़ा और किरथार पर्वत की श्रेणी पर से घनी और उन्नत आबादियों को देख कर इन्हें लूटने की इच्छा वे नहीं रोक सके। चान्हुदारो, झुकर और लोहुम्जोदारो की खुदाई ने हरप्पा-शहरों के पतन के इतिहास पर नयी रोशनी डाली है। झुकर-सभ्यता हरप्पा-सभ्यता के तुरन्त बाद की है। इस काल के बर्तनों की शैलियों में हम 'आमरी' 'हरप्पा' और 'कुल्ली' (दक्षिण बलूचिस्तान) शैलियों का सम्मिश्रण पाते हैं। विदेशी प्रभाव का अभाव सा ही है। अतः यह अनुमान होता है कि इस समय इस प्रदेश (region) में उपद्रव या अशान्ति थी। 'हरप्पा'-साम्राज्य का पतन और नयी जातियों का उत्तर-पश्चिम में आगमन के फलस्वरूप देशीय झुकर-संस्कृति का जन्म हुआ। झुकर-मुहरों या जन्तर 'हरप्पा'-मुहर या जन्तरों के रूपरंग (design) से बहुत भिन्न हैं और उनका सम्बन्ध पश्चिम एशिया से साफ मालूम होता है। कुछ पत्थरों के मुहर तो शाही-तुम्प के कब्रगाह में पाए गये मुहरों से बहुत मिलते-जुलते हैं। कुछ मुहरों पर जानवरों के चित्र सुमेर व इलम से प्रभावित हैं, भारतीय तो वे हैं ही नहीं। एक मुहर पर गुथी हुई गांठ का चित्र है (Interlaced-coil-pattern) जिसका सम्बन्ध एशिया माइनर के हित्तीयों (Hittites) के मुहरों से है। पत्थरों के दानों (Stone-Beads) की भी यही कहानी है। सूराखदार कुल्हाड़ी भी शाही-तुम्प की कुल्हाड़ी से मेल खाता है। झुकरकालीन कांटा (बाल का) प्राचीन सुमेर के कांटों ऐसा है। हड्डी के बने टकुवे मिलते हैं जिनका 'हरप्पा'-काल में पूर्णतः अभाव है। झुकरकालीन



(पृ० १४३) शाही टुम्प के कब्रिस्तान में पाये गये ताम्बा के हथियार और मुहरें।

चित्र १९



(पृ० १४८) शूकरकालीन मुहरें और ताम्बा की बनी कुल्हाड़ें।

औज़ार हरप्पा काल के औज़ारों की तुलना में शुद्ध और प्राकृतिक हैं (unsophisticated) । उजड़े हुये शहरों में रहने के लिए इन लोगों ने जो निम्न प्रकार की कुटिया (Hovel) बनाई इससे भी इनकी सभ्यता का बर्बर रूप (Barbaric) का पता चलता है। झुकर-सभ्यता और शाही-तुम्प में पाई गयी चीजों में बहुत समानता है। अतः हम इस परिणाम पर पहुँचे कि इस समय दक्षिण बलूचिस्तान और सिन्धु-घाटी में विदेशी जातियों का प्रवेश हुआ। ये लोग या तो स्वयं आक्रमणकारी थे या आक्रमणकारियों के दबाव के फलस्वरूप इस ओर भागे आ रहे थे। इस समय के मिट्टी के बर्तन भले ही स्वदेशी-शैली के हों, पर धातुओं के उपकरण व मुहरें तो विजातीय ही हैं। मोहन्जोदाड़ो के सबसे ऊपर वाले तह (जो अन्तिमयुग का है) में जेवरों और बेशकिमती चीजों के ढेर मिले हैं। ताम्बे के औजारों के सबसे बड़े ढेर मोहन्जोदाड़ों के अन्तिम समय में ही पाये गये हैं। यह सब संकटकाल व अनिश्चित समय के उदाहरण हैं, जब लोग अपने बहुमूल्य सामान इकट्ठे करके जमीन में गाड़ने लगे थे। समय के मकान इस पूर्व की तुलना में बहुत निम्नकोटि के हैं। नगर-योजना का सिद्धान्त छोड़ दिया गया है। बर्तन के भट्ठे शहर के बीच ही में पड़े मिले हैं; एक तो बीच सड़क पर पाया गया है। नगर-योजना के सिद्धान्तों की अवहेलना, संकट का भय, बड़े बड़े मकानों को छोटे-छोटे भागों (flats) में बांट देना यह सब या तो वास्तविक विदेशी आक्रमण या, आगामी आक्रमण के सूचक हैं। सड़कों पर सैकड़ों अस्थिपंजर का पाया जाना और सीढ़ियों पर लाशों के ढेर मिलना यह सिद्ध करता है कि शहर पर आक्रमण हुआ था, और लोग मृतकों का यथोचित संस्कार छोड़ अपनी जान बचा कर भागने में लगे थे। मोन्हजोदाड़ो में ताम्बे का एक बसूला, (Axe-adze), जिसमें डन्डे की मुठिया के लिए सुराख है, पाया गया है। धातु की बनी ऐसी चीजें

'हरप्पा-सभ्यता' में नहीं पायी जाती है, पर मेसोपोटेमिया और उत्तर-पशिया में ऐसे उपकरण पाये जाते हैं। इस बसूले की उचित तुलना हम शाही-तुम्प के कब्र में पाये हुये कुल्हाड़ों से कर सकते हैं। मोहन्जोदाड़ो में यह पश्चिम से आया है और युद्धोपयोगी है। इसका काल ईसा से २००० वर्ष शताब्दी है। मोहन्जोदाड़ो में ताम्बे की तलवार या छूरे पाए गये हैं, जिनके आकार (design) "हरप्पा" परम्परा से भिन्न हैं। इस तरह की तलवार फिलस्तीन में १८००–१५०० ई० पू० काल की मिलती है। मोहन्जोदाड़ो में पिछले दिनों के एक घर के आंगन में एक कब्र मिला है, जो कि आक्रमणकारी का मालूम होता है।

हरप्पा में भी उपद्रव और नयी जातियों के आगमन के प्रमाण मिले हैं। हरप्पा का किला का टीला की चोटी पर ईंटों को लूट कर ले जाने का प्रमाण है। किले के अन्तिम दिनों की किलाबन्दी बहुत निम्न-कोटी की है और पूर्व के भग्नावशेषों व मलवों (debris) पर स्थित है। यह स्पष्ट है कि हरप्पा के बुरे दिन आ गये थे, और पतन के पश्चात् यह साधारण किलेबन्दी की गई थी। मूल हरप्पा-सभ्यता के पतन के बाद नयी जातियों के आगमन का निश्चित प्रमाण ऊपरी सतह पर पाया गया कब्रगाह है। 'हरप्पा'-कालीन कब्रगाह से यह कब्रगाह एकदम भिन्न है। मुर्दा गाड़ने की प्रथा भिन्न है। १४० से अधिक कब्र पाये गये हैं। इन कब्रिस्तानों में जो मिट्टी के बर्तन पाए गये हैं वे -कालीन मिट्टी के बर्तन से भिन्न है। इन बर्तनों पर कई प्रकार के तारों, पौधों, सीधी और टेढ़ी रेखाओं का मिश्रण और टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं के चित्र पाए जाते हैं। जानवरों व चिड़ियों को जिस प्रकार चित्रित किया गया है वह हरप्पा-काल के लिए अनूठा है। कुछ चित्र प्राकृतिक नहीं वरन् लाक्षणिक (Symbolic) हैं। बर्तनों की यह परम्परा प्राचीन-पूर्व की संस्कृतियों के बर्तन बनाने की ज्ञात परम्पराओं से एकदम भिन्न है। H-Cemetry के लोग हरप्पा में आगन्तुक ही थे। कहाँ से वे आये

और उनका क्या इतिहास रहा कहना अभी मुश्किल है। इस सम्बन्ध में कुछ और मनोरंजक बातें मिली हैं। हरप्पा से ३००मील पश्चिम राजानपुर और हजारों मील पूरब रांची जिले में, और गंगा की घाटी में ताम्बे के औजार व अस्त्रों के ढेर गड़े मिले हैं। ये चीजें हरप्पा-सभ्यता और उससे प्रभावित समकालीन संस्कृतियों की परम्परा की हैं। इससे यह तो निष्कर्ष स्पष्ट ही है कि 'हरप्पा' की धातुशोधन-विद्या का पश्चिम और पूर्व में प्रचार हुआ। पर यह सोचना भी असंगत नहीं होगा कि 'हरप्पा'-कालीन शहरों की बर्बादी के समय, विदेशी आक्रमणों के परिणाम-स्वरूप, सिन्धु-कांठे के कारीगर व धनीमानी लोग अपने बहुमूल्य उपकरणों के साथ पूरब और पश्चिम भागने लगे। पर वहां भी इन्हें चैन नहीं मिला, शायद आक्रमणकारी इन्हें खदेड़ते ही आ रहे थे, इसीलिए तो इन्होंने अपने औजारों को इकट्ठा छिपा कर रख दिया।

अतः बलूचिस्तान, सिन्ध और पंजाब में मिले प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट है कि हरप्पा-सभ्यता पर बाहरी दुश्मनों का आघात हुआ। खुदाई से प्राप्त हुई चीजों की तुलना जब हम अन्य विदेशी पड़ोसी व दूरस्थित क्षेत्रों में पाई चीजों से करते हैं, तब यह भी पता चलता है कि उपद्रव का काल २००० ई० पू० के पश्चात् है।

प्राचीन वैदिक साहित्य में आर्यों का विजातीयों से युद्धों का उल्लेख है। इन विजातीयों को दस्यु और निषाद् कहा गया है। बहुत सम्भव है कि 'निषाद' आज के मुण्डा प्रभृति के पूर्वज रहे हों, और दस्यु द्रविड़ हों। वेदों में दस्युओं के मजबूत किलों व सुदृढ़ शहरों (पुर) का जिक्र आया है। इन्द्र को इन शहरों (आयसिःपुरः) की किलेबन्दी को तोड़ने वाला (पुरभेत्ता) कहा गया है। विद्वानों का यह विचार है कि मृध्रवाची कृष्णवर्ण, शिश्नपूजक दस्यु 'हरप्पा'-वासी ही थे, और जिन लोगों ने हरप्पा आदि शहरों का विनाश किया, जिसका प्रमाण हमें पुरातत्त्व-विज्ञान से मिलता है, वे और कोई नहीं ऋग्वेदकालीन आर्य थे, या वे लोग थे जिन्ह

आर्य उत्तर-पश्चिम से खदेड़ते आ रहे थे। ऋग्वेद का काल बहुत ही विवादग्रस्त प्रश्न है; पर अधिकतर विद्वान इसके अन्तिम संकलन का समय १५००–१००० ई० पू० समझते हैं। यह समय पुरातत्वविद्वानों के मत से भिन्न नहीं।

एशिया-माइनर के हिटाइट्, मेसोपोटेमिया की कस्सजाति, आरमिया के मित्तान्नी, और भारत व ईरान के आर्यों का इतिहास का विस्तृत दृष्टि से अध्ययन करने पर यह मालूम होता है कि ईसा से करीब २००० वर्ष पूर्व एशिया और योरप को आर्यजातियों का महान् देशान्तर-गमन का सामना करना पड़ा। बहुत सम्भव है कि इसका सूत्रपात किरगिज के चारागाह से—कास्पियन समुद्र के उत्तर-पूर्व से उत्तर में उराल के पहाड़ों तक और पूर्व में तुर्किस्तान तक विस्तृत हुआ। यहां मेसोपोटेमिया की सांस्कृतिक परम्परा से सम्बन्ध सम्भव था; इस क्षेत्र से पूर्वीय एशिया-माइनर, और आरमिया और बल्ख-पामीर के क्षेत्र में पहले फैलना सम्भव था। काला समुद्र होते हुये योरप भी जाना कठिन नहीं था।

आर्य-अनार्य संघर्ष

आर्यों के देशान्तर गमन से आर्य-पूर्व-सभ्यताओं व जातियों को कठिन मुसीबत का सामना करना पड़ा। लगभग २००० ई० पू० से आर्य-अनार्य संघर्ष का आरम्भ होता है, जो कई शताब्दियों तक चलता रहा। आर्यों के जत्थे एक बार ही सारे संसार पर नहीं छा गए। आर्य जातियों का तांता बना रहा, और एक के बाद दूसरी आर्यशाखा पीठ पर मौजूद थी। इस कारण पहले और पीछे आने वाली आर्य जातियों में भी पारस्परिक संघर्ष रहा। इसका प्रमाण आर्य-भारत व आर्य-यूनान (Greece) के इतिहास में मिलता है। वेद और ब्राह्मण साहित्य में पौरवों, यादवों, हैहयों और परशुओं के झगड़ों का जिक्र मिलता है। ऋग्वेद में दशराज्ञ-युद्ध इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है : भारत-राजा सुदास के

विरुद्ध पुरु, यदु, तुर्वश अनु, द्रुह्यु, और पाँच अन्य आर्य जातियों ने मिलकर युद्ध किया। ग्रीस में आगन्तुक डोरिअनो के उपद्रव से एकिअन प्रभृति आर्य-जातियां पीड़ित रहीं, और बहुत लोग एशियामाइनर व पूर्व-मध्यसागर के स्थित प्रायद्वीपों में भाग गये।

पर आर्य-अनार्य का संघर्ष राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बहुत महत्त्व रखता है। आर्यपूर्व राज आर्यों के प्रहार से चूर हो गये। भारत म हरप्पा-साम्राज्य व सभ्यता का पतन हो गया और पंजाब में आर्य राज्य स्थापित हो गये। ऋगवेद में उत्तर पश्चिम-सीमाप्रान्त और पञ्जाब आर्यो की क्रीड़ा-भूमि रही। इस समय आर्य सिन्ध, राजपूताना, काश्मीर और पूर्व में सरयू-तट तक फैल गये थे। उत्तर-वैदिक साहित्य के समय के पहले ही कोशल, काशी व उत्तर बिहार ब्राह्मण सभ्यता के अधिकार में आ गये थे। अंग (भागलपुर-मुंगेर) और मगध (दक्षिण बिहार) भी आर्यो के अधिकार में आ गये थे। गंगा का दोआब तो बहुत पहले ही आर्य हो गया था। उत्तर व उत्तर-पश्चिम में काश्मीर व हिमालय तक आर्य फैल गये थे। दक्षिण में विन्ध्य-पर्वत के पार विदर्भ (बरार) आर्यों के अन्तर्गत था। उपनिषद् के समय में नर्मदा के उत्तर सारा भारत आर्य था।

भारत के पश्चिम आर्य-पूर्व सभ्यता पर, जिसके चिह्न सूसा और सिआल्क में मिले ह, इरानिअनों ने विजय प्राप्त की। इरान का नाम ही आर्यो ने दिया है। यहां से ये लोग दक्षिण और पश्चिम की ओर बढ़े और मेसोपोटेमिया की सीमा पर आ गये। इरानियनों की दो प्रमुख शाखाएं हुईं—मद (Medes) और परशु (पर्शियन)। मेसोपोटेमिया इनके हमलों के पहले ही कस्सों के आक्रमण का शिकार हो चुका था, और बेबिलोन का प्रथम राजवंश का अन्त भी इसी का परिणाम था। इस पूर्व-आर्य देश पर कस्स-आर्यो का आधिपत्य हो गया। कस्सों के

राजवंश के अन्त के बाद भी आर्यजातियों के देशान्तर-गमन के चपेट में आर्य-पूर्व इलम, दक्षिण-पश्चिम पर्शिया और मेसोपोटेमिया के राज आते रहे। आठवीं व सप्तमी शताब्दी ईसा से पूर्व शकों का वक्षु और जक्सार्टीज नदियों के मध्य-स्थित शकस्थान से पश्चिम एशिया पर आक्रमण होने लगा। उनकी बर्बरता से असीरिया-साम्राज्य काफी परेशान रहा, और एशारहेड्डन युद्ध और कूटनीति से काम लेकर इस खतरे को कुकाल के लिए टाल सका। पर असीरिया का महान् साम्राज्य पर मद्रों की गृद्ध दृष्टि पड़ चुकी थी। मद्रों का मिडिया का राज्य बेबिलोन के उत्तर-पूर्व स्थित था। शकों ने इस साम्राज्य को पहले ही रौंद डाला था, और अब मद्रों ने शकों और चाल्डियनों से मिलकर असीरिया के साम्राज्य का अन्त कर दिया। इस तरह सबसे महान आर्य पूर्व-साम्राज्य को मद्र-सम्राट् हुवक्षत्र ने अपनी कूटनीति और युद्धकौशल से ६१२ ई० पू० में नष्ट कर दिया।

पर्शिया का उदय

मद्रों का साम्राज्य पर्शिया की खाड़ी से लेकर तिघरीस के पूर्व तक फैला हुआ था। उत्तर-पश्चिम में यह काला-समुद्र के क्षेत्र तक विस्तृत था। परशु (Persians) मद्रों के मातहत थे। इरानियनों की पर्शियन शाखा नैनवा के पतन के समय जाग्रो की पहाड़ी के पूरब फैल चुकी थी। पर्शियनों की एक उपशाखा अन्शान ने एक छोटा राज प्राचीन इलम में स्थापित किया था। ईसा से लगभग ५७५ ई० पू० कुरुश प्रथम (Cyrus I) राजगद्दी पर आया। यह महान् सेनानायक और कूटनीतिज्ञ था। इसके हौसले भी बड़े थे। आर्यों का बढ़ाव चाल्डिया-बेबिलोन का साम्राज्य रोके हुए था। इस समय मद्र-राजा आर्यों की प्रगति का नेतृत्व करने के अयोग्य था। कुरुश ने इस परिस्थिति का फायदा उठाकर सभी बिखरी हुई पर्शियन जातियों को एक सूत्र में बांधा, और फिर मद्र साम्राज्य को अपने अधीन कर लिया। पर्शियन-

साम्राज्य अब कालासमुद्र से लेकर पूर्व में टीघरिस नदी तक फैल गया। कुरुश का अभ्युदय से बेबिलोन, लिडिया और मिश्र के अनार्य राज्य चकित और स्तम्भित हो गये। इनलोगों ने अपनी पुरानी शत्रुता भुलाकर कुरुश प्रथम के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा खड़ा किया। पर आर्यों की श्रेष्ठतर युद्ध कौशल, अस्त्र-शस्त्र और संचालन-शक्ति के सामने उनकी एक न चली। एशियामाइनर में स्थित लिडिया का प्रसिद्ध राजा क्रॉक का पतन ५४६ ई० पू० हो गया। क्रॉक संयुक्त-मोर्चा का वास्तविक नेता था और उसके पतन के बाद बेबिलोन का चाल्डियन राज्य निराश्रय रह गया। चाल्डियनों ने असीरियनों के विरुद्ध मद्रों को सहायता दिया था, और जिसके इनाम में उन्हें बेबिलोनिया का राज्य मिला था। पर पराश्रयी कब तक खैर मना सकता था। आर्यों को तो एक-एक कर अनार्य राज्यों का विनाश करना था। कुरुश प्रथम ने ५३९ ई० पू० बेबिलोन पर विजय प्राप्त कर लिया, और वहां भी अनार्यों का राज्य समाप्त हो गया। पर्शिया साम्राज्य अब ईरान से लेकर भूमध्यसागर (Mediterranean sea) तक फैल गया। कुरुश प्रथम के बाद कम्बुज या कम्बुश (Cambyses) ५२८ ई० पू० राजगद्दी पर आया। इसने प्राचीन आर्यपूर्व (Pre-Aryan) देश मिश्र पर ५२५ ई० पू० में विजय प्राप्त किया और मिश्र अब पर्शियन-साम्राज्य का अंग बन गया। यह साम्राज्य अब भारतीय सीमा से लेकर नील-नदी और पूर्वमध्यसागर तक विस्तृत हो गया। कम्बुश (Cambyses) का उत्तराधिकारी दरायुस प्रथम (Darius I) ने भारत के उत्तर-पश्चिमप्रान्त, सिन्ध और पञ्जाब पर लगभग २० ई० पू० में अपना राज्य स्थापित कर लिया। इसके ही समय में पर्शिया-यूनान में युद्ध छिड़ा जिसका अन्तिम परिणाम पर्शिया के लिए बुरा हुआ।

इस तरह ईसा से षष्ठी शताब्दिक पूर्व तक भारत और पश्चिम एशिया के आर्यपूर्व (Pre-Aryan) राज नष्ट हो गये, और आर्य राज

व सभ्यता ने इनका स्थान ले लिया। योरप में एजिअन समुद्र (Aegean Sea) के तटस्थित अनार्य-मिनोअन साम्राज्य और ग्रीस का माइकिनिअन (Mycenaen) सभ्यता का भी अन्त आर्य-यवनों ने १५००-१३०० ई० पू० कर दिया। आर्य-अनार्य संघर्ष लगभग १३-१४ सौ वर्ष तक चलता रहा। दक्षिण पश्चिम एशिया के आर्यपूर्व जातियां-असीरिअन, चाल्डियन, यहूदी, फिनिशिअन, फ्रिजिअन, इत्यादि—सेमेटिक जाति की थीं, और दक्षिणी चारागाह-अरब, रेगिस्तान के उत्तर में स्थित—से उत्तर की ओर निकली थीं। आर्य उत्तरी चारागाह—मध्य एशिया से दक्षिण की ओर बढ़े। बहुत से विद्वान आर्य-अनार्य संघर्ष को आर्य—सेमेटिक संघर्ष के रूप में देखते हैं; उत्तरी व दक्षिणी चारागाह-निवासी में कशमकश का रूप देते हैं। पर इस लम्बी अवधि की लड़ाई में अन्तिम विजय आर्यों को ही मिला।

आर्यों के विजय के कारण

आर्यों की जीत के कई कारण थे। पहली बात तो यह कि ये लोग बहुत बड़ी संख्या में अपनी जन्मभूमि छोड़ कर रोटी और शरण की तलाश में चल पड़े थे। इनकी संख्या बराबर बढ़ती ही गई। ठण्डे और कठिन देशों से इनकी जमायत में नया खून बराबर आता ही रहा। इनके पास खोने के लिए कुछ नहीं था, युद्ध का परिणाम इन के लिए कुछ प्राप्ति ही होता, इसलिए धनी औ सभ्य जातियों से लड़ने में इन्होंने अत्यन्त बर्बरता और अदम्य उत्साह दिखाया। आर्यपूर्व सभ्यताओं के क्षेत्रों की खुदाई से आग लगाना, शहर जलाना, कत्लेआम करना, या मकानों को तोड़-फोड़ करना इन आक्रमणकारियों के काम रहे हैं। वेद में भी दस्युओं के सुदृढ़ नगरों को जलाने का उल्लेख आया है। लूट-पाट में भी तो सैनिकों को बहुत धन की प्राप्ति हो जाती होगी। पर आर्य-विजय का सबसे प्रधान कारण था सैनिक श्रेष्ठता। आर्यों ने घोड़े द्वारा खींचा जानेवाला दो पहिये के रथ का युद्ध में पहले पहल

व्यवहार किया। प्राचीन स्थलों की खुदाई से यह पता चलता है कि आर्यों के पहले भी पश्चिम-एशिया के कुछ भाग में घोड़ा का ज्ञान था। सुमेर में गदहे के द्वारा खींचा जाने वाला दो पहिये की गाड़ी से यातायात में सुविधा थी। हरप्पा-सभ्यता में भी बैलगाड़ी का व्यवहार था ही। पर घोड़े से जुते हुये रथ का युद्ध में प्रयोग करना आर्यों का आविष्कार था। ये घोड़े बहुत फुर्तीले और मुस्तण्ड थे। 'रथ' शब्द का रूप सभी आर्य भाषाओं में पाया जाता है। वैदिक साहित्य और पुरातत्त्व-विज्ञान के द्वारा संकलित प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हो गया है कि ईसा से पूर्व दोहजारहवीं शताब्दी में भारत में, मेसोपोटेमिया में, मिश्र में, और ग्रीस में युद्ध में फुर्तीले घोड़े से जुते रथ का प्रयोग होने लगा। यह आर्यों की देन है और अनार्यों के विरुद्ध युद्ध में इससे बहुत लाभ हुआ। रथ में बैठ कर महारथी या रथी सैनिक तीर-धनुष से शत्रुओं की पंक्ति में त्राहि-त्राहि मचा देता था। आर्यों को एक और सुविधा थी। हरप्पावासी के पास निवारक-शस्त्र नहीं थे। ढाल व कवच और व शिरस्त्राण नहीं था। पर आर्यसैनिक अपने शरीर को धातु की बनी, सम्भवतः लोहे के बने (यवन-इतिहास हेरोडोटस ने लिखा है कि भारतीय सैनिक कपास के बने कवच से लैस रहते थे, इसमें तीरों की नोक भी नहीं चुभ सकती थी) जिरह-बख्तर व शिरस्त्राण से अपनी रक्षा करते थे। बहुत से विद्वान लोह-युग का प्रारम्भ भी आर्यों के युग से ही मानते हैं। ऋग्वेद में अयस् शब्द का प्रयोग आया है, जिसका अर्थ कुछ लोग 'लोहा' करते हैं। पर अथर्ववेद का 'श्याम अयस्' तो अवश्य ही 'लोहा' है। लोहे के बने हथियार ताम्बे व कांसे के हथियार से अधिक मजबूत थे। सैन्यसंचालन में भी आर्य कुरुश ने अभूतपूर्व योग्यता दिखाई। इन्हीं सब कारणों से आर्य-अनार्य संघर्ष का अन्त आर्यों के अनुकूल हुआ।

आर्य पर्शियन-साम्राज्य संसार का सबसे प्रथम सुदृढ़ और सुशासित साम्राज्य था। कुरुश प्रथम और दरायुश प्रथम ने इस ओर बहुत ध्यान

दिया। इतना विस्तृत साम्राज्य बीस प्रांतों में बंटा था। विजित-जातियों को अलग २ प्रांतों में बांट कर उन्हें सीमित स्थानीय-शासन देकर पर्शिया ने असीरिया का साम्राज्य-शासन सिद्धान्त को और भी अधिक बढ़ाया। इस सारे साम्राज्य में एक आदमी-पर्शिया का सम्राट्–की तूती बोलती थी। यह साम्राज्य एक व्यक्ति के द्वारा शासित था। संसार के इतिहास में इस बड़े पैमाने पर यह प्रथम प्रयास था। साम्राज्य में यातायात व सैनिक सुविधा के लिए लम्बी सड़कें बनाई गई थीं। घोड़े पर डाक लाने की प्रथा भी शुरू हुई।

यह निर्विवाद है कि ईसा से षष्ठी शताब्दी के भीतर ही आर्यों ने पूर्ण विजय प्राप्त कर लिया। पर यह समझना गलती होगी कि आर्य-सभ्यता अनार्यों की सभ्यताओं से बेहतर थी। आर्य पूर्व सभ्यताओं के इतिहास के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभ्यताएं भौतिक ज्ञान व धन में खूब बढ़ी चढ़ी थीं, इनकी तुलना में आर्य असभ्य ही कहे जा सकते हैं। पर आर्य गम्भीर चिन्तक व दार्शनिक निकले। इनके धर्म में आध्यात्मिकता की पुट थी। आर्य-अनार्य संघर्ष का फल था कि आर्यों की मूल सभ्यता में कालक्रमानुसार काफी परिवर्तन हुआ। हिन्दूधर्म और संस्कृति, कला और विज्ञान पर हरप्पा-वासियों का प्रभाव है। इसी तरह ईरानी सभ्यता और साम्राज्य शासन पर सुमेर और असीरिया का प्रभाव है। ग्रीस में यवनों की सभ्यता ने क्रीट द्वीप की मिनोअन-सभ्यता से बहुत कुछ पाया है। आर्यपूर्व सभ्यताएं नष्ट नहीं हुई, वरन् विजयी आर्यों के जीवन और साहित्य पर छा गईं। हमारी सभ्यताएं आर्य-अनार्य सभ्यताओं का समन्वय के परिणाम हैं।

अष्टम् अध्याय

सामाजिक-धार्मिक सुधार की लहर

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि षष्टी शताब्दी ईसा से पूर्व आर्यों ने अपना साम्राज्य एशिया और योरप पर स्थापित कर लिया था। पर आर्य-अनार्य का लम्बा-संघर्ष, और आर्यों का पूर्ण विजय, आर्य-अनार्य सभ्यता व धर्मों का समन्वय और स्वाभाविक धार्मिक परिवर्तन ने बुद्धिवादियों (Intellectuals) में मानसिक क्रान्ति, और धर्म और समाज में सुधारों की आवश्यकता की परिस्थिति पैदा कर दिया। षष्टी शताब्दी ईसा पूर्व में यह क्रिया यूनान, ईरान, भारत और चीन में एक समय ही उपस्थित हो गया। इस समय इन देशों में महान् चिन्तक और समाजसुधारक पैदा हुये, जिन्होंने विश्व को उच्च नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित रखना चाहा। इस समय इन देशों में धार्मिक रूढ़िता, सामाजिक असमानता, और नैतिक ह्रास का बोलबाला था। इन स्थिर स्वार्थों के विरुद्ध महापुरुषों ने अपनी आवाज़ उठाई। इस समय भारत और ईरान में पुरोहितों का प्रभाव बहुत बढ़ गया था, और सैनिक-कुलीनवर्ग इससे विचलित थे। साधारण जनता भी पुरोहितों से परेशान थी। समाज के भिन्न २ वर्गों में विरोधी भावनाएं उठ रही थीं। इस समय के महापुरुषों ने इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की, और समाज व धर्म-व्यवस्था को इस तरह बदलना चाहा कि समाज प्रगतिशील रहे, नैतिक स्तर ऊंचा हो, और जन-कल्याण व धर्म के मार्ग सहल हों। सप्तमी-षष्टी शताब्दियों के धार्मिक और सामाजिक सुधार की लहरों के पृष्टभाग में उस काल का वर्ग-युद्ध और मानसिक असन्तोष ही था।

१

जरथुस्त्र और उसके सिद्धान्त

कालक्रम के अनुसार ईरान में ही धार्मिक सुधार का आरम्भ पहले हुआ। ईरानी सभ्यता प्राचीन ग्रामीण—सभ्यता, व इलम की नागरिक सभ्यता और आर्यों की सभ्यता के समन्वय का परिणाम था। इस सांस्कृतिक और धार्मिक समन्वय ने बौद्धिक क्रान्ति का वातावरण पैदा कर दिया। ईरानियों के धर्म में 'मेजी' (Megi) पुरोहित का बहुत प्रभाव था। पशुबलि व तर्कहीन यज्ञों का प्रचार खूब था। इन्द्रजाल, जादूगिरी और भूतविद्या धर्म के प्रमुख अंग बन गये थे। सैनिक—कुलीन वर्ग (Warrior-nobility, क्षत्रिय वर्ग) मेजी पुरोहितों की बढ़ती ताकत से क्षुब्ध थे। जनता इन सारहीन धार्मिक रीति-रस्मों को ढोती आ रही थी। विश्वास और बुद्धि का अभाव था। बौद्धिकों को यह पुरोहित-धर्म और असन्तुष्ट समाज असहनीय हो रहा था। इसी समय जरथुस्त्र (Zoroaster) का आगमन हुआ। मसीहा जरथुस्त्र का काल विवादग्रस्त है। कुछ विद्वान लोग आवेस्ता के कुछ गाथाएं जिनमें इस महापुरुषों के सिद्धान्त मिलते हैं ईसा से १००० वर्ष पूर्व मानते हैं। पर अधिकतर विद्वान जरथुस्त्र का समय ६६० ५८३ ई० पू० मानते हैं। जरथुस्त्र ईरान की दशा से बचपन से ही क्षुब्ध रहे, और बालिग होते दुनियां से विरक्त होकर ध्यान में लगे रहे; और तीस वर्ष की उम्र में जरथुस्त्र ने अपने धर्म का प्रचार शुरू किया। उन्होंने यह बताया कि अहुरमज्द संसार का बनाने वाला है, और विद्या का स्वामी। उसके विरुद्ध देव या दानव (daimons) मोर्चा लिए हैं। अहुर-मज्द उजाला और अहुमन अंधियारा के प्रतीक थे; एक पवित्रता व अच्छाई, का देवता था और दूसरा अपवित्रता व बुराई का शैतान। दुनियां दो भागों में बंटी थी, अच्छी और बुरी। जरथुस्त्र की शिक्षा थी कि लोग निशंक होकर शुद्ध व पवित्र जीवन बितावें इससे देवता उनसे खुश रहेंगे, और मरने के



(পৃ০ ২২০) China : The Great Wall



पर्शिया–साम्राज्य

(Facing Page 154)

बाद उन्हें अच्छा परिणाम मिलेगा। अपने कर्मों का फल प्रत्येक मनुष्य को एक दिन भोगना ही पड़ेगा। सद्भाव या पुण्य (Goodness) और शठता या पाप (Evil) में बराबर युद्ध हो रहा है, और प्रत्येक मनुष्य को इस युद्ध में इस ओर या उस ओर भाग लेना है। जरथुश्त्र ने जनता को 'पुण्य' का साथ देने के लिए आवाहन किया। इस तरह इन नैतिक और अनैतिक सिद्धान्तों के पारस्परिक युद्ध को जरथुश्त्र ने प्रत्येक मनुष्य के जिन्दगी को संघर्ष से जोड़ दिया। इस तरह मनुष्य की जिन्दगी को नैतिक प्रयास की ओर बढ़ाया। अहुरमज्द की ओर से शैतानी प्रवृत्तियों से लड़ने का मतलब था पवित्र और धार्मिक जीवन व्यतीत करना, और इसका परिणाम था पृथ्वी पर स्वास्थ्य और वैभव की प्राप्ति, और मरने पर दूसरी दुनिया में अमरत्व। मनुष्य को अपने अच्छे या बुरे कर्मों का फल प्रलय के दिन (Last Day of judgment) भोगना ही पड़ेगा। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन पश्चिम एशिया में पहले पहल यहीं हुआ। यहूदियों और ईसाइयों ने इसे अपनाया।

धर्म का रूप

जरथुश्त्र का धर्म संसार के श्रेष्ट धर्मों में है। इस में रीति-रिवाजों का स्थान नहीं है। इन्द्रजाल (Magic) और जादूगिरी, भूत-विद्या और शास्त्रोक्तविधि (Rituals) को, जो धर्म के प्रमुख अंग बन गये थे, जरथुश्त्र ने अपने धर्म में कोई स्थान नहीं दिया। उनका धर्म सरल था और नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर आश्रित। धार्मिक विश्वास सद्जीवन व्यतीत करने में उत्साहवर्धक होता है। न्याय और सत्य के लिए सद्विचार रखना और उत्साहयुक्त कर्म करना ही मनुष्य का कर्तव्य था। ये कितने सुन्दर और पवित्र सिद्धान्त हैं। अहुरमज्द की पूजा मंदिरों में नहीं होती थी, न उनकी मूर्ति की पूजा होती थी, और न अलंकृत वेदी ही बनाई जाती थी। खुले आसमान में ऊंची जगहों पर अहुरमज्द की पूजा होती थी; पवित्र विद्वान अग्निकुण्ड

प्रज्वलित रखते थे। पृथ्वी (मिट्टी) जल, वायु और अग्नि पवित्र थे। इन्हें कोई किसी प्रकार दूषित नहीं करे, ऐसा उपदेश था। इसलिए मृतक शरीर को न जलाया जाता और न गाड़ा जाता था, उसे ऊंची जगहों पर चिड़ियों या गिद्धों के लिए छोड़ दिया जाता; गन्दी चीजों को नदी-नाले में नहीं फेंका जाता था; और अग्निकुण्ड के सामने पुजारी अपने मुंह ढांके रहते थे।

धर्म और समाज

जरथुस्त्र ने व्यापार की पेशा की निन्दा की, और कृषि की बहुत सराहना की। कृषक अहूरमज्द के प्रबल सैनिक थे। यह धर्म कृषकों का पोषक बना। कुलीनवर्ग (Aristocratic class) के सदस्यों को यह चेतावनी दी गई कि वे कृषकों के गांव को न लूटें। उपवास की मनाही थी, क्योंकि इससे शारीरिक शक्ति का ह्रास होता था। अहूर-मज्द की शिक्षा यह थी कि कृषक कड़ी मेहनत करें, परिवार की वृद्धि करें। ईरानियन शब्द 'Paradise' का अर्थ ही है सुन्दर ढंग से सुरक्षित क्रीड़ा-बाग (Park)। कड़ी मेहनत का फल है 'स्वर्ग' जहां मनुष्य मौज कर सकता है।

यदि कृषकों को कड़ी मेहनत की शिक्षा दी गई, तो उच्चवर्ग (Nobility) कुलीनों को सैनिक योग्यता और पवित्र सिद्धान्तों को अपनाने को कहा गया। पांच वर्ष से बीस वर्ष तक कुलीन शिशु या युवक तीर चलाना, घोड़ा चढ़ना और सत्य बोलना सीखता था। उसकी शिक्षा तभी समाप्त होती जब वह अपने वर्ग के सिद्धान्तों को सीख चुका था और सभी वर्गों (Classes) के साथ दया और कोमलता से व्यवहार करना जान गया था। साहस सबसे श्रेष्ठ गुण था, कायरता सबसे निकृष्ट। सत्य बोलना प्रतिष्ठा का मूल-मंत्र था, और झूठ बोलना पाप था। वासना और कल्पित प्रेम के लिए कुलीनों को समय नहीं था। उनकी सच्ची वासना थी "सद्विचार, सद्शब्द, और सत्कर्म"। इसीसे

उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती और अन्त में अमरत्व प्राप्त कर वे देवों की संगति प्राप्त करते थे।

अहुरमज्द समूची दुनियां का सम्राट् था। राजा और सामन्त (Nobles) को उसका विश्वास प्राप्त था, और उनका काम था दुनिया को पुनः नयी अवस्था में लाना। राजा पितृ-तुल्य था और देश में शान्ति स्थापित रखना और प्रजा की भलाई करना उसका कर्तव्य था। कुलीन-वर्ग उसे शासन और युद्ध में मदद करते थे। दूसरे देशों पर विजय का अर्थ था पवित्र अहुरमज्द का छोटे देवताओं या दानवों पर विजय।

जरथुश्त्र ने सन्यास धर्म की शिक्षा नहीं दी। उन्होंने जीवन म निराशावादी सिद्धान्त नहीं अपनाया। उनका विचार था कि सांसारिक आनन्द, इन्द्रिय-सुख मनुष्यों के लिए उचित हैं। पर मनुष्य को बराबर उस मेहनत (Labour) का ध्यान रखना चाहिये जिसके कारण सांसारिक सुख मिल सका है। इसलिए मजबूत और साहसी पुरुष योग्य है, कमजोर नीच।

जरथुश्त्र ने धर्म का सरल रूप दिया। जनसाधारण को नैतिक गुणों पर चलने को कहा। उस समय अनैतिकता, धर्मान्धविश्वास व सारहीन विधियों (rituals) का बोलबाला था। जरथुश्त्र ने इनके विरुद्ध आवाज उठाई, और धर्म का पुनर्संगठन किया, नैतिक सिद्धान्तों पर अधिक जोर दिया। वह नये धर्म के संस्थापक नहीं वरन् प्राचीन धर्म के असली रूप को पुनर्जीवित करने वाले थे। समाज में उच्छृंखलता फैली थी, और भिन्न २ वर्गों के निजी स्वार्थों में विरोध था। उच्चवर्ग व सैनिकों के द्वारा निरीह कृषक सताए जाते थे। धूर्त वणिकों का प्रभाव बढ़ रहा था। कृषकों का पेशा खराब समझा जा रहा था। उत्पादन स्वभावतः कम रहा था। जरथुश्त्र ने समाज व अर्थ व्यवस्था के इन रोगों को देखा। उन्होंने समाज का नवनिर्माण नये सिद्धान्त पर नहीं किया;

वर्गों का अन्त करके वर्गविहीन समाज की नींव नहीं डाली। समाज में वर्गों का अस्तित्व और उनकी विशेष सुविधाएं थीं। उन्होंने वर्ग-विभेद समाज में वर्गों के पारस्परिक हितों और कर्त्तव्यों में न्याय और औचित्य का सिद्धान्त अमल में लाने की शिक्षा दी। विभिन्न वर्गों को अपने निजी-स्वार्थों की रक्षा करते हुये वर्ग-सामञ्जस्य का सिद्धान्त अपनाने को कहा। वर्ग-वैमनस्य के स्थान पर उन्होंने वर्ग-सहयोग का पाठ पढ़ाया। वह नये समाज को नये सिद्धान्त पर स्थापित करने वाले नहीं थे, वरन् पूर्व वर्ग-व्यवस्था के अन्तर्गत ही समाज में नियन्त्रण चाहते थे, जिससे समाज में शान्ति और आर्थिक प्रगति हो, उत्पादन बढ़े। पुरोहित, जनता, किसान, और सैनिक व कुलीनों को जरथुस्त्र ने सरल पूजा, कृषि का आदर्श, कुलीनों की उत्तम शिक्षा और न्यायी राज-शासन के सिद्धान्त पर मिलाया।

उनके धर्म का ईरान में खूब प्रचार हुआ। ईरान का शाहंशाह गुस्तास्प इस धर्म को मानने लगे और यह धर्म राष्ट्रीय धर्म और राजधर्म बन गया। गुस्तास्प का धर्मपरिवर्तन जरथुस्त्र धर्म के लिए उतना ही महत्वपूर्ण है जितना बौद्धधर्म के लिए मगध सम्राट् अशोक का धर्म-परिवर्तन। पर जरथुस्त्र को धर्मप्रचार में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। ईरान के बादशाह गुस्तास्प के धर्मपरिवर्तन से तूरान का राजा अरजेतास्प, जिसने जरथुस्त्र के धर्म को मानने से इन्कार कर दिया था, बिगड़ गया। ईरान-तूरान में घमासान युद्ध हुआ। जरथुस्त्र ने स्वयं ही ईरान के बादशाह को तूरानी सल्तनत का विरोध करने के लिए उत्साहित किया। युद्ध ५८३ ई० पू० तक चलता रहा। काफी खून खराबी हुई। अन्त में जरथुस्त्र-धर्म की जीत हुई। पर महात्मा मर चुके थे। इस तरह इस पवित्रधर्म के फैलाने में युद्ध भी करना पड़ा। सद्धर्म के लिए युद्ध करना जरथुस्त्र की शिक्षा का एक अंग था। इस धर्म के कारण समाज में नयी स्फूर्ति आई, राज-शक्ति बढ़ी, और राजशासन प्रजा का हितचिन्तक बना। जरथुस्त्रधर्म से प्रभावित ईरानी सभ्यता का रूप आशावादी रहा। जरथुस्त्र को यह विश्वास

था कि मनुष्य को इस पृथ्वी पर आराम व सुख हो, यह अहुरमज्द को प्रिय है। उचित श्रम, ज्ञानपिपासा, युद्ध में साहस—इन गुणों पर अहुरमज्द का विजय निश्चित है। दुनिया को पहले से सुन्दर, और पहले से अधिक सुशासित बनाने वाले मनुष्य को स्वर्ग का आनन्द प्राप्त होता है। पर यह सब चीजें अस्थायी है; पर जरथुस्त्र के नैतिक सिद्धान्त और व्यक्तिगत जीवन में पवित्रता व सच्चाई पर जोर प्रत्येक देश और काल के लिए स्तुत्य और मान्य है। उनके मरने के बाद भी उनका धर्म चलता रहा। हिन्दुस्तान के पारसी इसी धर्म को मानते हैं। विश्व-इतिहास में जरथुस्त्र के प्रति वही आदर और स्थान है जो कि धर्म सुधारक महात्मा बुद्ध, कन्फ्युशिअस् और सुकरात (Socrates) के लिए सुरक्षित है।

२
चीन

संसार के अति प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्रों में चीन एक है। चीन की विशेषता यह है कि जब अन्य प्राचीन संस्कृतियां प्रायः नष्ट ही हो गईं, या उनका रूप एकदम बदल गया, चीन की सभ्यता अभी भी लगातार चलती आ रही है। जब सुमेर, असीरिया, प्राचीन मिस्र, व सीरिया का या तो नामोनिशान मिट गया या उनकी वर्तमान सभ्यता और प्राचीन संस्कृति में सम्बन्ध प्रायः नहीं ही है, चीन अमर है और चीन की सभ्यता दीर्घायु। चीन का समाज और जनता का दृष्टिकोण बहुत अंशों में प्राचीन ही है; यहां हम भारतवर्ष और चीन म समानता पाते हैं। हजारों वर्ष से आती हुई सभ्यता व संस्कृति अभी इन दो देशों में जीवित है।

चीन की सभ्यता का दीर्घायु और सदा एक रूप होने के कई कारण बतलाए जाते हैं। प्रकृति ने चीन को संसार से अलग रखने का यत्न किया। चीन के पूर्व ऊँचे पहाड़ हैं, और इन पहाड़ों से हुआंग, यांगत्सी, और सी नदियां निकली। इन नदियों की कांठे में सभ्यता पनपी। पश्चिम में वे उपजाऊ घाटियां समुद्र के किनारे की जमीन

में मिल जाती हैं, पर प्राचीन काल में समुद्र और इन कांठों (Valleys) के बीच भीषण दलदल और बड़े-बड़े जंगल, मरुभूमि और चारागाह थे। चीन से पश्चिम एशिया और भारतवर्ष जाने के लिए रास्ते दुर्गम थे। वर्षाकाल में एक रास्ता यांग्तजी नदी और पहाड़ों और जंगलों से होकर निकलता था; दूसरा अलताई पर्वत के पश्चिम और जुंगरेयिन दर्रा के पूर्व से निकलता था, और तीसरा मार्ग तरिम-जलाशय (Tarim Basin) से होते हुये पामीर-दर्रों की ओर जाता था। भारतवर्ष और मध्यएशिया जाने का यही रास्ता अधिकतर अपनाया जाता था, खासकर जब वर्षा काफी होती थी। बाहरी दुनियां से चीन का सम्बन्ध कठिन मार्गों से ही हो सकता था, इसी का एक परिणाम यह था कि चीन की सभ्यता बहुत अंशों में एकान्तवास में पनपी। इस सभ्यता का स्थायी और एक रूप होने का यह प्रमुख कारण है। चीन का पृथकत्व इतना काफी था कि उसकी सभ्यता का विकास अविच्छिन्न रहा। यह ठीक है कि जब मध्य एशिया में जातीय उथल-पुथल हुआ तब उत्तरी राह से कुछ लोग उत्तर चीन में घुस आते थे, या मौंगोलिया के असभ्य कभी २ चीन पर टूट पड़ते थे। पर ये जातियां अन्त में चीनियों में विलुप्त हो जातीं, और विदेशीय वस्तु व भाव को चीनी अपनी सभ्यता में पूरी तरह पचा लेते थे। उनकी स्वदेशीय सांस्कृतिक परम्परा में कुछ फर्क नहीं पड़ता था।

चीन गरीब देश है। जंगलों, पहाड़ों से परिपूर्ण यह देश बाढ़ (flood) के प्रकोप से भी बराबर परेशान रहा है। नदियों की तंग घाटी में अन्न उपजाए जाते थे, पर कृषिकार्य बड़ा ही कठिन था। ह्वांगनदी की लाई हुई पीली मिट्टी बहुत उपजाऊ थी। इस पीली मिट्टी के खेत को तालाब, दलदल इत्यादि से निकालने में सतत प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती थी। पर कृषि की सफलता आसान नहीं थी। गर्मी की मौसम में अंधड़ और अनावृष्टि का भय



(Facing Page 166) प्राचीन चीन

चित्र २१ (ब)



(पृ० १७२) कान्फूसिअस्

रहता, और कभी टिड्डियों का आक्रमण भी होता था। शीतकाल में बहुत अधिक ठंढ पड़ता, और वसन्त में बाढ़ का भय बना रहता है। इसलिए चार-पांच महीने में ही अति परिश्रम कर बेचारे किसान एक फसल काट लेते थे, और इसी से इनकी जीविका चलती थी। चीन में खनिज पदार्थों का अभाव ही है। इसलिए चीन की प्राकृतिक साधन इतने न्यून थे कि यह किसानों का देश ही रह सका। वहां के किसान बैल की तरह खट कर काम करते और अपना पेट किसी तरह पाल सकते थे। गरीब किसानों की सभ्यता स्वभावतः एकसम और टिकाऊ रही।

चीन का इतिहास बहुत पुराना है। किसी भी देश का सिल-सिलेवार इतिहास इतना पूर्ण और पुराना हमें नहीं मिलता। धार्मिक-सभ्यता के आधार पर यहां भी कई क्षेत्रों में नागरिक-सभ्यता विकसित हुई। सभ्यता लगातार विकसित होती रही। चीन की प्राचीन नागरिक सभ्यता ह्यांग-काउे में शाङ् वंश के समय में पनपी। इस क्षेत्र की खुदाई से हमें प्राचीन राजधानी शाङ्ग शहर (the Great City Shang) का पता चला है। इस समय गेहूं की फसल होती थी, कांसे का प्रयोग होता था, और रथों का व्यवहार होता था। इस सभ्यता का आर्थिक आधार था कृषि और कुछ उन्नत शिल्प (crafts)। शाङ्ग-युग में सरल धार्मिक जनता के ऊपर एक सैनिक सत्ताधारी वर्ग की उत्पत्ति हुई और एक सबसे प्रमुख सरदार की हुकूमत छोटे सरदारों पर कायम हुई। इस समय भविष्यवाणी पर बहुत विश्वास किया जाता था, और पुरोहित लोग बलि हुए पशुओं के गुर्दे पर के निशान को पढ़ कर ईश्वर का संदेश समझाते थे। अतः सत्ताधारी वर्ग और पुजारीवर्ग में घनिष्ट सम्बन्ध था।

पहाड़ी जातियों ने उत्तर-पश्चिम से हर सभ्य इलाकों पर हमला करना आरम्भ कर दिया, और शांगवंश का ११२५ ई० पू० के लगभग अन्त हो गया, और चाऊ राजवंश की स्थापना हुई, और वह २२५ ई०

पू० तक कायम रहा। इनकी शक्ति का केन्द्र वाइ नदी की घाटी (Wei Valley) थी, और इन्होंने हुआंग-काउँ को एक राज-सूत्र में बांधा। इस समय जागीरदारी प्रथा (feudalism) का खूब प्रभाव था। चाऊ राजाओं ने जागीरें सिर्फ अपने साथियों को ही नहीं दिया, बल्कि पुराने सेनापतियों और बचे हुये शांगकुलीनों को भी दिया। इस तरह सैनिकवर्ग, जिसका आरम्भ शांगयुग में ही हुआ था, इस युग में बहुत संगठित हो गया। धर्म और कुलीनवर्ग (aristocracy) में घनिष्ठ सम्बन्ध था। चाऊ-राजा पुरोहित भी था। राजपरिवार में बहुविवाह- था का प्रचार था। राजा व राजकुमार रखेलियां भी रखते थे। उनके पुत्रों में वैमनस्य स्वाभाविक था। इसलिए गृहयुद्ध बराबर होते रहे। पर इन युद्धों के बावजूद चाऊ-युग चीन की सभ्यता के इतिहास में स्वर्णयुग समझा जाता है। राजा ईश्वर का पुत्र (Son of Heaven) माना जाता था। उसकी अवज्ञा करना पाप था। पर राजा का धार्मिक कर्त्तव्य था कि वह प्रजा की भलाई करे। इसीलिए तो वह देश का प्रमुख पुरोहित भी था, और ईश्वर और देवताओं को खुश रखना उसका काम था। सैनिक-कुलीनवर्ग राजसत्ता के सर्वेसर्वा थे, पर उन्हें भी जनता की भलाई का ध्यान रखना पड़ता था। प्राचीन चीनियों का यह विश्वास था कि पूर्वजों की प्रेतात्माओं को प्रसन्न रखकर देश व समाज की रक्षा व उन्नति किया जा सकता है। इसलिए पितरों की पूजा करना धार्मिक कर्त्तव्य था। पर इस काम के लिए भी राजा और कुलीनवर्ग के प्रत्येक सदस्य की जिम्मेवारी अधिक थी। प्रत्येक कुलीन के धार्मिक कर्तव्य थे।

चाऊ युग में राज की कई संस्थाएं विकसित हुईं। राजा ईश्वर का भेजा हुआ था। पर वह ईश्वर-नियुक्त तभी तक था जब तक कि वह अपनी शक्ति प्रजा की भलाई में व्यय करता था। इस सिद्धान्त का दूमानिया अर्थ निकला। क्योंकि राजा को

नियुक्ति ईश्वर ने की थी, और वह देवपुत्र था, इसलिए राजा दैवी-शासक हो गया। उस पर कोई वैधानिक व व्यवहारिक रोक नहीं लगाई जा सकती थी। पर राजा यदि जनता की भलाई करने में चूक गया हो तो वह देवपुत्र के आसन से गिर पड़ता था और तब प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य था कि वह राजा के विरूद्ध इस धर्मयुद्ध में भाग लेकर ऐसे राजा को दण्ड दे। अतः चीन के राजनीतिक उलट-फेर व समाज की स्थिति का आधार धार्मिक ही रहा। इस युग में कुलीनवर्ग कई निश्चित क्रमों में बँटा था, और प्रत्येक के अधिकार व कर्त्तव्य निश्चित थे। किसान के प्रत्येक परिवार को भूमि से अपना भाग मिल जाया करता था। किसान कड़ी मेहनत करते और कुलीनवर्ग शासन करता था। कुलीनों की शक्ति अस्त्र-शस्त्रों के एकाधिपत्य पर आधारित थी। सिर्फ उनके पास ही रथ, घोड़े व कांसे के हथियार थे। राजा को युद्ध में सहायता देने के बदले इन्हें जागीर मिलती थी, जिसमें वे किसानों के द्वारा खेती कराते थे। कुलीनों को अपने वर्ग के निश्चित नियमों का पालन करना पड़ता। सामाजिक जीवन में शिष्टाचार के नियमों को मानना जरूरी था। किसान कड़ी मेहनत करते थे, पर जमीन पर उनका कोई अधिकार नहीं था। वे स्वयं जागीरदारों के गुलाम थे, और उनको कर देने के पश्चात् इन किसानों को पेट पालने के सिवा शायद ही कुछ और बचता था।

योग्य और धार्मिक राजा, नियमबद्ध कुलीनवर्ग का शासन, और मेहनती किसान चाऊ-युग के स्वर्णयुग के निर्माता थे। पर ईसा से सातवी-आठवीं शताब्दी पूर्व राजा की शक्ति को जागीरदारों ने कम करना शुरू कर दिया और अन्त में राजा उनका खिलौना बन गया, देश हजारों जागीरदारों में बंट गया, और प्रत्येक जागीरदार निरकुंश व स्वच्छन्द शासक बन बैठा। राजा की शक्ति का ह्रास का परिणाम यह हुआ की जागीरदारी प्रथा का संगठन टूट गया। सामाजिक परम्परा का नाश हो गया। आपसी झगड़े बढ़ गये।

जागीरदारों की संख्या परस्पर के खूनी झगड़े के कारण कम हो गई। समाज में अव्यवस्था फैल गई। कुलीन शिष्टाचार के नियमों को भूल गये। किसान मेहनत से जी चुराने लगे। पारस्परिक झगड़ों के कारण कृषि का खूब नुकसान हुआ। नैतिकता का पूर्ण ह्रास था। लोहा का व्यवहार इसी समय होने लगा, और इस कारण नयी सामाजिक और आर्थिक स्थिति पैदा हो गई। दीवालों से घिरे हुए शहरों की संख्या बढ़ गई। दलदल से उपजाऊ जमीन निकाली गई। व्यापार की वृद्धि हुई। धन की वृद्धि के साथ साथ राज्यों में पारस्परिक सम्बन्ध बहुत होने लगा। जमीन के लिए युद्ध होने लगे। इन युद्धों में नैतिकता व वीरता के नियम का उल्लंघन होता रहा। चारों ओर अव्यवस्था थी। जागीरदारी प्रथा की बुराइयों का चरमोत्कर्ष था।

ऐसे समय में लेखक व चिन्तक चाऊ युग के प्रथम वर्षों के सुनहले दिन, जगीरदारी प्रथा के गुणों को याद करने लगे। अतीत के दिन स्वर्णिम लगने लगे, और उनकी किताबों में, जैसे शिह् चिन्ग (Book of Poetry) में "अच्छे दिन बीत गये", इसी भाव का पुनरावृत्ति पाते हैं। ऐतिहासिक ग्रन्थ बीते हुये सुनहले दिनों की याद दिलाते हैं।

चाऊ राजपद्धति का विश्रृंखल होने के कारण आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन थे। नगरों की वृद्धि हो रही थी पर इनमें पारस्परिक युद्ध की भी वृद्धि हुई। इस कारण समाज का आधार क्या हो इस पर ही संदेह होने लगा। नये विचार व नयी जागृति की उत्पत्ति हुई। इस कार्य में लेखकों ने ही नेतृत्व किया। वे एक शहर से दूसरे शहर जाते थे, और यह कहते थे कि चीन एक है, और सारे चीन में सामाजिक व्यवस्था और स्थिरता लाई जाय। उन्होंने समाज के कुलीनों को नहीं, जिन्होंने पूर्व परम्परा में शिक्षा पाई थी, वरन् व्यापारियों और उद्योगपतियों को शिक्षा देना आरम्भ किया। कई जागीरदारों ने इन ज्ञानपिपासिकों या समाज के सुधारकों को कुचलने की कोशिश की,

इनकी लिखी पुस्तकों पर रोक लगाई गई। पर शासन में बिना इनके काम भी नहीं चल सकता था। इन बुद्धिजीवियों को शासन में भाग दिया गया। अतः शासन के अनुभव और सामाजिक व्यवस्था के आधार की कल्पना ने इन बौद्धिकों के दर्शन (Philosophy) को प्रभावित किया।

इन दार्शनिक चिन्तकों में कन्फूसिअस् (Confucius) सबसे प्रमुख हैं। इनका जन्म ५५१ ई० पू० हुआ था, और मृत्यु ४७८ ई० पू०। कन्फूसिअस् के पिता ने वृद्धावस्था में एक तरुणी युवती-कन्या से ब्याह किया था। इसी स्त्री ने महापुरुष कन्फूसिअस् को जन्म दिया। अपने युग के कुशासन से वे बहुत क्षुब्ध थे। समाज में नैतिकता की कमी उन्हें बहुत खलती थी। अनियन्त्रित सामन्तशाही की बुराइयों से वह पूरी तरह अवगत थे। कन्फूसिअस् कुलीन वंश के थे, और लू नामक एक छोटे राज में उच्च कर्मचारीके पद पर आसीन हुये थे। वे एक जिला शासक बन गये और फिर प्रधान न्यायाधीश। शासन में उन्हें अच्छी सफलता मिली। फिर वे प्रधान मंत्री भी बन गये। यहीं उन्होंने एक उच्च विद्यालय (Academy) खोला जहां लोगों को ज्ञान दिया जाता था। कन्फूसिअस् देश की अव्यवस्थता से बहुत दुखी थे, और इस परिस्थिति को दूर करने के लिए उन्होंने व्यावहारिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

उनका यह विश्वास था कि एक आदर्श व्यक्तित्व के संरक्षण में देश सुधर जायगा और इसलिए वे एक राज से दूसरे राज इस आदर्श व्यक्ति की खोज में भटकते रहे। वे समाज के वर्गीकरण को मानते थे। कुलीनवर्ग श्रेष्ठ है, इसका उन्हें विश्वास था। आदर्श राजा और नियमबद्ध कुलीन-वर्ग ही अतीत का स्वर्णयुग ला सकेंगे ऐसा उनका दृढ़ विचार था। उनका कहना था कि यदि राजा अपने मंत्रियों के सामने आदर्श जीवन बरतेगा तब मंत्री जनता के सामने आदर्श बने रहेंगे और

सारे देश में शान्ति और पुण्य फैलेगा। नियम या विनय (Discipline) पर वे बहुत जोर देते थे; प्रत्येक मनुष्य के सभी काम निश्चित नियम के अनुसार होना चाहिए। उनकी यह कोशिश थी कि समुचित नियमों के पालन कर के मनुष्य उचित नागरिक बन जाय। इसलिए उन्होंने नियम बनाए, क्या खाना चाहिये, कैसे रहना चाहिए, सड़क पर स्त्री-पुरुष किस प्रकार चलें, यहां तक कि कब्रों या मुर्दे के बक्स का क्या माप रहे, यह भी उन्होंने बताया है : अर्थात् मनुष्य के जीवन के सभी अंग नियमबद्ध रहें। कन्फूसिअस् के धर्म का मूल सिद्धान्त था 'औचित्य (Sense of propriety)। उनका यह विचार था कि सभ्य और असभ्य में यही फर्क है कि सभ्य जानते हैं क्या उचित है, क्या नहीं; असभ्य को इसका पता नहीं। 'औचित्य' का ज्ञान प्रत्येक मनुष्य को स्वयं अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रहने से ही हो सकता है। उसे विनम्र और भद्र रहना चाहिये। वह अपने से बड़े-बूढ़े के प्रति आदर का भाव रक्खें, पूर्वजों की पूजा करें, और मां-बाप को वृद्धकाल में सहारा दें। प्रत्येक मनुष्य में ये गुण होने चाहिये : (क) मानसिक शुद्धता, (ख) उचित आचरण, (ग) संस्कारों व धार्मिक रीतिओं का ज्ञान, (घ) दान, (ङ) सद्विश्वास। उनका यह सिद्धान्त था कि यदि राजा-मन्त्री, पिता-पुत्र, स्त्री-पुरुष, अग्रज-अनुज और मित्रों के पारस्परिक सम्बन्ध उपरोक्त गुणों के आधार पर स्थित हों, तब देश का कल्याण निश्चित है। कन्फूशिअस् के उपदेश आज करीब २५०० वर्षों से चीनियों के चरित्र निर्माण कर रहे हैं। आज भी कोई चीनी यह कहने का दुःसाहस नहीं कर सकता कि चरित्र बल में वह कन्फूसिअस् से आगे है। कन्फूसिअस् ने अपने जीवन का लक्ष्य एक आदर्श चरित्रवान् पुरुष की जिन्दगी रखी थी और इस पथ पर वह विपत्तियों के बावजूद दृढ़ रहा। सद्विचार उनकी जिह्वा पर बराबर रहते थे। सौहार्द, विनय, दानशीलता, सच्चाई, साहस और दूसरों के प्रति आदरभाव के वे साक्षात् उदाहरण थे। ऐसे पवित्र

ज्ञानोपदेश कन्फूसिअस् ने अपने समकालीन लोगों को ही नहीं दिया बल्कि उनके ये उपदेश आजतक बराबर ही चीनी बच्चों व जवानों के कान में पड़ते रहे हैं। चीनी चरित्र में जो व्यावहारिक सदाचार की पुट है वह कन्फूसिअस् की देन है।

कन्फूसिअस् ने कोई नया धर्म नहीं चलाया, न नये समाज की सृष्टि की, और न नयी दिशा की ओर इंगित किया। कन्फूसिअस् ने बराबर यह कहा कि वे कोई मूल चिन्तक नहीं हैं और उनका दर्शन प्राचीन विद्वानों के उपदेश पर आधारित है। वे आनेवाले युग के मसीहा नहीं थे। उनका ध्यान चाऊ-युग के बीते स्वर्णयुग पर टिका था। उनका आदर्श था कि देश और समाज फिर चाऊ-युग में वापस लौट जाय; तब समाज-व्यवस्था और राजशासन में वर्तमान बुराइयों का पता नहीं रहेगा। इस दृष्टिकोण स कन्फूसिअस् प्रतिक्रिया-वादी हैं। पर उनके नैतिक-सिद्धान्त अमर हैं, और सब युग के लिए ग्राह्य हैं। वैयक्तिक पवित्रता और पारिवारिक सामञ्जस्य पर ही सामाजिक स्थिरता सम्भव है, इन सिद्धान्तों के द्वारा कन्फूसिअस् ने विशृंखल समाज में शान्ति और नियम का पाठ पढ़ाया। प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक मनुष्य का समाज में निश्चित स्थान है। उसके कर्त्तव्य हैं, और अधिकार भी। अतः सबों का यह धर्म है कि अपना कर्त्तव्य और दूसरे के अधिकार की रक्षा करें। वर्गों में बँटा हुआ समाज इस प्रकार के आत्मनियन्त्रण के बिना नहीं चल सकता। कन्फूसिअस् ने यह भी समझा कि इस व्यवस्था में राजा का विशिष्ट स्थान है। उनका यह विश्वास था कि अच्छाई छूतक होती है, पर समाज की ऊँची चोटी से ही वह सुधार नीचे आ सकेगा। उनका कहना था कि यदि राजा की आकांक्षाएं शुद्ध और प्रजाहितकारी होंगी, तब जनता भी सच्चरित्र होगी। ऊँचे तपके के लोगों का नैतिक चरित्र वायु है, और निम्नस्तर के लोगों का चरित्र घास है। जब घास पर हवा बहेगी तब घास नवेगा, याने नम्र और विनयी होगा। अतः उनका सिद्धान्त था कि जैसा राजा वैसी प्रजा (यथा राजा

तथा प्रजा) न कि जैसी प्रजा वैसा राजा (पश्चिमी सिद्धान्त)। इसलिए राजभक्ति की शिक्षा उन्होंने दी। पर प्रत्येक ऐरे-गैरे राजा कन्फूसिअस् के काम के नहीं थे। वे ऐसे राजा की तलाश में थे जो उसके सिद्धान्तों का पालन कर सके और सामाजिक सुधार ला सके। उनका यह कहना था कि राजा एक मामूली आदमी था जिसे भगवान ने पृथ्वी पर अपना कारिन्दा चुना। जनता ईश्वर की सन्तान थी। राजा प्रजा के लिए बना था, और यदि वह अत्याचारी निकला तब जनता के लिए उसका अन्त करना धार्मिक कर्तव्य था। उनके विचार में इस प्रकार का अत्याचारी राजा बाघ से भी अधिक क्रूर है। ऐसी राज्यक्रान्ति समाज के लिए आशीर्वाद थी। योग्य राजा प्रजा को उचित शिक्षा देकर उचित और नियमित शासन, स्थापित कर सकता था। इसलिए उचित शिक्षा पर इन्होंने बहुत जोर दिया। गुण न कि वंश पर शिक्षा पाने का हक निर्भर करता था। राजा को प्रजा पर अधिक कर न लगाना चाहिए। राजा को जनता की उन्नति के लिए सतत तत्पर रहना था। जमीन को लोगों में न्याय पूर्वक बांटना या सार्वजनिक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना, कन्फूसिअस् के विचार थे। कन्फूसिअस् लाउत्से के विपरीत संसार की सेवा करने का उपदेश देते थे, जीवन सुख का आनन्द उठाने कहते थे।

कुछ समय के लिए यहां-वहां कन्फूसियस् राजशासन में भाग ले सके। पर राज शासन का पूरा भार काफी दिनों तक उन्हें नसीब नहीं हुआ, और वे निराश ही रहे कि उनकी योग्यता का उचित प्रयोग नहीं हुआ। वे कहा करते थे कि यदि उन्हें एक वर्ष के लिए मौका मिले तो देश का सुधार आरम्भ हो जाय और तीन वर्ष में यह काम पूरा हो जाय। पर उनकी इच्छा दिल ही में रह गयी और उन्हें मृत्यु का शिकार बनना पड़ा।

वे एक पद्य बराबर दुहराते थे जिसका अर्थ यह था कि ऊंचे पहाड़ जरूर थरथराएंगे; मजबूत शहतीर टूटेगी, और बुद्धिमान मनुष्य एक पौधे की तरह नष्ट हो जायगा।

लाउ-त्से

चीन की अव्यवस्था व नैतिक पतन से लाउ-त्से को बहुत धक्का लगा। वे चाऊ वंश के शाही पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। बहुत पढ़ने और सोचने के बाद उनका यह विचार हुआ कि मनुष्य को संसार के सुख-दुख से विरक्त रहना चाहिए, और पहले का सादा जीवन, (जो कि वास्तविक में कल्पित था) अपनाना चाहिये। उनके विचार व लेख रहस्यमय होते थे। मनुष्य को प्राकृतिक जीवन बिताना चाहिए, और इसलिए सभ्यता की कृत्रिमता से दूर रहना चाहिये। लाउ-त्से और उनके अनुयायी राज में विश्वास नहीं करते हैं। उनके ख्याल में जितने अधिक कानून रहेंगे उतनी ही अधिक चोरी और डकैती होगी। इसलिए उनका दर्शन का सिद्धान्त था 'कुछ न करो'। यह निराशावादी सिद्धान्त था और इसका प्रभाव चीन की जनता पर पीछे चल कर बुरा ही हुआ। बौद्ध-दर्शन और लाउ-त्से के सिद्धान्त में काफी मेल है।

३

भारतवर्ष

सामाजिक व नैतिक अवनति व अव्यवस्था के विरुद्ध जरथुस्त्र और कन्फ्यूशियस् ने ईरान और चीन में आवाज उठाई। दोनों महापुरुषों ने प्राचीन परम्परा को ठुकराया नहीं, वरन् उसे फिर से स्थिर करने की चेष्टा की, उसे तर्क का आधार दिया, और उस व्यवस्था में जो बुराई आ गई थी, उसे दूर करने की चेष्टा की। इसी समय भारतवर्ष में भी बौद्धिक क्रान्ति हो रही थी। वेदकालीन सरल धर्म यज्ञों व शास्त्रपद्धतियों से इस तरह जकड़ दिया गया था कि धर्म का सार तो मिट चुका था, और बाहरी आडम्बर को ही अधिक महत्व दिया जाने लगा था। यज्ञ और पशुओं की बलि धर्म के प्रधान अंग बन गये थे। लोगों में इनके प्रति अन्धविश्वास था। ब्राह्मणवर्ग की श्रेष्ठता जन्म पर आधारित थी। यज्ञ व धर्मपुस्तकें संस्कृत में थीं, और यज्ञकर्म भी संस्कृत भाषा में ही सम्पन्न होता था। लोग बिना

समझे-बूझे धार्मिक रीति-रिवाज यन्त्रवत् मानते आ रहे थे। उन्हें यह विश्वास दिलाया गया था कि धार्मिक उन्नति और देवताओं के प्रसन्न करने के लिए ये अत्यावश्यक हैं। गर्भाधान से लेकर मृत्यु के बाद तक प्रत्येक मनुष्य के जीवन में यज्ञों का तांता लगा रहता। इनमें काफी खर्च भी होता था, और इन यज्ञों व शास्त्रपद्धति के अनुसार रीति-रिवाजों का अत्यधिक महत्व देने के कारण, नैतिक सिद्धान्त और बौद्धिक विकास साधारण मनुष्य के लिए गौण हो गये। ब्राह्मणों का धर्म पर ही नहीं, समाज और राजनीति पर भी बड़ा प्रभाव था। यज्ञों पर ही राजा का राज और प्रजा का सुख निर्भर करता था, और यज्ञों के लिए ब्राह्मणों की आवश्यकता अनिवार्य थी। ब्राह्मणों के बढ़ते हुये प्रभाव का कारण था वर्ण-व्यवस्था। हिन्दू चार वर्ण में विभक्त थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह वर्ण-व्यवस्था दैवी थी, इसलिए इसकी उपेक्षा पाप समझा जाता था। इसमें ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ था और राजा को उसपर निर्भर करना पड़ता था। ब्राह्मणों का यह अधिकार राजसी क्षत्रियों को जरूर खलता होगा। पशुओं की बलि, और यन्त्रवत् शास्त्रपद्धति और रीतिरस्मों का अनुसरण भावुक और तार्किक मनुष्यों को बेकार मालूम होता था। ब्राह्मणधर्म के इस रूप का विरोध हम उपनिषदों में पाते हैं। इनमें कर्म न कि यज्ञानुष्ठान पर मनुष्य का भविष्य निर्भर करता है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। अहिंसा के महत्व पर प्रकाश डाला गया। यज्ञ व पशुबलि की सार्थकता पर संदेह किया गया। इस समय ब्राह्मण-धर्म से क्षुब्ध और निराश होकर सैकड़ों धार्मिक पंथों की उत्पत्ति हुई, और हजारों परिव्राजक व सन्यासी अपने विचारों को घूमघूम कर फैला रहे थे। देश में धार्मिक हलचल व सुधार की लहर चल रही थी। इन आन्दोलनों में जैन और बौद्धधर्म प्रमुख हैं।

महावीर और जैन धर्म।

जैनधर्म का इतिहास बहुत पुराना है। जैनियों के अनुसार वर्द्धमान महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे। इनके पूर्वज श्रीऋषभदेव ने इस धर्म की

नींव डाली और पार्श्वनाथ ने जैन सिद्धान्तों को स्थापित किया। (इन्हीं के नाम पर छोटानागपुर में पारसनाथ पहाड़ी है)। वर्द्धमान महावीर ने इनके सिद्धान्तों को अपनाया, कुछ नये सिद्धान्त जोड़ा और अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व से जैनधर्म को एक विशिष्ट धर्म के रूप में स्थापित किया। वर्द्धमान महावीर ही जैनधर्म के ऐतिहासिक संस्थापक माने जाते हैं।

वर्धमान महावीर वैशाली के क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुये। उनके पिता सिद्धार्थ पार्श्वनाथ के सिद्धान्त के मानने वाले थे। वर्द्धमान बचपन से ही किसी चिन्ता में खोए से रहते। उनकी शादी भी हो गयी, और एक पुत्री पैदा हुई। पर संसार के बन्धन इस महापुरुष को बांधने में असफल रहे। और करीब २८ वर्ष की आयु में वे सन्यासी हो गये। १२ वर्षों तक ये पश्चिम बंगाल में घूमते रहे। कठिन तपस्या के पश्चात् इन्होंने संसार की प्रवृत्तियों पर पूर्ण विजय प्राप्त की। ये कर्म के बन्धन से मुक्त हो गये। तब से वर्द्धमान महावीर 'जिन' (विजयी) कहलाने लगे, और इनका धर्म जैन-धर्म कहलाया। अपने सिद्धान्तों को इन्होंने तीस वर्ष तक कोशल, विदर्भ, अंग और मगध में फैलाया। वर्षाकाल में अधिकतर ये वैशाली, श्रावस्ती और राजगृह शहरों में ठहरते थे। बिहारशरीफ के निकट पावा में इनका देहान्त हो गया। इनका जन्म और मृत्यु का निश्चित तारीख नहीं मालूम है। पर गौतम बुद्ध के ये समकालीन थे, और उनसे कुछ पहले ही इनकी मृत्यु हो गई थी। शायद ४६७ ई० पू० उनकी मृत्यु हुई हो।

महावीर के उपदेश।

पार्श्वनाथ के प्रत्येक अनुयायी को चार शपथ लेनी पड़ती थी—जीव हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना और ब्रह्मचर्य रहना। महावीर ने इस सूची में एक और जोड़ दिया—सम्पत्ति न रखना। इन सिद्धान्तों पर चलकर ही मनुष्य शुद्ध जीवन व्यतीत कर सकता है। कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए शुद्ध जीवन व्यतीत करना

जरूरी है। महावीर ने संसार दुखमय पाया, और जीव को अपने कर्मों के बन्धन से जकड़ा हुआ। इस संसार में कई बार कई जन्म लेकर जीव अपना कर्मों का फल भोगता आ रहा है। संसार में आवागमन के दुःख से मुक्ति पाना ही जीवन का मर्म है। दुःख का कारण न तो मनुष्य का स्वभाव है और न उसका क्रूर भाग्य। दुःख का कारण है कर्म के बन्धन में जकड़े रहना। सदाचारी जीवन व्यतीत कर मनुष्य पूर्व-जन्म के बुरे कर्मों का अभिशाप कम करता है, और नये कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। इसलिए मनुष्य को सदाचारी जीवन और कठिन नियमों का पालन करना चाहिये। महावीर ने शरीर को कष्ट देना और उपवास करना मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक समझा। यज्ञों व वेदों की महत्ता को नहीं माना। अहिंसा और तपस्या पर बहुत जोर दिया। स्त्रियों को भी उन्होंने दीक्षा दी, और स्त्रियां जैन-भिक्षुणी बनीं। वर्णाश्रमधर्म की भी उन्होंने अवहेलना की, और इस धर्म का द्वार सबके लिए खुला था।

गौतम बुद्ध और बौद्ध धर्म।

बौद्धधर्म की उत्पत्ति उन्हीं कारणों से और उसी अंचल में हुई जहां जैनधर्म आरंभ हुआ; दोनों धर्म समान आदर्शों से प्रेरित थे। पर बौद्धधर्म का प्रभाव और क्षेत्र अधिक विस्तृत था।

सिद्धार्थ कपिलवस्तु के राजा शुद्धोधन के पुत्र थे। उनका ब्याह यशोधरा नामक एक सुन्दर स्त्री से हुआ था। संसार की वासनाओं से उनका भावुक हृदय, और मस्तिष्क सन्तुष्ट नहीं हो सका। संसार को उन्होंने दुखी पाया। जन्म, युवा, वृद्ध और मृत्यु—जीवन के इन चारों प्रकृतियों में उन्होंने कहीं भी सार या स्थिरता नहीं पाई। सबों को पीड़ित ही देखा। संसार के दुःख से उनका हृदय द्रवित हो गया, और इस दुःख के कारण जानने और उसका निदान के ज्ञान के लिए वे एक रोज रात्रि में चुपचाप अपनी सोई हुई स्त्री और नवजात पुत्र को छोड़

घर से निकल पड़े। सिद्धार्थ ने राज, स्त्री-सुख और पारिवारिक आनन्द का त्याग जीव के शाश्वत सुख की खोज के लिए किया। ज्ञान की खोज में उन्होंने धार्मिक ग्रंथों को चाट डाला, महापण्डितों से शास्त्रार्थ किया, और मगध में वर्षों कठिन तपस्या की, शरीर को अकथनीय कष्ट देकर ज्ञान की खोज की। पर उन्हें शान्ति न मिली। एक रात उरु-विल्व (गया) में पीपल के वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ मुद्रा में उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई। यह स्थान बोधगया, वृक्ष बोधिवृक्ष, और सिद्धार्थ बुद्ध हो गये। भगवान को 'मार' (शैतान) ने कई तरह से पथभ्रष्ट करना चाहा, पर असफल रहा। जब गौतमबुद्ध ने ज्ञान लाभ किया तब 'मार' ने अन्तिम चाल चली। उसने उन्हें कहा कि अब उन्हें (बुद्ध) स्वर्ग-सुख की प्राप्ति होगी और उनका स्वार्थ इसी में है कि इस ज्ञान-लाभ का फायदा स्वयं उठावें। पर बुद्ध ने घर-बार का त्याग और शरीर को इतना कष्ट अपनी मुक्ति व स्वर्ग-प्राप्ति के लिए नहीं, वरन् सभी मनुष्यों को सांसारिक दुःख से मुक्त होने का सुलभ उपाय बताने के लिए किया था। इसलिए गौतमबुद्ध ने जनता में 'ज्ञान' का प्रचार करना निश्चय किया। चालीस वर्ष से अधिक प्रचार करने के बाद अस्सी वर्ष की उम्र में कुशीनगर में उनका देहावसान हो गया। उनके जन्म और मृत्यु की तिथियों के विषय में मतभेद है। उनका जन्म शायद ५६० ई० पू०, हुआ हो और मृत्यु ४८० ई० पू०।

बुद्ध के उपदेश।

भगवान् बुद्ध ने चार महासत्यों का पता पाया। संसार दुखमय है, इसका कारण है जीव की अतृप्त इच्छा, और इसी तृष्णा के कारण इस संसार में जीव बराबर जन्म लेता रहता है और दुख झेलता है। यह दुख तृष्णा को दबा कर ही दूर हो सकता है और इसका उपाय है मध्यम मार्ग। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन तर्क पर स्थिर है। सभी कार्य के कारण होते हैं और कारण को दूर करनेसे उस कर्म का

अस्तित्व ही नहीं रहता। बुद्ध ने कहा कि संसार के दुखी जीव की मुक्ति कर्म के बंधन से छूटने पर ही हो सकती है। इसी स्थिति को निर्वाण कहते हैं, जब जीव कर्मों के फलाफल से मुक्त हो जाता है।

संसार के दुख से छूटने का उपाय न यज्ञ है, न पशुबलि और न देवताओं या पुजारियों में अन्धविश्वास। संसार के दुख से दूर होने के लिए न कठोर तपस्या न सन्यास की जरूरत है। शाश्वत सुख की प्राप्ति का सरल उपाय है सदाचार। भगवान बुद्ध ने अत्याधिक वासना और शरीर को अत्याधिक कष्ट देना दोनों रास्तों को गलत बताया। उनका मार्ग 'मध्यम मार्ग' (Middle Path) है। इसके आठ विषय हैं (१) सद्विश्वास, (२) सद्निश्चय, (३) सद्वचन, (४) सद्कर्म,-(५) सद्जीविका, (६) सद्प्रयास (७) सद्विचार, (८) सद्ध्यान। इस राह पर चल कर मनुष्य को ज्ञान, प्रकाश और निर्वाण प्राप्त होता है। सदाचारी जीवन व्यतीत करने से इच्छा या तृष्णा का दमन होता है, और तृष्णा का नाश होने पर, दुख का कारण दूर होने पर, दुख का नाश हो जाता है। इच्छा की उत्पत्ति का कारण है जीव को संसार को सत्य समझना। पर संसार में जो कुछ है उसका नाश निश्चित है, इसलिए उसे अपना समझना, आत्मीय मानना गलत है। इस ज्ञान की प्राप्ति होने पर जीव इच्छा के भंवर से निकल जाता है, तब दुख से उसको मुक्ति होती है और वह अपने को 'मुक्त' जान लेता है। तब उसे पुनर्जन्म के चक्कर से मुक्ति मिल जाती है, संसार को असार समझने पर यहां वापस आने की उसे जरूरत ही नहीं होती। उसके कर्त्तव्य की इति श्री हो जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए 'अष्ट्नागीमार्ग' पर चलना आवश्यक है।

इस तरह बुद्ध ने सदाचारी जीवन पर अत्यन्त जोर दिया। बुद्ध के अष्टमूल सिद्धान्तों के अध्ययन से यह साफ मालूम होता है कि उन्होंने जीवन की आन्तरिक और बाहरी शुद्धता दोनों पर बराबर जोर दिया।

सद्‌कर्म और सद् विचार, सद्‌जीविका और सद्‌विश्वास और सद्‌प्रयास, एक चित्र के दो पहलू हैं। मानसिक शुद्धता और नैतिक आचरण दोनों पवित्र जीवन के लिए जरूरी हैं। भगवान् बुद्ध ने इसी कारण वर्णव्यवस्था (Caste-System) की अवहेलना की। उनकी दृष्टि में नैतिक आचरण और शुद्ध विचार वाला क्षत्रिय दुश्चरित्र और अज्ञानी ब्राह्मण से श्रेष्ठ था। अतः वर्णव्यवस्था एक दैवी विधान है, यह वह नहीं मानते थे। मनुष्य का वंश व जाति नहीं, वरन् कर्म प्रधान है। नैतिक आचरण और मानसिक शुद्धता के बल पर अतिनिम्नवर्ण का मनुष्य भी सर्वश्रेष्ठ हो सकता है। भगवान बुद्ध ने वेदों के अधिकार को नहीं माना। यज्ञों व पशुबलि की निन्दा की। जीवहिंसा पाप कहा, और अहिंसा पर बहुत जोर दिया। उनके उपदेश थे :—दूसरे की सम्पत्ति और स्त्री पर अधिकार करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये, असत्य न बोलना चाहिये और नशीली चीजों का व्यवहार न करना चाहिये। उनके ये नैतिक सिद्धान्त समाज की स्थिरता या संतुलन के लिए जरूरी थे। उन्होंने धर्म प्रचार के लिए बौद्ध-संघ की स्थापना की, जिसका विधान प्रजातान्त्रिक था। इस संघ में स्त्रियों को भी स्थान मिला। दलितवर्ग और छोटी जातियों ने इस सार्वजनिक धर्म को बहुत उत्साह से अपनाया। धर्म का प्रचार लौकिक भाषा-पाली और प्राकृत में किया जाता था। इसलिए इसका प्रभाव और भी अधिक विस्तृत और स्थायी पड़ा। इस तरह बुद्ध सामाजिक क्रान्ति व प्रगतिवादी शक्तियों के अग्रदूत बन गये। समाज में नव जागृति हुई। बौद्धधर्म के सिद्धान्त सरल और सर्वमान्य थे। सदाचार व सद्‌विचार का सुन्दर सामञ्जस्य ही बौद्धधर्म था, और शास्त्रपद्धति व खर्चीले यज्ञों से वह मुक्त था। समाज व धर्म में जो अनैतिकता और अव्यवस्था और अशान्ति आ गई थी, उनको दूर करने का उपाय बुद्ध ने बताया और वह बुद्धिवादियों के मस्तिष्क और हृदय दोनों को ठीक जँचा। उन्होंने ऐसे विषय पर, जिनकी स्थिति का कोई ठोस प्रमाण मस्तिष्क को सन्तुष्ट नहीं कर सकता, कोई प्रकाश नहीं डाला, जैसे ईश्वर की स्थिति।

ऐसे प्रश्न पूछे जाने पर वे टाल दिया करते थे। उनका यह दृढ़ विचार था कि उनके सिद्धान्त को आंखें मूंद कर नहीं मानना चाहिये। जो कुछ भी उन्होंने बताया है, उसे प्रत्येक अनुयायी को अपनी बुद्धि की कसौटी पर जांचना चाहिये, और यदि उसकी बुद्धि को वह मान्य हो, तो वह उसे ग्रहण करे, वरना नहीं। भगवान बुद्ध के नैतिक सिद्धान्त और अष्टमार्गी मार्ग इतना सरल और तब भी इतने गहन थे कि उनका प्रभाव काल और देश से परे था। उनका धर्म सारी मनुष्य जाति के लिए है और शाश्वत है।

४

जरथुस्त्र, कन्फूशिअस्, महावीर और गौतमबुद्ध एक ही युग के महापुरुष थे, और इनके विचार भी बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। अहिंसा पर इन सबों ने जोर दिया। नैतिक आचरण के सिद्धान्तों को इन लोगों ने पुनः दृढ़ता से स्थापित करने की चेष्टा की। समाज में स्थिरता लाने का उपाय बताया और सामाजिक व धार्मिक कुरीतियों व रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज उठाई। संसार के इतिहास में यह युग सचमुच क्रिया-त्मक युग है। सामाजिक और धार्मिक सुधारों का युग है। बौद्धिक क्रांति का जमाना है।

इसी समय यूनान में भी नव जागृति का दीपक जल उठा। असभ्य डोरिअनों के आक्रमण से यूनान की प्राचीन सभ्यता पर गहरा आघात पहुंचा। बहुत से यूनानी साहित्यिक, कलाकार, धनी-मानी नागरिक और साहसी युवकों ने यूनान छोड़ कर एशिया माइनर के तटवर्ती प्राय-द्वीपों में शरण ली। यहां इनका सम्बन्ध आर्यपूर्व सभ्यताओं से काफी रहा। अंधकार युग का अन्त हुआ, और बड़े २ वैज्ञानिक, दार्शनिक व कलाकारों का जन्म हुआ। यूनानी दुनियां में नयी जागृति आई, और यूनानी सभ्यता का स्वर्णयुग का आरम्भ हुआ। इस युग के नेताओं में सुकरात (Socrates) प्रसिद्ध है। सुकरात

नागरिकों को जिरह (Cross-examination) करके बता देता था कि वे कितने मूर्ख हैं। उन्हें वह समझा देता था कि किसी भी जाति व सभ्यता की स्थिति सत्य और पवित्रता पर ही निर्भर रह सकती है। उस समय मनुष्यों में वह सबसे अधिक बुद्धिमान कहा जाता था। पर अपनी दृढ़ता और पवित्रता के इनाम में उसे प्राणदण्ड मिला।

अतः यह अब प्रत्यक्ष हो गया कि संसार में इस समय धार्मिक व बौद्धिक क्रान्ति की लहर चल रही थी, यूनान हो या चीन, भारत हो या ईरान। इन सभी देशों में महापुरुषों ने नैतिक आचरण पर जोर दिया और अन्धविश्वास को दूर करने की चेष्टा की। बुद्ध, कन्फूशिअस् और सुकरात ने धर्म का शाश्वत और एकरूप देखा। बुद्ध और कन्फूशिअस् के धर्म शान्तिप्रिय धर्म हैं। इनके फैलाने के लिए पशुबल का कभी प्रयोग नहीं किया गया। जरथुश्त्र और महावीर ने अहिंसा और सभी जीवों पर दया पर बहुत जोर दिया। बुद्ध और लाउ-त्से दोनों ने वस्तुतः एक ही मार्ग बताया—जिस पर चल कर शान्ति मिल सकती है। लाउ-त्से ने 'ताओ' धर्म का प्रचार किया, और 'ताओ' का अर्थ है मार्ग।

नवां अध्याय

यूनान की सभ्यता

प्राचीन सभ्यताओं में यूनानी सभ्यता का विशेष स्थान है। योरप की सभ्यता इसी सभ्यता की नींव पर विकसित हुई है। रोम ने इस सभ्यता को अपनाकर पश्चिम योरप में फैलाया, और योरप यूनानी सभ्यता के प्रभाव में आ गया। करीब पचास वर्ष पहले विद्वानों का यह ख्याल था कि योरप की सबसे प्राचीन सभ्यता यूनानी सभ्यता ही है ; यूनानियों ने ही संस्कृति का दीप यूनान में जलाया, जिसका प्रकाश पीछे चल कर सारे पश्चिमी यूरोप पर छा गया। पर यह धारणा निर्मूल है। यूनानी सभ्यता धुली हुई स्लेट पर नहीं पनपी, यूनानियों ने योरप में पहले पहल सभ्यता का बीज नहीं रोपा। योरप को प्रस्तरयुग से निकाल कर नागरिक सभ्यता और धातुयुग की बहुमूल्य संस्कृति में लाने का श्रेय यूनानियों को नहीं दिया जा सकता है। आर्य-यूनानियों की शाखा जब यूनान में पहुंची, वे स्वयं असभ्य या असंस्कृत थे। उनको यहां पर एक पूर्णविकसित सभ्यता मिली, जिसके आधार पर यूनानी सभ्यता पनपी। यह यूनानी-पूर्व सभ्यता एजियन-समुद्र में स्थित क्रीट की सभ्यता की एक सन्तान थी।

१

क्रीट की सभ्यता

क्रीट प्रायद्वीप एजियन समुद्र के दक्षिणी कोने में है, और भूमध्य-सागर और एजियन समुद्र को मानो अलग करता हो, ऐसा मालूम होता है। यह मिश्र से बहुत निकट है। एजियन समुद्र में बहुत



(Facing Page 184) क्रीट और प्राचीन एजिया प्रायद्वीप









मिश्र क्रीट

(पृ० १९०) क्रीट की कला पर मिश्र का प्रभाव

में छोटे २ प्रायद्वीप हैं, जो एक दूसरे से काफी निकट हैं। नावों पर एक द्वीप से दूसरे द्वीप पहुंचने में चन्द घण्टों का माजरा है। इसलिए इन द्वीपों में घनिष्ट आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। यदि किसी द्वीप में एक मजबूत शक्ति पैदा हो गई तब अपनी जल-सेना की मदद से वह सारे एजिअन-क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व आसानी से और शीघ्र ही स्थापित कर सकती है। इसलिए एजिअन-क्षेत्र सांस्कृतिक व राज-नीतिक व आर्थिक दृष्टि से एक है। पूरब में यह क्षेत्र एशियामाइनर के निकट था। एशियामाइनर के द्वारा मेसोपोटेमिया की सभ्यता से भी अप्रत्यक्ष सम्बन्ध था। अत: हिटाइट्, फिनिशिअन, और अन्य आर्य-पूर्व सभ्यताओं से इस क्षेत्र का सम्बन्ध रहना स्वाभाविक था। अत: भौगोलिक स्थिति, और सभ्य मिश्र और एशियामाइनर के सामीप्य व सम्बन्ध के कारण एजिअन क्षेत्र में एक उन्नत सभ्यता का विकास हुआ, और इसका केन्द्र था क्रीट प्रायद्वीप।

ईसा के प्राय: तीन हजार वर्ष पूर्व क्रीट प्रायद्वीप में धातु युग आरम्भ हुआ। मिश्र के जहाजियों ने इस द्वीप में ताम्बा लाया और उत्तर भू-मध्यसागर-क्षेत्र की खानों से टीन मिला हुआ ताम्बा, कांसा आया। क्रीट की प्राचीन सभ्यता कांसा युग (Bronze Age) की सभ्यता है। करीब एक हजार वर्ष बाद यह सभ्यता अपनी चरमसीमा पर पहुँची। २१००–१२०० ई०पू० तक क्रीट-साम्राज्य सारे एजिअन क्षेत्र में फैला हुआ था। मेसोपोटेमिया और मिश्र के साम्राज्य के विपरीत क्रीट का साम्राज्य स्थल-साम्राज्य न रह कर समुद्रीय (Maritime) साम्राज्य था। क्रीट का जहाजी बेड़ा इस साम्राज्य का रक्षक था। क्रीट के प्रमुख शहर नौसस (Knossus) और फैस्टस् (Phaestos) में किले-बन्दी नहीं थी। राजा को अपनी नाविक-शक्ति पर इतना विश्वास था कि राजधानी की किलेबन्दी की जरूरत नहीं महसूस की गई थी। एजिअन-क्षेत्र और क्रीट का व्यापारिक सम्बन्ध मिश्र, एशियामाइनर

और मेसोपोटेमिया से था। प्राचीन हरप्पा-सभ्यता से भी अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा होगा। मिश्र के प्राचीन मन्दिरों, व राजमहलों की दीवालों पर क्रीटवासी व्यापारियों व राजदूतों का चित्र हैं: एक ओर मुड़े हुये या दोनों ओर मुड़े हुये ताम्बे के पिन (बाल का कांटा) मोहन्जोदाड़ो और चान्हूदारों में पाए गए हैं। ऐसे पिन एजिअन क्षेत्र में २५०० ई० पू० के लगभग बहुत पाए जाते हैं। यह सम्भव है कि हरप्पावासियों ने ऐसे पिन यहीं से मंगाये हों, या इनकी ही नकल की हो।

धर्म

मातृदेवी की पूजा प्रमुख थी। इनकी मिट्टी की मूर्तियां मिली हैं। एक युवक देवता का मातृदेवी से घनिष्ट सम्बन्ध था। कबूतर और सर्प मातृदेवी के प्रिय थे। कबूतर शान्ति का प्रतीक था, और सर्प उपज का। मातृदेवी के उपलक्ष में सांड़ों की बलि दी जाती थी। देवदासियां व पुरोहितों की स्त्रियां मातृदेवी के सामने नृत्य करतीं। इस धर्म के प्रतीकों में, दोहरी-कुल्हाड़ी प्रसिद्ध है। ईसाई धर्म में इस प्रतीक का स्थान है। भारतवर्ष के अति प्राचीन धर्म से इस धर्म की तुलना की जा सकती है। क्रीट में भी सार्वजनिक मंदिरों का अभाव है। पूजा प्रत्येक परिवार अपने घर में ही करता होगा।

नगर-निर्माण

प्राचीन ऐश्वर्यशाली देशों से घनिष्ट समुद्रीय व्यापार के कारण क्रीट काफी समृद्ध हो गया था। इसके वैभव का प्रमाण हमें नौसस् व फेस्टस की खुदाई से मिलता है। यहां विशाल और अत्यन्त अलंकृत राजमहल पाये गये हैं जिनमें संसार के सभी सुख और आराम के सभी साधन प्राप्य थे। नौसस् का राजमहल मिश्र के राजमहल के आधार पर बना था। मध्य में एक बड़ा आंगन था, और चारों ओर कोठरियां थीं जो कई भिन्न २ सरकारी विभागों के लिए बटीं थीं।

सरकारी शिल्पकार, धातु के कारीगर, राज-मजदूर, राज-कर्मचारी सभी के लिए राजमहल में ही स्थान था। कोठरियों में आने जाने का रास्ता बहुत घुमघुमौआ था। जमीन के नीचे जाने के रास्ते थे। इन्हीं अगणित रास्तों के कारण ही यह राजमहल मिनोटौर (Minotaur) का भूलभूलैया (Labyrinth) कहा जाता होगा, जिसके अन्दर जाने पर मनुष्य बाहर नहीं निकल सकता था और मिनोटौर का शिकार (ऐसी किंवदन्ती है) बन जाता था; प्रत्येक वर्ष एथेन्स के कुछ युवक व युवतियों को इस देव के सामने बलि दी जाती थी। अन्त में थिसिअस (Theseus) ने इसकी हत्या की। राजमहल में ही शस्त्रागार था जहां पीतल के कवच और आक्रमक अस्त्र-शस्त्र पाये गये हैं, जैसे तीर-धनुष, व तीर के नुकीले नोक (arrow-heads)। यहां शस्त्रों की एक सूची भी मिली है। इससे पता चलता है कि शासन काफी सुव्यवस्थित था। युद्ध में जहाजी बेड़ा का खूब प्रयोग था। और क्रीट के राजा को 'समुद्र का राजा' कहा जाता था।

नगर-निर्माण व भवन-निर्माण कला काफी विकसित थी। राजमहल में खम्भों पर आधारित विशाल कमरा (Colonnaded Hall) और सुन्दर सीढ़ियां प्रशंसनीय हैं। ये खम्भे ऊपर से नीचे की ओर पतले होते गये हैं; यह एक विशेषता है। राजमहल और बड़े २ मकान दो या तीन मंजिला हैं। ऊपर के मंजिल पर बरामदा (Balcony) में खड़े होकर राजपरिवार व सम्भ्रान्त नागरिक शहरों की चहल-पहल या कोई विशेष जुलूस देखा करते थे। इस तरह का एक चित्र नौसस् के राजमहल के अन्दर की दीवाल पर बना है। समृद्धि का जीता जागता प्रमाण यह है कि मामूली कारीगर के मकान में आठ कोठरियां थीं। मकानों में पानी का अच्छा प्रबन्ध था। प्रत्येक मकान में गुसलखाने पाये जाते हैं और पानी का कल का व्यवहार होता था। ताम्बे का या मिट्टी के बने कल मिले हैं। अंगिठी

मिली है जिस पर पानी गर्म किया जाता होगा, और गर्म पानी नल के जरिए व्यवहार में लाया जाता होगा। ऊपर छत पर गढ्ढा रहता था, जिसमें पानी इकट्ठा होता था और कल के द्वारा नीचे लाया जाता था। इस दृष्टि में प्राचीन क्रीट निवासी को आधुनिक युग की सुविधा प्राप्त थी। शहर में सफाई का अच्छा प्रबन्ध था। नालियों का इन्तजाम था। मिट्टी की बनी पाइप की नाली के अवशेष मिले हैं। अभी भी ये व्यवहार में लाए जाते हैं।

कला

कला के क्षेत्र में क्रीटवासियों ने बहुत प्रगति की थी। कुम्हार की चक्की और भट्ठा का ज्ञान उन्हें था। बड़े सुन्दर सुन्दर बर्तन बनाए जाते थे, और उन पर प्राकृतिक दृश्य चित्रित हैं। ये चित्र इनलोगों की प्रतिभा के प्रमाण हैं। इन अति आकर्षक बर्तनों की मांग मिस्र और एशियामाइनर और अन्य पूर्व-देशों में बहुत थी। इनके बर्तन संसार में अलंकृत कला के लासानी उदाहरण हैं। राजमहल की दीवालों पर बड़े सुन्दर चित्र रंगे पाए गये हैं। दैनिक जीवन के ये दृश्य ही इन चित्रों के शीर्षक हैं। स्वाभाविकता और सौन्दर्य में ये अद्वितीय हैं। स्त्रियों के चित्रों से ऐसा मालूम होता है कि उस समय का शृंगार व फैशन वर्तमान यौरोपीय वेश-भूषा और अलंकार से बहुत पीछे न था। स्त्रियाँ नीचे गले की ब्लाऊज पहनती थीं, और झालरदार घांघरा जमीन को छूती रहती थी। पेरिस का फैशन से इनका फैशन मिलता जुलता था। ये चित्र शीशे की तरह चमकते हैं। चमकाने की कला (art of glazing) क्रीटवासियों ने मिस्र से सीखी थी। यूनानी-कहानी है कि डेडलस (Daedulus) ने अपने लिए पंख बनाकर क्रीट से उड़कर इटली चला गया। क्या हवा में उड़नेवाली पहली मशीन क्रीट में ही बनी थी?

आमोद-प्रमोद

क्रीटवासी खेल-कूद के बड़े शौकिन थे। पहलवानों की कुश्ती, और सांडों की लड़ाई सर्वप्रिय मनोरंजन थे। साहसी मनुष्य उन्मत्त सांड़ से जान को बाजी लगाकर लड़ता था। ऐसे चित्र दीवालों पर चित्रित हैं। भव्य पुरुष और अलंकृत स्त्रियां (जिनकी वेश-भूषा १७हवी १८हवीं सदी योरोप व अमेरिका की स्त्री-वेश-भूषा से भिन्न नहीं थी) ऊपर की छत से इन तमाशों को देखती थीं। यूरोप में खेल-कूद का बड़ा महत्त्व है। मनुष्य के जीवन में शारीरिक व्यायाम और मनोरंजन का एक विशेष स्थान है। पहले यह समझा जाता था कि योरप पर यह प्रभाव प्राचीन यूनानियों का ही था। पर अब हम यह जानते हैं कि इस दिशा में क्रीटवासियों ने ही योरप का नेतृत्व किया था।

व्यापार

क्रीट की समृद्धि व्यापार पर ही आश्रित थी। क्रीट अपनी चीजों की खपत के लिए अपने जहाजों पर माल पूर्व या पश्चिम भेजता रहता था। यूनान से भी सम्बन्ध था। क्रीट के जहाज आरगस् की खाड़ी पहुँचते थे, और क्रीट की संस्कृति आरगस् की समतल भूमि पर फैल गई। व्यापार के साथ २ राजनीतिक प्रभाव भी जम गया, और यूनान क्रीट-साम्राज्य का एक उपनिवेश बन गया। यूनान की पौराणिक कथाओं में एक कथा यह भी है कि एथेन्स के युवक-युवती हर वर्ष सम्राट् माइनोस (Minos) के पास कर के रूप में भेजे जाते थे, और मिनोटोर दानव के सामने उनकी बलि दी जाती थी; एथेन्स के एक वीर युवक ने इस दानव की हत्या करने में सफलता पाई। इस कहानी की तह में क्रीट का यूनान (Greece) पर आधिपत्य का प्रमाण छिपा है। ग्रीस के दक्षिण-पूर्व किनारे पर माइकिन (Mycenae) और टाइरिन् (Tiryns) में प्राचीन नगरों के

अवशेष मिले हैं। वहाँ जो सभ्यता मिली है उसका स्रोत क्रीट ही था। यूरप के प्रधान स्थल (Mainland) पर माइकिनिअन युग सबसे पुराना सभ्य-युग है। यहाँ भी राजमहल के अवशेष, सुन्दर चमकते हुये बर्तन, और धातु की चीजें मिली हैं। कुछ क्रीट से आईं, कुछ मिश्र से, और कुछ वहाँ की बनी हैं।

क्रीट-सभ्यता का युग २५०० ई० पू०-१२०० ई० पू० माना गया है। अतः यह सभ्यता हरप्पा-सभ्यता के समकालीन थी। क्रीट की सभ्यता को मिश्र की सभ्यता से प्रेरणा मिलती रही। मिश्र का उन्नत काल क्रीट-सभ्यता के स्वर्णिम दिन थे। धातु का प्रयोग, लिपि, बर्तन बनाने की कला, दीवालों पर चित्रकारी इत्यादि सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ मिश्र के सम्बन्ध के कारण ही अपनाई गई। पर क्रीट की सभ्यता मिश्र की सभ्यता की नकल नहीं है। इसमें हम कई दृष्टि में मौलिकता भी पाते हैं। क्रीट-सभ्यता के विषय में हमारी जानकारी बहुत अधिक बढ़ जाय यदि हम इनकी लिपि पढ़ सकें। इनकी लिपि पहले चित्र-संकेत लिपि थी, पर धीरे २ इसका रूप बदलता गया। पर अभी तक यह लिपि पढ़ी नहीं जा सकी है। हरप्पा-लिपि का भी यही हाल है। कुछ लोग दोनों लिपियों में काफी समानता पाते हैं।

सभ्यता का अन्त

क्रीट के प्राचीन शहर नौसस् और ग्रीस का माइकिन व टाइरिन के बुरे दिन आ गये। आर्यों ने ही इन शहरों का नाश किया, पर इनकी सभ्यता को धीरे-धीरे अपनाया। असभ्य जातियों ने बाल्कन की पहाड़ियों से हो कर उत्तर की ओर से आना शुरू किया, और ये ही यूनानी थे। इन्होंने पूर्व-भूमध्यसागर पर धावा बोल दिया, और इस प्राचीन सभ्यता के केन्द्रों का नाश कर दिया। पर यूनानी-सभ्यता ने माइकिनियन सभ्यता या क्रीट की सभ्यता से बहुत कुछ लिया।

२

ग्रीकों का आगमन

ईसा से लगभग १२०० ई० पू० आर्य-एचिअन और तत्पश्चात् डोरिअनों ने ग्रीस और एजिअन क्षेत्र पर आक्रमण कर अपनी सत्ता स्थापित कर लिया। यह अन्धाधुन्ध युद्ध का समय था, और सारे क्षेत्र में अराजकता व अस्थिरता फैली हुई थी। इसी समय ग्रीकों की कई शाखाओं ने एशियामाइनर के तट पर और पूर्व-भूमध्यसागर के प्राय:-द्वीपों में उपनिवेश स्थापित कर लिया। एओलिअन, आइओनिअन, व डोरिअन उपनिवेश सारे क्षेत्र में फैल गये। इन लोगों पर प्राचीन पूर्व-सभ्यताएँ जैसे ट्राय की सभ्यता, एशियामाइनर की सभ्यता, लिडिया व मेसोपोटेमिया की सभ्यता व एजिअन-सभ्यता का प्रभाव पड़ा। जब प्रमुख ग्रीस स्वयं अन्धकार युग में पड़ा था, इन उपनिवेशों में यूनानियों ने नवजागृति का दीप जलते रक्खा, और वही ज्योति यूनान पहुंची।

नगर-राज्य की उत्पत्ति।

इसी अन्धकार युग में ग्रीस में नगर-राज्य (Polis, City-state) का विकास हुआ। यूनानियों में एकता का भाव का अभाव था। प्रत्येक समूह (group) अपनी ही स्थिति के लिए परेशान था, और दूसरे समूह को कट्टर दुश्मन समझता था। यह ग्रीस का भूगोल का भी परिणाम था कि यूनानियों में राष्ट्रीय भावना की अनुपस्थिति थी। ग्रीस उजाड़ पहाड़ों से भरा है, इसलिए इस देश में यात्रियों को भ्रमण करने में अभी भी दिक्कत होती है। इन पहाड़ियों की भिन्न-२ घाटियों में यूनानियों की शाखाएं बस गईं। चारों ओर पहाड़ों से घिरे रहने के कारण प्रत्येक शाखा दूसरी शाखाओं से अलग हो गई। उनका संसार ही सीमित हो गया। अपनी सीमा के बाहर के यूनानी उनके लिए विदेशियों से भी अधिक दूर थे। पारस्परिक सम्बन्ध नहीं के ही बराबर था और जब सम्बन्ध होता भी तो युद्ध-भूमि में। ग्रीस दरिद्र देश है। बहुत कड़ी मेहनत करके ही कुछ अनाज पैदा किया जाता था। अंगूर की लताएँ

सींची जाती थी। शराब और जैतून का तेल (olive oil) बाहर भेजने वाले मालों में मुख्य थे। यूनानियों का आर्थिक जीवन संघर्षमय था। इसलिए प्रत्येक शाखा अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए और बढ़ती हुई आबादी के पोषण के लिए दुर्गम रास्तों को पारकर दूसरे यूनानी राज्यों पर आक्रमण करता रहता। इन आक्रमण-प्रत्याक्रमणों का फल यह हुआ कि प्रत्येक घाटी में स्थित यूनानी आपस में और भी मिल गए, और यूनानीयों की राष्ट्रीयता अपनी घाटी तक ही सीमित रही। शत्रुओं से रक्षा के लिए ऊँचे टीले पर दुर्ग बनाया गया, और इसी दुर्ग के संरक्षण में नगर-राज्य विकसित हुआ। सैनिक वर्ग कृषकों पर अपना आधिपत्य रखते थे, और समुद्रीय-डाके (piracy) डालते। दुर्ग के नीचे स्थित कृषक-नागरिक दुर्ग में बसे सैनिक व उच्चवर्ग के लिए भोजन के साधन जुटाते, और उच्चवर्ग इन कृषकों की रक्षा का जिम्मा लेता था। इन नगर-राज्यों में समाज पहले दो वर्गों में बंटा था—सैनिक-कुलीन वर्ग जिसके पास बड़ी २ जमींदारियां थी, लड़ाई के रथ थे, और बड़ी संख्या में पशुधन। राजा इनका मुखिया था, पर वह इनसे जुदा नहीं था। दूसरा वर्ग कारीगर, मजदूर और दासों का था और इन्हें शोषितवर्ग कहा जा सकता है। पर प्राचीन यूनान के नगर-राज्य के विधान का आधार जनतान्त्रिक सिद्धान्त था। लोकसभा में सभी नागरिकों को उपस्थित होने का अधिकार था, और राज्य के महत्वपूर्ण समस्याओं पर वहीं निश्चय किया जाता थ। अतः शोषितवर्ग, संख्या में अधिक होने के कारण जनहितकारी कार्यक्रम निश्चित करा लेते थे।

उपनिवेश स्थापना

पर ८००-६०० ई० पू० के मध्य में नगर-राज्यों में नयी सामाजिक व आर्थिक हालत पैदा हो गई। हम देख चुके हैं कि समाज बड़े जमींदारों व छोटे किसानों में बंटा था। साधारण किसान छोटे २ टापरों में खेती करता, और उसे भोजन के लिए पर्याप्त अनाज

ही पैदा करना मुश्किल हो जाता था। कई स्थानों में चारागाह की कमी के कारण किसान गाय-घोड़ा भी नहीं रख सकता था। अत: उसे अपने श्रम पर और कठिन कृषि की उपज पर ही निर्भर करना पड़ता। पर बड़े जमींदार के पास पर्याप्त मूलधन (Capital) था, जिससे वह अंगूर, जैतून के तेल, या पशु-धन की वृद्धि कर सकता था। इन कामों का फल कुछ देर में मिलता। अधिक अनाज उपजाने से जनसाधारण को बहुत अधिक फायदा होता। पर अधिक लाभ के लिए बड़े जमींदार कृषियोग्य जमीन को परती रखते और अंगूर व जैतून के तेल की खेती पर अधिक ध्यान देते थे। इसलिए बेचारे मजदूरों को रोजी मिलना मुश्किल हो जाता; अनाज की कमी होती, और दाम की महंगी। कभी २ तो मुनाफे की लालच में जमींदार लोग काफी अनाज राज्य से बाहर भेज देते थे। अत: मजदूरों व मामूली किसानों की हालत बेतरह बिगड़ गई। कुछ साहसी कुलीन नवयुवक भी अपने साथी कुलीनों के आर्थिक एकाधिकार से असन्तुष्ट थे क्योंकि एक नियम यह था कि परिवार का बड़ा लड़का ही सम्पत्ति का वारिस होगा।

इसलिए राज्य छोड़ कर किसान, मजदूर व असन्तुष्ट कुलीन नव-युवक दूर २ देशों में जाकर उपनिवेश स्थापित करने लगे। यूनानी इन उपनिवेश इटली, सिसली और एशियामाइनर और मिश्र में बढ़ने लगे। ईसा से पूर्व सप्तमी और षष्ठी शताब्दियां यूनान के इतिहास में युगान्तकारी हैं। उपनिवेशों में नये यूनानी नगर-राज्य स्थापित हो गये। इनके द्वारा यूनानियों को जमीन और भोजन मिल गया। संस्थापक-नगर (Founder city) को भोजन मिलने की सुविधा हो गई, और नये व्यवसाय व तिजारत की खोज होने लगी, जिसका फायदा इस नये उपनिवेश में बसने वाले और संस्थापक नगर-वासियों दोनों को मिलने लगा।

उपनिवेश-स्थापना का एक परिणाम यह था कि व्यावसायिक और औद्योगिक उन्नति हुई। पांचवी शताब्दी ईसा से पूर्व कुछ ऐसे नगरों में, जिनकी भौगोलिक स्थिति अनुकूल थी, व्यवसायिक और औद्योगिक धंधे शुरू हो गये। पूर्व-तट में स्थित एइजिन (Aegina) इस क्षेत्र में उल्लेखनीय है। फिनिशयनों से इस शहर की प्रतिद्वन्द्विता रही। एथेन्स (Athens) अनाज और जैतून के तेल बाहर भेजने के लिए प्रसिद्ध था। मिलेटस् अन्दर-एशियामाइनर से सम्बन्ध रखता था, ऊनी कम्बल जूते, कपड़े और तलवार की तिजारत का केन्द्र था। मिलेटस् के मिट्टी-के-बर्तनों की मांग दूर देशों में थी। इटली और सिसली में कोरिन्थ के कई उपनिवेश थे। मिश्र में नौक्रेटिस् (Naucratis) यूनानी माल का डीपो था, और मिश्र और यूनान के पारस्परिक व्यापार का एक केन्द्र बन गया। मस्सिलिआ (Marseille) फ्रांस में, योरप में यूनानी माल और सभ्यता के विस्तार का द्वार था।

उपनिवेश-स्थापना का यह आन्दोलन यूनानी-सभ्यता के विकास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। लोगों को अपनी पुरानी आदत और जीर्ण सामाजिक व्यवस्था से निकलने का मौका मिला। यूनानियों को नये देशों ने आकर्षित किया, और उनमें नया साहस और नया जोश आया। इन उपनिवेशों की स्थापना और वहां जाकर बसने के कारण उनके जीवन में परिवर्तन आया। परिवर्तन ही जीवन है। विदेशों से घनिष्ट सम्बन्ध का परिणाम था नयी जातियों व नई भावनाओं और नये आदर्शों से प्रभावित होना। यूनानी सभ्यता इस प्रकार बहुत समृद्ध बन सकी। दुनियां और मनुष्य के विषय में उनका मानसिक क्षितिज बहुत विस्तृत हो गया। प्राचीन यूनानियों में बराबर नयी प्रवृत्ति अपनाकर अपनी सभ्यता को गतिशील बनाने की आवश्यक प्रतिभा पाई जाती है। इस गुण का कारण है इस युग में विदेशों और विदेशियों से सांस्कृतिक व व्यापारिक सम्बन्ध रखना।

आर्थिक क्रांति और सामाजिक विषमता

इस सम्बन्ध का एक महत्वपूर्ण परिणाम था मुद्रा (Coinage) का व्यवहार का ज्ञान। अब वस्तुओं के लेन-देन अदल-बदल (Barter) से नहीं, बरन् प्रत्येक वस्तु का मूल्य एक निश्चित मुद्रा के आधार पर तय किया जाने लगा। इसलिए धन का अर्थ था मुद्रा का संग्रह और इसके लिए काफी होड़ होने लगी। बड़े बड़े जमींदार सूद पर कर्ज देकर धन बढ़ाने लगे। बढ़ती हुई तिजारत से भी उनका कुछ फायदा ही हुआ। बेचारे किसान और मजदूर अपनी मामूली पूंजी से भी हाथ धो बैठे। जमींदारों को जमीन रेहन कर वे आवश्यक चीजें खरीदने लगे, और अन्त में वे जमीन रेहन ही रह गई, उसे बेचकर ही वे अपनी खोई आजादी पा सकते थे। धनी-धनी होते गए, गरीब दिनोंदिन और भी गरीब हो गये।

इस तरह प्रत्येक नगर में सामाजिक और आर्थिक विषमता बहुत बढ़ गई। नागरिकों के इस संघर्ष से नगर की राजनीति बहुत ही प्रभावित हुई। दरिद्र नागरिकों की यह मांग थी कि कर्ज रद्द किया जाय, सम्पत्ति का फिर से बंटवारा हो, और शासन में सभी नागरिकों को पूरा भाग रहे। कुलीनों की संख्या तो कम थी पर वास्तविक राजशक्ति इसी वर्ग के अधिकार में था। सम्पत्ति का बहुत बड़ा अंश इनका ही था। इसलिए इनलोगों ने इस मांग का विरोध किया, और अपनी विशेष सुविधाओं के बल पर गरीब नागरिकों का शोषण और तेजी से करते रहे। व्यावसायिक नगरों में कुलीनों ने व्यापार में भी भाग लिया था, और काफी धन इकट्ठा कर स्थिर-स्वार्थों का एक प्रतिक्रियावादी गिरोह बना लिया। पर अमीर और गरीब सभी इस बात पर एक थे कि राज को नागरिकों की आर्थिक आवश्यकता पूरी करनी चाहिये। पर प्रश्न यह था कि किस तरह धन का बंटवारा हो कि कुछ लोग अमीर न होते जायं और न अधिक लोग गरीब।

पर समस्या सिर्फ नागरिकों के पारस्परिक हितों की रक्षा ही नहीं थी। प्रत्येक नगर में नागरिकों के अलावे गैरनागरिक अधिक संख्या में थे। विदेशियों को नागरिकता के अधिकार नहीं प्राप्त थे। व्यावसायिक नगरों में विदेशी व्यापारी और दूकानदार या कारीगर काफी संख्या में थे, पर उन्हें कोई राजनीतिक अधिकार नहीं था। प्रत्येक नगर में आर्य-ग्रीक के आने के पहले जो लोग थे उन्हें गुलाम बना लिया गया था। दूसरे देशों में लड़ाई के फलस्वरूप कैदियों को भी दास ही बनना पड़ता था। दासों को सम्पत्ति अर्जन करने का हक नहीं था। उनका काम था यूनानी स्वामियों की सेवा, घर और खेत में काम करना। उनके प्रति मालिकों का व्यवहार बहुत ही बुरा होता था। ग्रीक-नागरिकों का आराम, और जनतांत्रिक शासन जिनमें उन्हें प्रत्यक्ष हिस्सा लेना पड़ता था, दास-प्रथा पर ही अवलम्बित था। कई दृष्टि में यूनानी सभ्यता की सर्वमुखी-कला और विद्या की उन्नति दास-प्रथा पर आधारित थी। यूनानी लोकतन्त्र भी अजीब था जिसमें नागरिकों से कई गुणा अधिक गैरनागरिक थे, और सच पूछिए तो अल्पसंख्या का ही बहुसंख्या पर राज था।

लोकतन्त्र का विकास

सामाजिक संगठन में इन विरोधी स्वार्थों के संघर्ष से समाज व राज-शासन में कई परिवर्तन हुए। गरीब कृषकों और अमीर कुलीनों में विषमता बढ़ती गई। उच्चवर्ग वाले इस झगड़े में तबतक बराबर जीतते रहे जबतक युद्ध में रथ और घुड़सवार का महत्त्व अत्याधिक था, पैदल-सेना का महत्त्व कम था। घोड़े और रथ अमीर लोग ही रख सकते थे। पर इस समय युद्ध-कला में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। भाले से लैस पैदल सिपाही घुड़सवार की बराबरी कर सकता था। अब साधारण नागरिक अपने शरीर को लोहे के कवच से ढंक कर एक हाथ में गोलाकार ढाल और दूसरे हाथ में बर्छा-भाला लेकर युद्ध के मैदान में घुड़सवार से कम महत्त्व नहीं रखता था। इसलिए राज के लिए अब जनसेना का महत्त्व

वर्ग-सेना (Class-army) से अधिक था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि साधारण नागरिकों को राजनीतिक सत्ता प्राप्त हो गई।

इस आन्दोलन की प्रगति भिन्न २ राज्यों में भिन्न रूप से हुई। नागरिकों की बढ़ती शक्ति को रोकने के लिए कुछ नगर-राज्यों में कुलीनों ने अपना पंजा और मजबूत किया, और अल्पजनों का शासन जनसाधारण पर जबरदस्ती लादा गया। कुछ राज्यों में साधारण जनता ने कुलीनों में से किसी एक को या व्यापारियों में से किसी महत्वाकांक्षी को अपना नेता चुना। अल्पजन या कुलीन के शासन को उखाड़ कर इन नेताओं ने अपना स्वेच्छाचारी शासन (Tyranny) स्थापित कर लिया। कुछ स्वेच्छाचारी शासकों ने जनता के लिए बहुत अच्छा काम किया। जमीन का फिर से बँटवारा किया, नये दासों की भर्ती को रोका, कर्ज और रेहन के कानूनों को गरीब जनता के हित में आसान किया, शहर के मजदूरों को काम देने के लिए मंदिर, किलाबन्दी, नहरें इत्यादि बनवाना शुरू किया, सार्वजनिक राष्ट्रीय-उत्सवों को प्रोत्साहन दिया, और कला और साहित्य को प्रगतिशील और जनप्रिय बनानेवालों को सहायता दिया। इस प्रकार जाति और वर्ग के विभेदों को हटाकर शुद्ध नागरिकता को पनपने का मौका दिया।

एथेन्स का विधान।

स्वेच्छाचारी जनहितकारी शासकों में एथेन्स के सोलन (Solon) पाइसिस्ट्रेटस् (Pisistratus) और क्लीसथीनिज् (Cleisthenes) के नाम प्रसिद्ध हैं। इनलोगों के सुधार के फलस्वरूप नीचे तपकों के नागरिकों को भी लोक सभा में स्थान मिला। जिन कर्जों के कारण नागरिकों ने अपनी स्वतन्त्रता व जायदाद रेहन रख दी थी उनको सोलन ने रद्द कर दिया। गरीबों को सस्ता अन्न मिले इसलिए उसने अन्न का बाहर भेजना मना कर दिया। सबसे नीचे-वर्ग के नागरिक भी अब मैजिस्ट्रेटों के चुनाव में भाग ले सकते थे, और अपने मुकदमे

के लिए जूरियों को चुन सकते थे। पाइसिसट्रेटस् ने राज की ओर से साधारण किसानों को कर्ज दिया। कर कम किया। व्यापार को प्रोत्साहन दिया। क्लाइसथिनिज् ने नागरिकों को जाति (tribe) के आधार पर नहीं वरन् निवास्थान और व्यवसाय के आधार पर विभाजित किया। एथेन्स की राष्ट्रीयता की नींव यही थी। प्रजातन्त्र तभी चल सकता था, जब कि रगों के खून पर नहीं वरन् आर्थिक व प्रदेशीय आधार पर राज-संगठन हो।

एथेन्स के इस विधान के अनुसार २० वर्ष के ऊपर के नागरिक लोक-सभा के सदस्य थे। साल में दस बार इसकी बैठक होती, यहां धार्मिक और वैदेशिक समस्याओं पर विचार होता था। अधर्म, राजद्रोह और कर्तव्य की अवहेलना प्रभृति दोषों का न्यायालय भी यही था। कर्त्तव्यच्युत राज-कर्मचारी की मुकदमें की सुनवाई होने पर यहीं उन्हें सजा मिलती। उन्हें जुर्माना, देशनिकाला या मृत्युदण्ड की सजा मिलती थी। विरोधी दलों के नेताओं की नीति यदि खतरनाक मालूम होती तो असेम्बली में वोट लिया जाता, और जिस नेता के विरुद्ध अधिक वोट आता वह १० वर्ष के लिए राज छोड़ कर बाहर जाना स्वीकार करता था। सेनापतियों का चुनाव भी असेम्बली ही करती थी। दस जातियों के दस सेनापति का एक बोर्ड होता था। युद्ध में इनकी सेना इनके मातहत में लड़ती थी। निर्वाचित मैजिस्ट्रेटों को ये लोग राजशासन में मदद देते थे। इनलोगों को वेतन नहीं मिलता था, इसलिए अमीर नागरिकों को ही इन पदों पर चुना जाता था। ये निर्वाचित उच्चकर्मचारी एक वर्ष तक राज-कार्य चलाते थे। कोई स्थायी नौकरशाही या वेतनभोगी अफसर नियुक्त नहीं था। किसी भी पद के लिए सम्पत्ति रखना जरूरी गुण नहीं समझा जाता था। पेरिक्लस् ने अफसरों को वेतन देने की प्रथा चलाई। साधारण और योग्य नागरिक अब उच्च पद का भार उठा सकने में समर्थ थे। प्रजातंत्र की सफलता के लिए यह जरूरी सुधार था।

नागरिकता को सीमित किया गया। विदेशी अब नागरिक नहीं बन सकते थे। पेरिक्लिस् ने देखा कि प्रजातंत्र अब मंहगी हो गई है, इसे चलाने के लिए अब बहुत धन की जरूरत थी, और प्रत्येक नागरिक को अब राज से वेतन मिलने का मौका था। इसलिए उसने यह कानून बनाया कि जिनके मां-बाप शुद्ध एथेनिअन थे वे ही नागरिक हैं। अतः नागरिकों की संख्या कम हो गई। रूढ़िवादी दल ने इसका विरोध किया। पर पेरिक्लस् डटा रहा।

एथेन्स् का लोकतन्त्र योरप के लिए आदर्श रहा। यहां जनता का राज्य जनता के द्वारा जनता के लिए था। लोकतन्त्र की सफलता का यह जीता जागता प्रमाण था कि इस समय एथेन्स में विद्या, कला और विज्ञान की आशातीत उन्नति हुई। राजनीति के क्षेत्र में तो एथेन्स सारे ग्रीस का अगुआ था। तभी तो पेरिक्लस् की यह आकांक्षा थी, कि एथेन्स सभी यूनानियों (Hellas) का स्कूल बन जाय (Athens—the School of the Hellas.)।

पर हमें इस लोकतन्त्र के एक व्याघात को नहीं भूलना चाहिये। लोकतन्त्र की सफलता और वैभव का लाभ सिर्फ नागरिकों को ही प्राप्त था। प्रत्येक एथेन्सवासी नागरिक नहीं थे। विदेशी व्यापारी जो एथेन्स में बस गये थे, जिन्हें (Metics) कहा जाता था, नागरिक-अधिकारों से वंचित थे। पर उन्हें राज-कर्त्तव्यों से भी छुट्टी थी। इसलिए वे अपना समय और अपनी बुद्धि व्यापार और उद्योगों में पूरा व्यय करते थे। इसलिए धीरे २ नागरिकों को उन्होंने धातु-उद्योगों से व तिजारत के क्षेत्र से वस्तुतः बाहर ही कर दिया था। राजनीतिक अधिकारों से वंचित होकर भी ये विदेशी आर्थिक क्षेत्र में अपना प्रभुत्व जमाए हुये थे। पर दासों की हालत दयनीय थी। उनका कोई अधिकार नहीं था। उन्हें खानों में काम करना पड़ता था। नागरिकों की चाकरी करनी पड़ती। दासों की आवश्यकता राज और नागरिक को बराबर रहती थी, इसलिए दासों का व्यापार भी होने लगा। बड़े २ ठीकेदार दासों को अपने मुनाफे

के लिए यहां-वहां काम पर नियुक्त करते थे। विदेशियों ने भी अपनी दुकान पर दास रखना शुरू कर दिया था। दासों का शोषण पर ही एथेन्स का वैभव आश्रित था। दासों और विदेशियों की संख्या एथेन्स के नागरिकों की संख्या से कम नहीं थी। ४३१ ई० पू० एथेन्स की जनसंख्या ३१५५०० थी, इनमें १७२००० नागरिक थे जिनमें बाल, युवा और वृद्ध सभी शामिल हैं। २८५०० विदेशी थे, और ११५००० दास। यह व्यस्क लोगों की संख्या है। अतः यह स्पष्ट है कि यथार्थ नागरिक गैरनागरिक से संख्या में कम ही थे। इस दृष्टि से अल्पजनों का ही राज्य था।

३

यूनान-पर्शिया का युद्ध

कुरुष प्रथम के नेतृत्व में पर्शिया ने एक बृहत् साम्राज्य की स्थापना की थी। बेबिलोन का साम्राज्य ५३९ ई० पू० पर्शिया के अन्तर्गत आ गया था। एशियामाइनर का प्रबल राज्य-लिडिया का भी नाश हो चुका था। इसके पश्चात् एशियामाइनर के तटस्थित और निकटस्थ प्रायद्वीपों के यूनानी उपनिवेशों की स्वतन्त्रता अपहरण हुई। पर्शिया का सम्राट् ने इन यूनानियों पर भी काफी कर लगाया। पर्शिया शासन निरंकुश राजतन्त्र था। यूनानी इस प्रकार के शासन से पीड़ित रहना नहीं सह सकते थे। अन्त में इन उपनिवेशों ने मिलेटस् के नेतृत्व में विद्रोह खड़ा कर दिया। यूनान इस परिस्थिति से अलग नहीं रह सकता था। पर्शिया ऐसा शक्तिशाली राज की सीमा यूनान के निकट बढ़ आना उनकी स्वतन्त्रता के लिए घातक था। यूनानी राज्यों में एकता नहीं थी, इसलिए यह खतरा और भी अधिक नजदीक आ गया।

मारथन की लड़ाई

एथेन्स ने पर्शिया के विरुद्ध इन विद्रोही आइओनियों की मदद के लिए २० जहाज का जंगी बेड़ा भेजा। पर्शिया-सम्राट् दरायुश ने रंज

होकर यूनान पर ही आक्रमण करने की ठानी। ४९० ई० पू० पर्शिया का जंगी बेड़ा ग्रीस पहुंच गया और पर्शिया की सेना मारथन की खाड़ी में उतर गयी। एथेन्स की ओर बढ़ने का विचार था। एथेन्स और ग्रीस के लिए यह बड़ा संकट का समय था पर एथेन्सवासियों ने धैर्य और साहस से काम लिया। मारथन की लड़ाई में पर्शिअनों को मुंह की खानी पड़ी। पर पर्शिया से भय का अन्त नहीं हुआ था। यह निश्चित था कि पर्शिया इस हार का बदला लेने की चेष्टा करेगा। एथेन्स का महान पुरुष थेमिस्टोक्लस् (Themistocles) ने यह स्पष्ट देखा कि एथेन्स की सफलता के लिए नाविक-शक्ति की प्राप्ति आवश्यक है। उसने एक शक्तिशाली जहाजी-बेड़ा का संगठन किया।

थर्मोपल्ली का युद्ध

दरायुश के बाद जेरेक्सस् (Xerexes) ने यूनान पर स्थल और जल मार्ग से आक्रमण करने की एक बृहत् योजना बनायी। फिनिशिअनों से भी इसमें मदद मिली। समुद्र में तो एथेन्स का जहाजी-बेड़ा मार्ग रोके खड़ा था। स्थलमार्ग से पर्शिया की सेना हेलेस्पोन्ट लांघ कर यूनान की ओर बढ़ी। थर्मोपोइली (Thermopylac) की तंग-घाटी में स्पार्टा की एक छोटी टुकड़ी ने वीर लिओनिडास् (Leonidas) के नेतृत्व में पर्शिया की बड़ी फौज का रास्ता रोका। मुट्ठी भर बहादुर सिपाही अपने देश की आन पर मर मिटे। वीरों की गाथाओं में लिओ-निडास् और उसके साथियों का यह साहसिक यद्यपि असफल प्रयास स्वर्णा-क्षरों में लिखे जाने योग्य है। पर्शिया की सेना एट्टिका (Attica) की ओर बढ़ी, और एथेन्स पर धावा बोल दिया। एथेन्सवासियों के लिए यह बड़ा परीक्षाकाल था। पर उन्होंने अपना घर-बार और प्रिय नगर को ध्वंस होना मंजूर किया, पर अपनी स्वतन्त्रता और आत्मा का अपहरण नामंजूर किया। एथेन्स जला दिया गया। पर पर्शिया का स्वप्न न पूरा हुआ, और सालमेज (Salmais) की समुद्रिक लड़ाई में (४८० ई० पू०) एथेन्स ने पर्शिया को बुरी तरह हराया। थेमिस्टोक्लस की दूरदर्शिता का

वह मुख्य परिणाम था। पर एथेन्सवासियों ने बड़ी कृतघ्नता दिखाई, और थेमिस्टोक्लस् को पारितोषिक के बदले विरोध ही मिला।

सैलमिज् की लड़ाई के बाद पर्शिया की प्रधान सेना तो वापस हो गई पर उसकी स्थल-सेना ने ऐथेन्स को ध्वंस किया। स्पार्टा, ऐथेन्स और अन्य मित्रों की संयुक्त सेना ने पर्शियनों को प्लाटिया (Platea) की लड़ाई (४७९ ई० पू०) में बुरी तरह हराया। यूनान का अब पर्शिया की सेना से पीछ छुटा और एशिया का स्वेच्छाचारी शासन के भय से यूनान मुक्त हो गया। एथिनिअनों की मदद से आइओनिया प्रभृति एजिअन समुद्र व एशियामाइनर स्थित यूनानी उपनिवेशों ने भी पर्शिया के बन्धन को तोड़ डाला। यूनानी-संसार अब स्वतन्त्र था। योरप के इतिहास के लिए यह अत्यन्त महत्वपूर्ण था। पश्चिमी लोकतन्त्र और मुक्त कला का विकास अब स्वतन्त्र रूप से हो सका।

एथेन्स का साम्राज्य और लोकतन्त्र का विकास।

यूनान से पर्शियनों को खदेड़ने के बाद स्पार्टा युद्ध से उदासीन हो गया। एथेन्स की समुद्रीय शक्ति का एजिअन सागर में एकाधिपत्य हो गया, और अपने नाविक-बेड़ा की मदद से किमोन (Cimon) के नेतृत्व में सभी यूनानी उपनिवेशों को एथेन्स ने पर्शिया के चंगुल से मुक्त कर दिया। पर पर्शिया के प्रत्याक्रमण का भय अभी भी था। इसलिए शक्तिशाली एथेन्स के संरक्षण में एकता बनाये रखना जरूरी था। एक संयुक्त रक्षा-दल की आवश्यकता स्पष्ट थी। एथेन्स ने इस दिशा में नेतृत्व किया। एथेन्स का शक्तिशाली जहाजी बेड़ा इस योजना का आधार था। धनी नगर-राज्यों ने जहाजों से और साधारण राज्यों ने इसके बदले कर के रूप में धन से संयुक्त-जहाजी-बेड़ा व रक्षा-दल को मजबूत करने में हिस्सा बंटाया। इसके लिए एक स्थायी रक्षा-संघ की स्थापना हुई, जिसका केन्द्र डेलौस (Delos) था। संयुक्त जहाजी-बेड़ा का नेता एथेन्स था, और उसे ही

सदस्य-राज्यों से चन्दा वसूल करने का अधिकार मिला। इस संघ को एथेन्स ने धीरे २ अपना साम्राज्य का रूप दे डाला। जो सदस्य इस संघ से निकलना चाहते थे उन्हें एथेन्स ने अपनी सैनिक शक्ति से जबरदस्ती रोक दिया। तीन सदस्यों को छोड़ कर सभी सदस्य-राज्यों से जहाज नहीं वरन् चन्दा ही लेना शुरू किया, जिसका वास्तविक अर्थ था कि स्वतन्त्र सदस्य अब कर देने वाले आधीन राज्य हो गये थे। कर बलपूर्वक वसूला जाता था। पीछे चलकर कर में काफी वृद्धि की गई थी। पर्शिया का भय हट चुका था, पर संघ को एथेन्स ने अपने स्वार्थ के लिए बलपूर्वक कायम रक्खा। आधीन-राज्यों के नागरिकों को एथेन्स जाकर एथेन्सवासी जूरियों के सामने अपने मुकदमें की सुनवाई में भाग लेना बाध्य किया गया। संघ का केन्द्र डेलोस् से हटा कर एथेन्स ले आया गया। एथेन्स के साम्राज्यवादी नीति से उसके आधीन-राज्य बहुत क्षुब्ध थे। मुक्तिदाता (Liberator) एथेन्स स्वयं साम्राज्यवादी बन बैठा। पर्शिया के स्थान पर एथेन्स की दासता स्थापित हो गई। पर शक्तिशाली एथेन्स के सामने इन कमजोर ग्रामद्वीपों की कुछ न चली। पर एथेन्स के साम्राज्य से यूनानी संसार को कुछ फायदा भी हुआ। एजिअन सागर में समुद्री डाकुओं का उत्पात कम हो गया। आर्थिक उन्नति हुई। बढ़ती आबादी के लिए अन्न और काला सागर से मछली का आयात होने लगा।

एक तरफ जब एथेन्स यूनानी राज्यों को बेड़ी पहना रहा था, दूसरी ओर एथेन्स में लोकतन्त्र की प्रगति द्रुतगति से हो रही थी। साम्राज्यवादी एथेन्स लोकतन्त्र का पथप्रदर्शक था। प्रबल पर्शिया पर विजय और एक विस्तृत समुद्रीय साम्राज्य की स्थापना ने साधारण नागरिकों में अतुलनीय साहस व आत्मविश्वास भर दिया। कुलीन श्रेणी का (aristocracy) का रहा सहा प्रभाव भी मिटा देने के लिए वे आतुर हो उठे। किमोन ने पर्शियनों को एजिअन समुद्र से खदेड़ दिया

था, और एथेन्स का साम्राज्य की नींव डाली थी। पर वह कुलीन वर्ग का था और स्पार्टा से मैत्री का पोषक था। उसे पदच्युत किया गया, और उसे देश निकाला (ostracise) की सजा मिली। किमोन का पतन जनता का कुलीनवर्ग पर विजय का चिह्न था। कुलीनों की सभा (Council of Elders) की राजनीतिक शक्ति खत्म कर दी गई। सार्वजनिक 'पांच हजार की सभा' का महत्व बढ़ गया। राजकार्य यहीं सम्पन्न होने लगा। नागरिक-जूरियों की संख्या बढ़कर ६००० पहुंच गई, और कई भागों में बंट कर ये न्यायालय बन गये। गरीब और साधारण नागरिक भी जूरी बन सकें, इसलिए एक नये कानून के अनुसार जूरियों को वेतन मिलने लगा। प्रत्येक नागरिक प्रायः सभी पदों के लिए उपयुक्त था। इसमें भेद भाव न उठ खड़ा हो इसलिए लौटरी के द्वारा पदों पर अफसरों की नियुक्ति होती। सिर्फ दस सेना-नायकों का विधिवत् चुनाव होता। प्रत्येक अदना सा नागरिक राज्य का प्रभु बन सकता था। राजशासन में इसलिए स्थिर-स्वार्थों (Vested interests) का स्थान नहीं था। इतनी अधिक संख्या में नागरिक राज के शासन में प्रत्यक्ष भाग लेने लगे कि नागरिकों को राजनीति में अतुलनीय और सराहनीय शिक्षा और अनुभव मिलने लगा। प्राचीन राज्यों में एथेन्स-निवासी सबसे अधिक बुद्धिमान और शिक्षित होने लगे। पेरिक्लिस इस लोकतन्त्र का सर्वेसर्वा था। किमोन के बाद इस महापुरुष का उदय हुआ।

पेरिक्लिस ने लोकतंत्र की ही उन्नति नहीं की, पर साम्राज्य से आर्थिक लाभ उठाने में कोई कसर नहीं रक्खा। एथेन्स एक बड़ा तिजारती राज्य बन गया। एथेन्स के सिक्के दूर २ देश में चलते थे। एथेन्स के बन्दरगाह में दूर देशों के माल उतारे और लादे जाते थे। एथेन्स एक औद्योगिक नगर बन गया, और वहां के कारखाने में बने माल का बाजार पूरा भूमध्यसागर का क्षेत्र था। एथेन्स बड़ा ही समृद्ध हो गया।

इस धन का उपयोग कला की उन्नति में की गई। कला के भिन्न २ रूपों में एथेन्स ने इस समय प्रशंसनीय प्रतिभा दिखाई। शिक्षा, विद्या और साहित्य के क्षेत्र में तो एथेन्स लासानी था। ध्वंस एथेन्स की जगह एक सुन्दर और समृद्ध एथेन्स उठ खड़ा हुआ।

एथेन्स-स्पार्टा युद्ध।

एथेन्स का विस्तृत साम्राज्य और वैभव स्पार्टा को फूटी आंख नहीं सुहाता था। स्पार्टा दक्षिण-पश्चिम यूनान में एक मध्यदेशीय (inland) राज्य था। यहां डोरिअनों की आर्यशाखा ने अपनी प्रभुता स्थापित की थी। स्पार्टा में राजनीतिक विकास एथेन्स से भिन्न रहा। यहां सैनिक-कुलीनों (Warrior-nobility) ने अपने पशुबल से असंख्य बहु-संख्यक निवासियों पर अपना प्रभुत्व जमाये रखा। अपने रक्त की शुद्धता के लिए इनलोगों ने दूसरी जातियों से विवाह-सम्बन्ध नहीं रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि पूर्वजोंकी युद्धप्रिय प्रवृति इनमें वर्त्तमान रही। सफल सैनिक होना ही स्पार्टा के नागरिकों का आदर्श था और यह जरूरी था, क्योंकि अल्पसंख्यक नागरिक अपनी रक्तशुद्धता और सैन्य बल पर ही बहुसंख्यकों पर आधिपत्य कायम रख सकते थे। उनके लिए दर्शन, कविता व राजनीति व्यर्थ की चीजें थीं। व्यापार वे हेय दृष्टि से देखते थे। उनका सबसे उत्तम कर्त्तव्य था संसार का सबसे सफल और साहसी सैनिक होना। इसलिए शारीरिक व्यायाम और नागरिकों में सहयोग की आवश्यकता पर वे बहुत जोर देते थे। इसलिए बचपन से ही प्रत्येक स्पार्टन् को यह अनुभव कराया जाता था कि वह न अपने लिए और न अपने परिवार के लिए वरन् अपने नगर-राज्य के लिए जीता है। जो बच्चे अस्वस्थ रहते उन्हें मरने के लिए छोड़ दिया जाता था। स्वस्थ बच्चों को उचित व्यायाम व कठिन परिश्रम करना पड़ता जिससे वे स्वस्थ और विश्वासपात्र नागरिक बन सकें। लड़के-लड़कियों सभी को शिविर-जीवन बिताना पड़ता था।

जोखिम का काम उठाना पड़ता था। चोरी करने कहा जाता, और चोरी पकड़ाने पर सजा मिलती, सफल चोरी करने पर तो वाहवाही मिलती थी। एक बालक एक लोमड़ी के बच्चे को चुरा लाया था, और उसे अपने पैजामे के अन्दर छिपा लिया था। लोमड़ी का बच्चा उसे काटते २ लहू-लूहान कर छोड़ा, और बच्चे की जान चली गई, पर वह किसी को अपनी चोरी का पता नहीं देना चाहता था। स्काउटिंग उनकी दिनचर्या थी, और भोजन की चोरी मामूली कार्यक्रम,। उनकी शिक्षा बड़ी ही कठोर होती और, उन्हें कष्ट सहने की आदत हो जाती थी। बड़े होने पर ये लोग हेलोट् (Helot)–गैरनागरिक स्पार्टन्–पर जासूसी करते, और कोई भी साहसी व विद्रोही हेलोट् को चुपचाप खतम कर देते थे।

इस तरह समूची राजशक्ति का व्यवहार बहुसंख्यक हेलोट् को दबाने में किया जाता था। सैन्यबल पर ही राष्ट्र की सारी पूंजी लगा दी गई थी। लोकतंत्र व सांस्कृतिक जीवन का महत्व कुछ नहीं था। स्पार्टा का नियन्त्रित जीवन एक कहावत बन गयी है। व्यक्ति के विकास की एकदम गुंजाइश नहीं थी। आर्थिक व्यवस्था साधारण और अविकसित थी। इस तरह स्पार्टा और एथेन्स एक दूसरे से एकदम भिन्न थे। एथेन्स का लोकतन्त्र, साम्राज्य-विकास, और व्यापारिक उन्नति स्पार्टा के लिए असहनीय हो गई। स्पार्टा ने एथेन्स के आधीन-राज्यों की स्वतंत्रा का का पक्ष लेकर यूनान के नगर-राज्य की स्वतंत्रता का जन-प्रिय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसे कोरिन्थ (Corinth) नगर से बहुत सहायता मिली। कोरिन्थ उत्तर-दक्षिण यूनान को मिलानेवाले तंग भाग में स्थित था। व्यापार का वह एक केन्द्र था, और कई उपनिवेश भी इसने स्थापित किया था। एथेन्स की व्यापारिक व नाविक-शक्ति की उन्नति से कोरिन्थ खार खाए बैठा था। इसलिए एथेन्स के विरोधी-गुट में सक्रिय भाग लेना कोरिन्थ के लिए स्वाभाविक था। अतः एथेन्स के विरुद्ध जब काला-सागर के उत्तर-पूर्व स्थित आधान-राज्यों ने विद्रोह

किया तो स्पार्टा और कोरिन्थ ने उनकी सहायता करने की ठानी। अतः स्पार्टा-एथेन्स युद्ध शुरू हुआ, जो ४३१-४०४ ई० पू० तक चलता रहा। तीस वर्ष की इस लड़ाई से यूनान का बहुत नुकसान हुआ। एथेन्स की रक्षा उसकी मजबूत किलेबन्दी से हुई। पर एटिक्का-क्षेत्र ध्वंस हो गया। एथेन्स का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। पर युद्ध का अहम् प्रश्न—स्पार्टा या एथेन्स में किसका नाश हो जाय—का कोई उचित उत्तर न मिला। एथेन्स की जलसेना को स्पार्टा और उसके साथी नष्ट न कर सके; स्पार्टा की सेना को स्थल पर एथेन्स बर्बाद नहीं कर सका। स्पार्टा की स्थलशक्ति और एथेन्स की समुद्रीय शक्ति अपने २ क्षेत्र में विजयी रही।

इस लम्बी लड़ाई का परिणाम काफी महत्वपूर्ण है। स्पार्टा यूनान का वास्तविक स्वामी हो गया। पर राज्य-स्वतन्त्रता का यह पोषक नगर-राज्यों के लिए घातक सिद्ध हुआ, और स्पार्टा-निवासी सारे यूनान में घृणा के पात्र बन गये। एथेन्स का काफी नुकसान हुआ। एटिक्का की बर्बादी हुई, और साम्राज्य का ह्रास हुआ। एथेन्स और स्पार्टा की इस लम्बी लड़ाई में दोनों प्रभावशाली राज्य कमजोर हो गये, और थिबिस् (Thebes) नामक यूनानी-नगर राज्य की उन्नति शुरू हो गई। इपामिनोंडस् के नेतृत्व में थिबिस् ने कुछ दिनों तक अभूतपूर्व सैनिक-शक्ति का उदाहरण दिया। स्पार्टा की सेना को भी मार भगाया, और दक्षिण यूनान को कई बार रौंदा। सैनिकों की एक नये ढंग की युद्ध-पंक्ति का आविष्कार किया। इसी युद्ध-कला को अपना कर मैसिडोनियनों ने विश्व-विजय का स्वप्न देखा। ३० वर्ष की लगातार लड़ाई का परिणाम था कि यूनानी सैनिक युद्ध में इतने अभ्यस्त हो गये कि वे व्यवसायी सैनिक (Professional Soldier) बन गये। जब पर्शिया में राजगद्दी के लिए लड़ाई हुई तो बहुत से यूनानी सैनिकों ने एक दल की नौकरी कर ली थी। अन्त में पर्शिया का एक क्षत्रप (Satrap) ने उन्हें

कत्ल करने की साजिश की, पर जेनोफोन (Zenophon) के नेतृत्व में १०००० यूनानी सिपाही दुर्गम रास्तों से होते हुये भाग निकले, और काला समुद्र के तटवर्ती एक यूनानी बन्दरगाह पर पहुंच कर ही चैन की सांस ले सके। इतिहास में "दस हजारों की यह यात्रा" एक रोमांचकारी घटना है।

एथेन्स स्पार्टा का युद्ध यूनानी नगर-राज्यों के पारस्परिक अनबन का एक वृहत रूप है। ये नगर-राज्य आपस में बराबर झगड़ते रहे। एकता का सम्पूर्ण अभाव था। इस तरह लगातार युद्ध में लिप्त रहने का परिणाम था यूनानियों की राजनीतिक असफलता। देश कमजोर हो गया। प्रत्येक नगर-राज्य बारी-बारी से देश को एक करने में असफल सिद्ध हुआ। जहां यूनानी-राज्य नाकामयाब साबित हुये वहां मैसिडोन और आगे चलकर रोम ने सफलता पाई।

४

मैसिडोन का उदय और सिकन्दर

यूनान के उत्तरी सीमा पर बालकन की पहाड़ी क्षेत्रों में यूनानी सभ्यता का प्रवेश नहीं के ही बराबर था। मैसिडोन इसी प्रदेश का एक राज्य था। वहां के निवासी असभ्य थे, उनकी भाषा आर्यभाषा ही थी पर यूनानी लोग इस अविकसित भाषा को नहीं समझते थे। यूनानी सभ्यता की पहली चाशनी मैसिडोन पर धीरे धीरे चढ़ रही थी। फिलिप की मां को यह गर्व था कि अपनी वृद्धावस्था में उसे लिखने का ज्ञान हो गया था। फिलिप ने यूनानी शिक्षा प्राप्त की थी, और जब वह ३६० ई० पू० मैसिडोन का राजा हुआ तो उसने यूनान में एकता का अभाव का ठीक अर्थ लगा लिया। उसकी यह आकांक्षा थी कि वह फूट के स्थान पर यूनान में एकता स्थापित करे। उसने मैसिडोन के बलिष्ठ किसानों की एक स्थायी सेना बनाई और

यूनानी युद्धव्यूह को अपना कर उसे और दृढ़ किया। पैदल सेना और घुड़सवार को एक दूसरे का पूरक बनाया।

उसने साम्राज्य विस्तार आरम्भ किया, और पूर्व और उत्तर में डेनूब और हेलेसपोन्ट तक पहुंच गया। मैसिडोन की उन्नति से एथेन्स घबड़ा गया। प्रसिद्ध वक्ता डेमोस्थिनिज (Demosthenes) ने असभ्य मैसिडोनियनों के विरुद्ध विष उगलना शुरू कर दिया। उसकी वाक्यशक्ति के प्रभाव में आकर यूनानी नगर-राज्यों ने फिलिप के विरुद्ध विद्रोह किया, पर वे असफल रहे, (३३८ ई० पू०) और फिलिप समूचे यूनान के, (स्पार्टा को छोड़ कर) संघ का नेता बन बैठा। एशियामाइनर के यूनानी नगर-राज्यों की स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए फिलिप ने युद्ध शुरू किया। पर वह षड्यन्त्रकारियों के द्वारा मारा गया।

सिकन्दर का उदय

उसका पुत्र सिकन्दर २० वर्ष की आयु में ३३६ ई० पू० गद्दी पर बैठा। महान् अरस्तू (Aristotle) उसका गुरु था। सिकन्दर यूनानी संस्कृति में पला, और अपने को यूनानी सभ्यता का पोषक समझता था। पर पहले उसे यूनान की ही समस्या सुलझानी पड़ी। यूनान के नगर-राज्य मैसिडोन के आधिपत्य से छुटकारा चाहते थे। थिबिस् में फिलिप के मरने के बाद दो बार विद्रोह हुआ। सिकन्दर ने सारे यूनान को एक पाठ पढ़ाना निश्चय किया। थिबिस् की सेना कुचल दी गई, और सारे नगर को बिल्कुल नेस्तनाबूद कर दिया गया। अब यूनान के सभी नगर सिकन्दर की प्रभुता मानने ही में अपना कल्याण समझने लगे। सिकन्दर यूनान के राज्य-संघ का नेता निर्वाचित हो गया और उसकी सेना में सभी नगर-राज्यों ने अपनी टुकड़ी जोड़ दिया। स्पार्टा इस संघ से बाहर ही रहा।

पर्शिया से युद्ध ।

सिकन्दर की महान् आकांक्षा थी पर्शिया साम्राज्य का नाश करना। पर्शिया ने यूनान और यूनानी संस्कृति पर धावा किया था। सिकन्दर का आक्रमण जवाबी हमला था; पर्शिया के विरुद्ध सिकन्दर यूनानी-सभ्यता का प्रतीक बन गया। यूनानी और मैसिडोनिअन सिपाहीयों को लेकर सिकन्दर एशियामाइनर पहुंच गया और ग्रैनिकस् नदी के तट पर पर्शिया-सम्राट् को पराजित किया (३३४ ई० पू०), और उत्तर-पूर्व की ओर बढ़ कर मेसोपोटेमिया की सीमा पर पहुंच गया। दराउश तृतीय ने इस्सस् की खाड़ी में स्वयं ही सिकन्दर का सामना किया, पर इस बार भी सिकन्दर ही विजयी रहा (३३३ ई० पू०)। दराउश ने अब सन्धिवार्ता शुरू की : यूफ्रेटिज् के पश्चिम सिकन्दर का राज्य रहेगा, और उस नदी से पूर्व दराउश का क्षेत्र होगा। पर सिकन्दर संसार विजयी होने का स्वप्न देखता था। उसने सन्धि नामंजूर किया। पूर्व की ओर बढ़ने की उसकी आकांक्षा थी पर वह पीछे से आक्रमण से अपनी रक्षा करना जरूरी समझता था। इसलिए उसने पश्चिम की ओर मुड़ कर फिनिशअनों का केन्द्र टाइर (Tyre) प्रायद्वीप पर अपना कब्जा कर लिया। यूनानियों ने टाइर से लेकर एशियामाइनर के तट तक एक पुल बना लिया, और फिर जहाजों से प्रायद्वीप को घेर लिया था। इसके बाद सिकन्दर ने (पर्शिया का विजित-देश) मिस्र पर अपना अधिकार कर लिया। इस तरह पश्चिम से आक्रमण से अपनी रक्षा करके सिकन्दर पूर्व की ओर बढ़ा, और ३३१ ई० पू० ननवा के पूर्व अर्बेला के निकट दरायुश से फिर युद्ध हुआ, और सिकन्दर की उत्तम युद्ध-कला और व्यूह-रचना के परिणाम-स्वरूप पर्शिया की विशाल सेना पराजित हो गई। दराउश भाग गया, सिकन्दर ने अपने को पर्शिया-साम्राज्य का उत्तराधिकारी समझा। पर्शिया की रानियों के प्रति अच्छा बर्ताव किया। बड़े २ सरमायदारों की इज्जत की। वह

पूर्व-पश्चिम में सामञ्जस्य व एकता लाना चाहता था। वह पूर्व और पश्चिम-दोनों दुनियां-को मिलाना चाहता था। उसकी इस प्रवृति को यूनानी सिपाही न समझ सके और न सराह सके। दराउश का पीछा करते सिकन्दर पर्सिपोलिस (राजधानी) पहुंचा और उसे जला डाला। पर दराउश वहां भी न मिला; मिली उसकी लाश कुछ दूर और पूर्व जाने पर। दराउश की लाश को सिकन्दर ने ससम्मान उसके सम्बन्धियों के पास भेज दिया (३३० ई० पू०)

भारत पर चढ़ाई

इसके पश्चात् सिकन्दर पूर्व की ओर बढ़ता गया। अफगानिस्तान विजय करके वह भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर पहुंच गया। पहाड़ी इलाकों में उसका काफी विरोध हुआ, और उसे कभी क्रूर आचरण पर उतर आना पड़ा। मसग्गा के किला पर कब्जा करने के पश्चात् उसने सैकड़ों मर्द-औरतों की हत्या की आज्ञा दी। ३२७ ई० पू० वह सिन्धुतट पर पहुंच गया। उत्तर-पश्चिम भारत में उस समय फूट का बोलबाला था। तक्षशिला का राजा अम्भी और झेलम-चेनाव के मध्यस्थित प्रदेश का राजा पुरु में घोर दुश्मनी थी। अम्भी ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर लिया, और सिकन्दर तक्षशिला पहुंच गया। पोरस से ३२६ ई० पू० झेलम की लड़ाई हुई। पोरस हार कर पकड़ा गया, पर सिकन्दर ने उसके साथ राजकीय बर्ताव किया। सिकन्दर वीर दुश्मन की इज्जत करना जानता था, और ऐसे दुश्मन की मैत्री का महत्व भी समझता था। उसने पुरु का राज्य लौटा दिया, और आगे बढ़ा। व्यास नदी तक यूनानी सेना पहुंच गई। इसके पूर्व मगधराज नन्द का साम्राज्य था। इस राज्य की शक्ति के विषय में यूनानियों को पता लग चुका था। देश से निकले उन्हें कई वर्ष हो गये थे। वे अब थक भी गए थे। इसलिए सिकन्दर को संसार विजय का सपना छोड़ कर वापस लौटना पड़ा। पर इस वापसी यात्रा

में सिन्धु नदी के दक्षिण-क्षेत्र में मालव-क्षुद्रक गणराज्यों ने सिकन्दर का कस कर विरोध किया, और एक बार सिकन्दर घायल भी हो गया। खैर किसी तरह सिकन्दर हिन्दुस्तान से वापस लौट सका, और बेबिलोन में एकाएक बीमार पड़ा और वहीं उसकी मृत्यु हो गई (३२३ ई० पू०)।

सिकन्दर की महानता।

सिकन्दर एक महान् विजेता ही नहीं वरन् सभी दृष्टि से एक महान पुरुष था। युद्ध में बराबर सलग्न रहने पर भी विज्ञान व अनुसंधान में उसकी रूचि कम नहीं थी। नील नदी में सालाना बाढ़ क्यों आता है, इसका कारण का पता लगाने के लिए उसने अपने दूत भेजे। कास्पिअन सागर के चारों ओर परिक्रमा करने के लिए उसने एक जहाजी बेड़ा का संगठन किया। अपने साथ वह यूनान से कई वैज्ञानिकों को लाया था, और उनकी मदद से प्राकृतिक इतिहास (Natural-history) के लिए जरूरी नमूने अरस्तू (Aristotle) के पास भेजा। अपने विशाल साम्राज्य के सुशासन के लिए वह बराबर व्यस्त रहा। उसे यूनानी सभ्यता पर गर्व था। इसलिए उसने विजित देशों में यूनानी सभ्यता का बीज बोना निश्चय किया। यूनानियों को अपने विधान (Constitution) के अनुकूल राज्य में रहने की आदत थी। उसने विजित देशों में यूनानी राजशिविर व नगर की स्थापना की, जहा यूनानी सभ्यता प्रचलित थी। पूर्व-पश्चिम में मैत्री भाव रहे इसलिए इसने स्वयं एक एशियाई राजकुमारी रोक्साना से ब्याह किया, और अपने सेनापतियों को एशिया की औरतों से शादी करने में प्रोत्साहन दिया।

पर विजय का नशा सिकन्दर पर चढ़ चुका था। वह एथोस के पहाड़ को अपनी एक विशाल मूर्ति में परिवर्तन करने का स्वप्न देखता था। वह अपने को देवता समझने लगा, और लोगों को ऐसा समझने के लिए उत्साहित किया। मिश्र में इसको जिउस्-एमोन

(Zeus-Amon, यूनान और मिश्र के प्रमुख देवताओं) का पुत्र कह कर सम्मान किया गया। पूर्वीय राजाओं के दरबार की उसने नकल की, और अपने अफसरों को जमीन चूमकर घुटने टेक कर सलाम करने को बाध्य किया। अतः योरप में स्वेच्छाचारी एकतन्त्र और राजा का दैवी अधिकार का सिद्धान्त का प्रवेश हुआ।

साम्राज्य का पतन ।

सिकन्दर की मृत्यु इतिहास में एक दुखद घटना थी। सिकन्दर ने यूनानी संसार और एशियाई संस्कृति को मिलाने का प्रयास किया था। उसकी अकाल मृत्यु से यह प्रयोग असफल रहा। यूनानी संस्कृति का प्रभाव विस्तृत था ही। अब इसका राजनीतिक प्रभाव भी उससे अधिक विस्तृत हो गया। इसकी मृत्यु के बाद यूनान का पतन शुरु हो गया। सिकन्दर का एशियाई साम्राज्य उसके सेनापतियों में बंट गया, और इनकी पारस्परिक शत्रुता के फलस्वरूप साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। मिश्र में टोलमी वंश (Ptolemy) का स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गया, और पूर्व भूमध्यसागर व एजिअनसागर के क्षेत्र में मिश्र का साम्राज्य फैल गया। मैसिडोन का नेतृत्व अब यूनानी नगर-राज्य नहीं सह सकते थे। यूनान में फिर पुराना नक्शा लौट आया। नगर-राज्यों की अनबन शुरू हो गई। मैसिडोनिया को यूनान के नगर-राज्यों से बहुत कालतक युद्ध करते रहना पड़ा। यूनान की व्यापारिक उन्नति क्षीण हो गई। एशिया में सिरिया की राजधानी एन्टिओक (Antioch), मिश्र में एलेक्जिन्ड्रीया पूर्व भूमध्यसागर में व्यापार के नेता बन गये। धनाभाव के कारण अब यूनान के नगर-राज्य तिजारती जहाज व युद्ध-बेड़ा नहीं रख सकते थे, और इसका यह परिणाम हुआ कि वे अब अपनी रक्षा करने में भी असमर्थ होने लगे। इसलिए कुछ राज्यों ने मिलकर संघ बनाया। दो संघ-एकियन और एइटोलिअन-स्थापित हुये, और इनमें पारस्परिक शत्रुता थी।

एथेन्स और स्पार्टा ने इन संघों का सदस्य होना अस्वीकार किया; तब ये संघ कब तक यूनान को बचा सकते थे। इसी तरह सैकड़ों वर्ष तक यूनान में राजनीतिक अस्थिरता रही और मैसिडोन का आधिपत्य एइटोलिन संघ व एथेन्स को छोड़कर पूरा यूनान पर था। एथेन्स अंत तक यूनान की ऊंची भावनाओं व उच्च आदर्शों का घर बना रहा।

यूनानी सभ्यता का रूप

१

यूनान का इतिहास अन्य देशों के इतिहास की तरह युद्ध और शान्ति, सामाजिक व आर्थिक उलट-फेर से भरा है। पर यूनान की अमर-कृतियां कला, विज्ञान, साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में हैं। योरप की सभ्यता ने यूनानी संस्कृति के पूर्ण-भाण्डार से बहुत कुछ लिया है। प्रत्येक योरोपीय यूनान का ऋणी है। इन पृष्ठों में हम यूनानियों का कलापूर्ण जीवन का विश्लेषण करेंगे।

यूनानी सभ्यता पर एजिअन-क्षेत्र की प्राकृतिक विशेषता का बहुत प्रभाव पड़ा है। यह क्षेत्र जल और स्थल का विचित्र सम्मिश्रण है। यूनान में समुद्र-तट से कोई भी स्थान अस्सी मील से अधिक दूर नहीं था, और एक स्थान से दूसरी जगह जाने में कोई असम्भव रुकावट भी नहीं थी। एजिअन प्रायद्वीपसमूह में एक द्वीप दूसरे द्वीप से बहुत निकट था, और योरप से एशिया की समुद्र-यात्रा स्थल को आंखों से ओझल हुये बिना किया जा सकता था। इस क्षेत्र में उत्साहवर्धक धूप मिलती थी, और रंग-बिरंगे प्राकृतिक दृश्य स्पष्ट थे, न कि धुंधले। इस कारण क्रीट-निवासी और पीछे चलकर यूनानी प्रकृति के पूजक रहे, और स्पष्ट प्राकृतिक दृश्यों और स्वस्थ शरीरों का शुद्ध चित्रण कर सके। यह ठीक है कि यूनान की जमीन उपजाऊ नहीं थी। देश गरीब था, पर निकटस्थ सागर यूनानियों को दुस्साहसी जीवन का आनन्द लेने का न्योता दे रहा था। खुले आकाश में स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करना यूनानियों को स्वभावतः प्रिय था। उत्साह और आत्मविश्वास पर निर्भर करनेवाले यूनानियों ने कला, विज्ञान, और साहित्य के क्षेत्र में हमेशा नया जोश और नयी सूझ का प्रमाण दिया।

पर यूनानी सभ्यता सिर्फ यूनानी चरित्र और जीवन, या इस क्षेत्र की प्राकृतिक विशेषता (Physical features) का ही परिणाम नहीं थी। इस सभ्यता का विशिष्ट रूप बहुत अंशों में भिन्न २ संस्कृतियों के सम्मिश्रण का फल था। यूनानी सभ्यता ने मिनोअन (Minoan) या क्रीट की (Cretan) सभ्यता से बहुत कुछ लिया। होमर के महाकाव्य से हमें पता चलता है कि इनलोगों ने माइकीन की परम्परा को सुरक्षित रक्खा। आइओनियनोंके नगर मिनोअन-नींव पर आधारित थे। यूनानियों का समुद्रीय-जीवन पर मिनोअन सभ्यता का प्रबल प्रभाव था। यूनानी सभ्यता और जीवन में खेल-कूद का प्रमुख स्थान, धर्मनिरपेक्ष आचरण और विनोदप्रियता मिनोअन सभ्यता की देन है।

यूनानियों की सभ्यता पर मेसोपोटेमिया, एशियामाइनर और मिश्र की सभ्यताओं का भी प्रभाव पड़ा। नाविक, व्यापारी, यात्री और वेतन-भोगी यूनानियों ने इन देशों से बराबर सम्बन्ध रक्खा। इसका परिणाम था कि यूनानी-जीवन का प्रत्येक अंग पर इन समृद्ध सभ्यताओं की छाप पड़ी। लिडिया से मुद्रा (Coinage) का व्यवहार सीखा गया। लिडिया एशियामाइनर में स्थित आइओनिअन उपनिवेशों के पूर्व में था, और यहां मेसोपोटेमिया की सभ्यता का पूरा दबदबा था। इसकी राजधानी सारडिस (Sardis) व्यापार का बड़ा डिपो था। यूनानी, बेबिलोनिअन, फिनिशिअन इत्यादि सभी यहां व्यापार के कारण मिलते थे। यूनानियों ने यहीं से बेबिलोन की विकसित व्यवहार-कुशलता (Business technique) अपनायी। बेबिलोन के माप-तौल का अनुकरण किया, और होमर-साहित्य के कई शब्दों का स्रोत असीरिया की भाषा है, जैसे सुवर्ण, पायजामा, दूत, ऊँट, ईंटा, बोरा इत्यादि। यूनानी धर्म पर भी मेसोपोटेमिया का प्रभाव पड़ा। बेबिलोनिआ की देवी इस्टार (Ishtar) के विशेष गुणों का रूप विभिन्न यूनानी देवियों में पाते हैं,

जैसे डिमिटर्, अफ्रोडाइट्, आर्टेमिस् और हेकेटि। बेबिलोन के विज्ञान और गणित का सहारा यूनानी वैज्ञानिकों ने लिया। थेल्स को बेबिलोन के ग्रहणों के वृत्तान्तों का संकलन का पता था। प्लेटो ने बेबिलोनिया में दिये हुये ग्रहों के नामों का व्यवहार किया। फिनिशअनों ने ग्रीक-भाषा को वर्णमाला और भी बहुत कुछ दिया। कंघी, इत्र, हाथी के दांत, और कांसे के बर्तन पर सुन्दर कारीगरी का ज्ञान फिनिशिअनों से ही मिला। मिश्र की सभ्यता का क्रीट की सभ्यता पर बड़ा प्रभाव था। यूनानी संसार भी मिश्र से प्रभावित रहा। यूनानी-स्तम्भ (Column) का विकास ताड़-वृक्ष और कमल के फूल के चित्र से अलंकृत मिश्र के स्तम्भों से ही हुआ। यूनान के मिट्टी के बर्तनों पर मिश्र के चित्रों की नकल है। मनुष्य की पत्थर-की-मूर्ति बनाने की कला यूनानियों ने मिश्र की शिल्पकला से ही सीखी। यूनानी चित्रकारी मिश्र की शैली के आधार पर विकसित हुई। यूनानी चिकित्सा पद्धति और शिक्षा मिश्र का इमहोटेप धर्म (चिकित्सा-देवता) पर आधारित थी। यूनानियों का लहसून चबाना और बटेर-लड़ाना मिश्र के व्यसन थे।

अतः यह स्पष्ट है कि जिसे यूनानी-सभ्यता कहा जाता है, इसकी जो विशेषताएं हैं, वह यूनानियों ने धुले स्लेट पर नहीं लिखी। यूनानी-सभ्यता पर समकालीन सभ्यताओं का कई ओर से और भिन्न २ पहलुओं पर प्रभाव पड़ता रहा। यूनानियों ने इन विस्तृत सांस्कृतिक धाराओं को अपनी संस्कृति में मिला कर अपना लिया। अतः यूनानी सभ्यता समृद्ध हो गई। भिन्न २ संस्कृतियों के संसर्ग से यूनानी संस्कृति को प्रगति मिली, नयी सांस्कृतिक दिशाओं की ओर बढ़ने की इच्छा और शक्ति आई। यूनानी सभ्यता का ऐश्वर्य और भिन्न २ दिशाओं में उसका विकसित रूप का उचित ज्ञान हमें इस सभ्यता पर अन्य सभ्यताओं के प्रभाव का पता पाए बिना नहीं मिल सकता।

यूनानी सभ्यता का प्राचीन रूप हम महाकवि होमर की कविताओं में पाते हैं। इससे हमें यह पता चलता है कि कुलीनों का महत्व बहुत था, और उनका जीवन अधिकतर युद्ध में व्यतीत होता था। इन वीरों की प्रशंसा में प्रशस्ति गाए जाते थे, और इन गायकों (bards) में शायद होमर भी एक था। उसने अपने से पहले के गायकों के गानों को संकलित किया। होमर-युग के बाद डोरिअनों का आक्रमण हुआ। डोरिअनों के आगमन से यूनान में अशान्ति पैदा हो गई, और वहां "अन्धकार युग" फैल गया। पर एशियामाइनर के तटस्थित और नजदीक के द्वीपों में बसे यूनानियों ने कला और विद्या के क्षेत्र में नई जागृति का (Renaissance) का नेतृत्व किया। प्राचीन षष्ठी शताब्दी ईसा से पूर्व आइओनिया में जो ज्योति पैदा हुई उसका प्रकाश यूनान पर पड़ना स्वाभाविक था। प्रजातान्त्रिक विधान का आदर्श व्यवहार रूप में सामने आ रहा था। स्वेच्छाचारी शासकों (Tyrants) ने श्रेणीतन्त्र का नाश किया और कला और साहित्य की उन्नति की। एथेन्स में हम सभी दिशाओं में अपूर्व प्रगति और स्फूर्ति पाते हैं। जब पर्शिया ने यूनानी-संसार पर आक्रमण किया, उस समय यूनान एक खास संस्कृति और जीवन-पथ का प्रतिनिधित्व करता था। उसकी कला, और उसका साहित्य और राजशासन के सिद्धान्त पर्शिया के साम्राज्यवादी एकतन्त्र-स्वेच्छाचारी नीति के बिल्कुल विपरीत थे। इसलिए यूनान का पर्शिया पर विजय विश्वसभ्यता के इतिहास में एक युगान्तकारी घटना है। यदि पर्शिया का यूनान पर विजय हो जाता तब आज हम जिन आदर्शों और कृतियों के लिए यूनान के आभारी हैं, और जिन्हें हम योरोपीय साहित्य और सभ्यता का स्रोत समझते हैं उनका पता नहीं रहता। पर्शिया की पराजय ने यूनानी सभ्यता को पूर्वनिश्चित निर्देश की ओर जाने दिया। यूनानी कला, यूनान का राजशासन, यूनानी बौद्धिक जिज्ञासा अपने पूर्वस्थिर पथ पर अग्रसर होती रही। यूनान का

एशिया ऐसे शक्तिशाली साम्राज्य पर विजय का परिणाम था देश में अभूतपूर्व उत्साह और आत्मविश्वास की वृद्धि। ऐथेन्स ने इस राष्ट्रीय युद्ध में नेतृत्व किया था, और इसलिए यह स्वाभाविक था कि यहीं हमें कला, विज्ञान, साहित्य और दर्शन में के क्षेत्रों में अतुलनीय प्रगति मिले। पेरिक्लिस-युग में लोकतन्त्र का ही पूर्ण विकास नहीं हुआ, बल्कि प्रत्येक दिशा में एथेन्स यूनानी-सभ्यता का उज्ज्वल प्रतीक बन गया। एथेन्स-स्पार्टा की लम्बी लड़ाई में भी सभ्यता की प्रगति कुंठित नहीं हुई। सिकन्दर महान् के समय में, और उसके पश्चात्, मुख्य यूनान तो जरूर पीछे पड़ गया, पर यूनानी संस्कृति ने-कला और विज्ञान ने-मिश्र में, एशियामाइनर में, या एशिया में अपना विजय पताका फहराया। इस युग में भी यूनानी कलाकारों की कीर्ति प्रशंसनीय है। इसी यूनानी सभ्यता (Philhellenism) को रोम ने अपनाया और पश्चिमी योरप में फैलाया। इसी प्रकार योरोपीय सभ्यता यूनानी सभ्यता की नींव पर खड़ी हुई। अब हम यूनानी सभ्यता के भिन्न २ पहलुओं पर विचार करेंगे।

२

राजशासन।

योरप को यूनान की विशिष्ट देन है—नगर-राज्य (City-State)। यूनान में छोटे २ नगर-राज्यों का विकास हुआ। इन राज्यों के नाग रक अपने नगर के लिए सब कुछ न्योछावर कर देते थे। इनके लिए यूनान के अन्य नगर-राज्य विदेशी ही थे। अपने नगर के लिए प्रत्येक यूनानी को अटूट देश-प्रेम था। इनकी राष्ट्रीयता की सीमा नगर-राज्य की चहारदिवारी थी। भिन्न २ नगर-राज्यों में बराबर झगड़ा होता रहा, और यूनानियों में जातीय व राष्ट्रीय एकता का प्रायः अभाव ही रहा।

पर यदि राजनीतिक क्षेत्र में एकता का अभाव था, तो कई सांस्कृतिक व धार्मिक क्षेत्रों में सभी यूनानी मिला करते थे। धार्मिक-समीति

(amphictyonies) बड़े राष्ट्रीय मंदिरों, जैसे डेल्फी में अपोल्लो (Apollo at Delphi) का मंदिर, का प्रबन्ध करती थी। इन्हीं समीतियों का काम था धार्मिक त्योहारों का आयोजन, जैसे डेलोस-प्रायद्वीप में अपोल्लो का वार्षिक त्योहार। इन समीतियों में प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधि रहते थे। यूनानियों का खेल-कूद प्रतियोगिता का बहुत चाव था। इसलिये खेल-कूद का बहुत आयोजन होता था जिसम प्रत्येक यूनानी नगर-राज्य सम्मिलित होता था, और एक दूसरे को इन प्रतियोगिताओं में नीचा दिखाने की कोशिश करता था। इनमें कुछ जैसे ओलिम्पिक खेल-कूद राष्ट्रीय महत्व के थे। इन प्रतियोगिताओं की प्रबन्धकारिणी समीति में भी सभी यूनानी राज्य का प्रतिनिधित्व था। महाकवि होमर का गीतिकाव्य को प्रत्येक यूनानी अपनी चीज समझता था, और होमर के लेख से यूनानी-एकता को बहुत मदद मिली। फिर यूनानियों को अपनी सभ्यता पर गर्व था, और वे गैरयूनानियों को 'असभ्य' (Barbarian) कहते। अतः यूनानी और गैरयूनानी का यह भेद यूनानी संस्कृति की एकता, राष्ट्रीय एकता, के भाव को प्रोत्साहन देता था। कभी २ राष्ट्रीय संकट के समय में, जैसे पर्शिया का आक्रमण, यूनान में कुछ हद तक राष्ट्रीय एकता स्थापित हो जाती, पर यह प्रयोग न कभी स्थायी और न पूरे यूनान में विस्तृत रहा। यूनानी संस्कृति की एकता और धार्मिक क्षेत्र में सहयोग के बावजूद यूनान बराबर छोटे २ प्रतिद्वन्दी राज्यों में बंटा ही रहा। राष्ट्रीयता अधिकतर नगर-राज्य की सीमा में ही बंधी रही।

प्रजातन्त्र के विकास में यूनानियों ने योरप या विश्व को बहुत कुछ दिया। एकतन्त्र (Monarchy) यहां नहीं चल सका और श्रेणी-तन्त्र (Aristocracy) को भी उलट दिया गया। स्वेच्छाचारी शासकों (Tyrants) ने कुलीनों की शक्ति कुचल दी, साधारण नागरिकों के हित का ख्याल किया, व्यापार और कला की सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति की।

पर उनकी शक्ति निरंकुश थी, और शक्तिमद में उन्होंने अत्याचार भी किया। यूनानियों की प्रजातान्त्रिक भावना और वैयक्तिक स्वतन्त्रता का मोह के विरुद्ध यह निरंकुश शासन चल नहीं सका, और विद्रोह की अग्नि में कितने ऐसे शासक मिट गये। एथेन्स में दो बहादुर युवकों के द्वारा निरंकुश शासक के दो पुत्रों के वध का दृश्य (पत्थर की मूर्तियाँ) अभी भी स्वतन्त्रता प्रेमी यूनानियों को याद दिलाती हैं। स्वेच्छाचारी-शासकों के युग के उपरान्त प्रजातन्त्र स्थापित हुआ। एथेन्स का प्रजातन्त्र कई दिशाओं में योरप और एशिया के आधुनिक इतिहास में पथप्रदर्शक रहा है। यूनानी नगर-राज्य का प्रजातन्त्र प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र था। लोक-सभा में प्रत्येक नागरिक का अधिकार ही नहीं वरन् क्रियाशील सहयोग आवश्यक समझा जाता था। इसलिए तो आगे चलकर प्रत्येक नागरिक को, गरीब हो या अमीर, राजशासन का भार उठाने में समर्थ होने के लिए वेतन मिलने लगा। न्यायालयों का संगठन नागरिक ही करते थे, और उनका चुनाव वोट से नहीं वरन् लॉटरी से होता था। इस तरह प्रत्येक नागरिक को एक समान सुविधा या असुविधा थी। उच्च २ महत्वपूर्ण पदों पर भी नागरिक इसी तरह चुने जाते थे। एथेन्सवासियों को यह भी डर होता था कि कहीं अतिसर्वप्रिय नेता लोकप्रियता के मद में स्वेच्छाचारी होने का हौसला न करने लगे। इसलिए यह नियम था कि किसी भी प्रभावशाली नागरिक को नागरिक बहुमत से राज्य का दुश्मन करार दे सकते थे, और उसे स्वयं दस वर्ष के लिए देश छोड़ना पड़ता।

इस प्रजातन्त्र के कई दोष भी थे। पहली बात तो यह कि नागरिकों से गैरनागरिकों की संख्या अधिक थी, पर राज्य सिर्फ नागरिकों के लिए और उन्हीं के द्वारा संचालित था। अल्पसंख्या का बहुसंख्या पर राज्य था। प्रजातन्त्र का आधुनिक आदर्श इसे नहीं सहन कर सकता है। यूनान के राज्यों में प्रजातन्त्र गैरनागरिकों के शोषण पर और दासों के

ऊपर अत्याचार के आधार पर निर्भर करता था। नागरिक तो राज-शासन, लोक सभा और न्यायालय के कार्यभार में ही व्यस्त रहते थे। दासों को उनके गृह कार्य व आर्थिककार्य से कभी छुट्टी नहीं मिलती थी। प्रजातन्त्र के चलाने का यह तरीका श्लाघ्य नहीं कहा जा सकता। दूसरी आलोचना यह हो सकती है कि लौटरी के द्वारा भाग्य पर ऊँचे और उत्तरदायी पदों पर अफसरों की बहाली खतरे से खाली नहीं थी। इस नियम के रहने पर भी इन राज्यों में दलबन्दी रही, जिससे राज्य को नुकसान ही उठाना पड़ा। एथेन्स के इतिहास में इस दलबन्दी के कारण थेमिस्टोक्लस् ऐसे राष्ट्रीय नेता और एथेन्स का हितचिन्तक नागरिक को अपने अन्तिम दिन पर्शिया के राजा की गुलामी में बिताने पड़े। राजद्रोह के झूठे अपराध पर उसे निर्वासन की सजा मिली थी। किमोन, जो थेमिस्टोक्लस् का प्रतिद्वन्दी था और जिसने पर्शिया को एशिया के प्रायद्वीप से निकल भगाया, उसे भी देश निकाला (ostracism) की सजा मिली। पेरिक्लिस् ऐसा महान् पुरुष अपने प्रगतिशील विचारों और बुद्धिवादी दार्शनिकों से मैत्री के कारण राज्यकोष का दुरुपयोग के अपराध में दण्डित किया गया। अतः ऐथेन्स का प्रजातन्त्र का इतिहास हमें जनता की कृतघ्नता और क्रोध या स्वार्थ के वश में आकर नागरिकों का अन्याय का भी पता बताता है।

समाज और व्यक्ति।

समाज और व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध बराबर विवाद का विषय रहा है। क्या व्यक्ति सिर्फ समाज के लिए है, या समाज की उपयोगिता व्यक्ति के विकास में ही निहित है? इन प्रश्नों का उत्तर भिन्न २ हो सकता है, और इसलिए राज का स्वरूप भी भिन्न २ होता है। राज्य तो समाज का सर्वश्रेष्ठ संगठन का ही दूसरा नाम है। राज्य और व्यक्ति

के हितों में कौन श्रेष्ठ है, यह प्रश्न संसार के इतिहास में बराबर प्रश्न-वाचक चिन्ह के रूप में खड़ा रहा है।

एथेन्स और स्पार्टा, यूनान के दो प्रमुख राज्य, भिन्न २ सिद्धान्तों पर चलते थे। स्पार्टा में नागरिक राज्य के लिए थे। बचपन से ही उन्हें यह शिक्षा और अनुशासन मिलती थी कि उनका काम सिर्फ है राज्य को बलवान् बनाना। शारीरिक व्यायाम का महत्व इसी कारण अधिक था। प्रत्येक नागरिक का वैयक्तिक श्रम बस इसी दिशा में व्यय किया जाता था—शरीर स्वस्थ और बलवान रहे। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि अल्पसंख्यक नागरिक बहुसंख्यकों का शोषण कर के ही जीते थे, और इसलिए उन्हें पशुबल पर ही निर्भर करना पड़ता था। स्पार्टा में इसी कारण ऐसा राज्य-विधान की स्थापना हुई जिससे राज्य प्रत्येक नागरिक पर पूर्ण अधिकार रख सका। वैयक्तिक विकास, स्वस्थ शरीर का सौन्दर्य को छोड़ कर, प्रत्येक दिशा में वर्जित था।

एथेन्स में व्यक्ति की सर्वमुखी उन्नति और राज्य की उन्नति में समन्वय देखा गया। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य था कि वह अपने नगर की सेवा करे, उसकी लड़ाईयां लड़े, राजशासन में सक्रिय भाग ले, और कानून का मान करे। पर कर्त्तव्यों की सूची एकतरफा नहीं थी। प्रत्येक नागरिक राज्य को अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन समझता था, और राज्य-आय को अपनी सम्पत्ति मानता था। क्योंकि राज्य नागरिक की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ था, इसीलिए एथेन्स के नागरिक अन्य दिशाओं में अपना व्यक्तित्व का विकास करने में संलग्न रह सके। यूनान विशेष कर एथेन्स में प्रजातन्त्र की उत्पत्ति का मूल कारण था दरिद्र नागरिकों का राष्ट्र-धन में अपना उचित भाग ले लेने का सफल प्रयास। जब राज्य पर उनका अधिकार हो गया तब वे आर्थिक चिन्ता से मुक्त हो गये, और प्रत्येक दिशा में इन्होंने

आशातीत प्रगति दिखाई—कला, साहित्य, विज्ञान और दर्शन। व्यक्ति की दबी हुई शक्ति मुक्त हो गई। पर राज्य और व्यक्ति के हितों में मेल रहा। व्यक्ति का सर्वांगपूर्ण विकास में, कला और विज्ञान की प्रगति में, राज्य का गौरव और शक्ति सन्निहित थी। संसार के कई प्राचीन सभ्य समाजों में व्यक्ति समाज के अधिकार में था और व्यक्ति की स्वतंत्रता और उपयोगिता की उपेक्षा की जाती थी। पर यूनान के प्रजातान्त्रिक राज्यों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसकी कृतियां राज या समाज को धनी व शक्तिशाली बनाती हैं, ऐसा समझा जाता था। एथेन्स में सभी दिशाओं में वैयक्तिक प्रतिभा का विकास इसीलिए सम्भव हो सका कि वहां राज्य व नागरिक की आर्थिक आवश्यकताएँ सिर्फ सैन्यबल पर नहीं (जैसे स्पार्टा में) वरन् व्यापार, और साम्राज्य इत्यादि कई चीजों पर निर्भर करती थीं। इसलिए नागरिकों की शक्ति और योग्यता भिन्न २ दिशाओं में चमक सकीं। वैयक्तिक स्वतन्त्रता और राज्य-विधान के प्रति अटूट श्रद्धा और भक्ति इन दोनों प्रवृत्तियों का एथेन्स में सुन्दर समन्वय था।

एथेन्सवासियों का अभूतपूर्व देशप्रेम, अपने प्रजातन्त्र के विधान के प्रति अटूट श्रद्धा और कला व विज्ञान के क्षेत्र में प्रदर्शक होने का गौरव इसी समन्वय के कारण सुलभ हो सका।

धर्म

अन्य आर्यों की तरह यूनानियों के देवता पृथ्वी, आकाश और वायु थे। देवता स्वर्ग में रहते थे पर वे कभी २ ऊँचे पहाड़ों या प्रसिद्ध मंदिरों में रहते थे। ज्यूस् (Zeus) आकाश-देव था और देवताओं का राजा। उसकी स्त्री हेरा स्वर्ग की रानी थी। अपोल्लो सूर्य का देवता था; संगीत और धनुषविद्या का देवता भी वही था। उसकी बहन अर्टेमिस् शिकार की देवी थी। पोसइडोन (Poseidon)

समुद्र का और धातु-विद्या का देवता था। हर्मिज़ (Hermes) देव-दूत था. अथिना (Athene), ज़्यूस की पुत्री थी। युद्ध और कला की पोषक और ज्ञान की देवी थी। अफ्रोडाइट् (Aphrodite) प्रेम और सौन्दर्य की देवी, और डामिटर (Demeter) अन्न की देवी और पृथ्वी-माता थी। इन देवी-देवताओं के अलावा कुछ महापुरुषों की भी पूजा होती थी। इन महापुरुषों को देवता का अंश समझा जाता था। इनमें हेराक्लिस् (Heracles, Herculus) अति प्रसिद्ध हैं। जंगल, नदी पहाड़ और समुद्र, पेड़, पत्थर और गुफा ऐसे एकान्त स्थान में रहनेवाले कितने भूत-प्रेतों व अप्सराओं की भी पूजा होती थी। पूजा अत्यन्त साधारण ढंग से होती थी। भक्त प्रार्थना करता था, और देवताओं के नाम पर कुछ भेंट चढ़ाता था। पशु-बलि की प्रथा भी प्रचलित थी।

यूनानियों का यह विचार था कि देवताओं का रूप मनुष्य का ही रूप था। और मनुष्य की कमजोरियां भी उनमें थी। ज़्यूस् और उसकी पत्नी हेरा में पारिवारिक कलह होता था। भूत-प्रेत में अन्धविश्वास, प्राकृतिक शक्तियों को देवता समझना, मरने के बाद मनुष्य की आत्मा पाताल में चक्कर काटती रहती है, और कुछ पशुओं में देवता का अंश है, ऐसी कल्पित धारणाओं में विश्वास रखना यूनानी धर्म को बौद्धिक सतह पर बहुत नीचे ला देता है। ईश्वर की आज्ञा या इच्छा का ज्ञान के लिए यूनानी बेचैन रहते थे। डेल्फी में स्थित अपोल्लो की भविष्यवाणी में सभी यूनानियों को अत्यन्त विश्वास था। स्वप्नों का अर्थ निकाला जाता था, और भविष्यवाणी जानने के लिए पुरोहितों की सलाह ली जाती थी। बलि-प्रदत्त पशुओं की अंतड़ी और इन्द्रियों के ऊपर चिह्न की परीक्षा और की जाती थी, इससे देवता की इच्छा का ज्ञान होता। इन चिह्नों को उचित अर्थ लगाने के लिए या देवताओं, जैसे डेल्फी का अपोल्लो, की भविष्यवाणी को समझाने के लिए पुरोहित व पुरोहिताइनों की जरूरत पड़ती थी। इसलिए इनका स्थान समाज में ऊंचा रहा। प्रत्येक प्राकृतिक घटना जैसे ग्रहण,

पुच्छलताराएं या भूकम्प आनेवाली दुखद-घटना के संदेशवाहक समझे जाते थे। इस तरह के कितने अंधविश्वासों को जीवन में बड़ा महत्व दिया जाता था। इस कारण प्रत्येक नगर में पुरोहित-वर्ग था, और ओझा और शकुन निकालने वालों की आवश्यकता उस समय उतनी ही थी जितना आज समय पड़ने पर डाक्टर की।

बड़े २ धार्मिक उत्सव भी होते थे। कुछ उत्सव प्रत्येक नगर की सीमा में ही मनाये जाते। कुछ त्यौहारों में कई नगर-राज्य सम्मिलित होते थे, जैसे डेलोस में अपोल्लो के मान में अन्तर्राष्ट्रीय पर्व। कुछ पर्व का राष्ट्रीय महत्व था जैसे ज्यूस् के मान में औलम्पिया पर मनाया गया त्यौहार। इस पवित्र अवसर पर सारे यूनान के युवक शारीरिक व्यायाम की प्रतियोगिता में भाग लेते थे। पीछे चलकर औलम्पियन खेल-कूद (Olympian Games) के अलावे डेल्फी में Pythian Games, कौरिन्थ में Isthmian Games और आरगोलिस में Nemean Games की स्थापना हुई। इन उत्सवों का महत्व धार्मिक था। पर इनसे राष्ट्रीयता का भाव दृढ़ होता रहा, और शरीर को सुन्दर और बलिष्ट बनाने की कोशिश बराबर होती रही।

कुछ काल के बाद यूनानी-धर्म में नये विचार व उत्सवों का प्रवेश हुआ। कुछ लोगों ने यह समझा कि मरने के बाद मनुष्य की आत्मा अंधियाले पाताल में बराबर चक्कर ही नहीं काटती थी। पाप का प्रायश्चित भी हो सकता था और इसके उपाय बताए गये; और मरने के बाद भक्त अपने देवता में लीन होकर स्वर्ग का सुख उपभोग करेगा ऐसा विश्वास जोर पकड़ने लगा। इस विश्वास के नाम पर कई रहस्यमय उत्सव (Mysteris) मनाये जाते थे। इन उत्सवों का सम्बन्ध यूनान के कुछ देवी-देवताओं से था। डाइओनिसस् (Dionysus मदिरा का देवता) की पूजा उसके भक्त खूब जोश से मनाते थे। पहाड़ पर मसालों की रोशनी

(Torch-light) में मृग-छाल व अंगूर के पत्तों के बने हार से शरीर को सजकर भक्त लोग नाच-रंग में मदहोश रहते थे। एक-एक कर वे सब उन्मत्त हो जाते थे, और इस अवस्था को डाइओनिसस् से मिलन की अवस्था समझते थे। डिमिटर देवी की पूजा में भी रहस्यमय उत्सव होते थे जिसे Eleusian Mysteries कहा जाता है। पर्सिफोन (Persephone) डीमिटिर की पुत्री थी और पाताल का राजा प्लूटो उसे हर ले गया था। डीमिटिर ने पर्सिफोन का उद्धार किया और इसी पौराणिक कथा का आधार था Eleusian Mysteries। पवित्र स्नान, जुलूस, नाच-गान इस उत्सव के प्रधान अंग थे। औरफिअस् एक पुरोहित-राजा था जिसकी स्त्री सर्प के काटने से मर गई। औरफिअस् ने मनमोहनी बांसुरी की राग से पाताल के देवताओं को प्रसन्न किया और उसे अपनी स्त्री वापस लाने की आज्ञा मिली। पर उसे पाताल के दरवाजे तक अपनी स्त्री की ओर देखना मना था। पर स्त्री की ममता व प्रेम से पागल औरफिअस् इस शर्त को न मान सका, और वह पाताल से बाहर करीब २ निकल ही चुका था कि उसने अपनी स्त्री की ओर देखा कि उसकी स्त्री उससे छिन गई। इस पौराणिक कथा (Myth) को भी एक रहस्यमय उत्सव में मनाया जाने लगा। ये रहस्यमय उत्सव बहुत ही जनप्रिय थे।

भवन-निर्माण और पाषाण मूर्तिकला।

भवन-निर्माण कला का विकास हमें मन्दिरों के निर्माण में देखना चाहिये। राजा व उच्चवर्ग के विशाल भवन प्रजातान्त्रिक क्रान्ति में अपना महत्व खो चुके थे, पर राजभवन से सम्बन्धित जो मन्दिर था उसका महत्व नहीं घटा। मन्दिरों के निर्माण में यूनानी कलाकारों ने कमाल कर दिखाया। निरंकुश-शासकों (Tyrants) के युग में यूनान में जितने मन्दिर बने उतने कभी नहीं। मन्दिरों में लकड़ी के खम्भों की जगह पर पत्थर के गोलाकार खम्भे व्यवहार में आने लगे।

खम्भों को एक खास तरह की पंक्ति में रखा जाता था, जिसे डोरिक पद्धति (Doric Style) कहते हैं। यह कला मिश्र से प्रभावित हुई थी, पर पीछे चलकर यूनानी कलाकारों ने इतनी उन्नति की इनके बनाये हुये खम्भों की सुन्दरता अद्वितीय हो गई। मिश्र के मन्दिरों की तरह यूनानी मन्दिर में भी चमकीले रंगों का व्यवहार होता था। पर्शिया पर विजय के उपरान्त एथेन्स का पुनःनिर्माण हुआ। सरकारी भवन व साधारण गृह तो बहुत ही मामूली थे। मोहन्जोदाड़ो व क्रीट के साधारण घरों की सुविधाएं यहां नहीं पाई जाती हैं। पर उस समय की कला मन्दिरों में ही मुखरित हुई थी। बड़े २ भवन मन्दिर ही थे। उजले संगमर्मर के पत्थरों के बने ये मन्दिर बहुत ही सुन्दर थे। फिडियस् का मन्दिर एथेन्स में प्रमुख था। एक्रोपोलिस (Acropolis) की चोटी पर एथिना का पारथिनों (Parthenon) मन्दिर अपनी सुन्दरता व भवन निर्माण कला की बारिकी के लिए जगत् प्रसिद्ध है। इस मन्दिर के बनाने में लाखों रुपए खर्च किये गये थे, और पेरिक्लिस् युग की सर्वोत्तम कृतियों में यह एक है। एथेन्स का एक और प्रसिद्ध भवन है एरेक्थिअम् (Erechtheum) जिसमें बहुत सुन्दर खम्भों की पंक्तियां सजी थीं।

पत्थरों की मूर्तियां यूनान की अमूल्य देन हैं। मन्दिरों में देवताओं की पत्थर की मूर्तियां सजायी जाती थीं। बहुत पहले यहां की मूर्तिकला मिश्र की कला की नकल थी, पर कुछ समय के बाद कलाकारों ने सचमुच सुन्दर और स्वतन्त्र कला के उदाहरण पेश किया। यूनान में देवताओं व मनुष्यों की मूर्तियां बहुत ही आकर्षक और प्राकृतिक हैं। यूनानी खुली हवा में अधिक रहते थे, और खुले मैदान में नंगे शरीर व्यायाम करते थे। इसलिए कलाकारों को यूनानी शारीरिक सौंदर्य को मूर्त रूप देने में बहुत सुविधा हुई। यह ठीक है कि पहले पहल मिश्र की मूर्तिकला की ही नकल की गई और सबसे

प्राचीन मूर्तियां कठोर व भद्दी हैं। खेल-कूद की प्रतियोगिता में विजयी वीरों की पाषाणमूर्ति बहुत ही सुन्दर हैं। शरीर की स्फूर्ति को व्यक्त करने की सफलता का अद्वितीय उदाहरण है एथेन्स के दो वीरों द्वारा निरंकुश पाइसिसट्रेटस् के पुत्रों की हत्या का संगमर्मर-चित्र।

पेरिक्लिस्-युग में शिल्प कला की अतुलनीय उन्नति हुई। पेरिक्लिस् का मित्र फिडियस् (Phidias) संसार का एक महान् कलाकार हुआ है। पार्थिनों के मंदिर में चारों ओर उसने संगमर्मर की सुन्दर मूर्तियां सजाई थीं, जिनमें एथेन्सवासियों का जुलूस गौरव और वास्तविकता के भाव को व्यक्त करने में अत्यन्त सफल चित्र है। मंदिर के मध्य में हाथी के दांत और सुवर्ण की बनी देवी एथिना की मूर्ति फिडियस् की कला की अनुपम कृति है। मंदिर के हाते में ही खुले मैदान में एथिना की कांसे की मूर्ति ७० फीट ऊंची है और वह भी फिडिअस् की महान् कृतिओं में एक है। देवी-देवताओं की पाषाण-मूर्तियों के अलावे कवि, दार्शनिक और नाट्यकारों की भी मूर्तियां बनाई गई थीं। जनता इन महान् व्यक्तियों का भी समुचित आदर करती थी। पेरिक्लिस्-युग के बाद के यूनानी मूर्तिकार साधारण नागरिक व उनका दैनिक जीवन के दृश्य को पत्थर पर जीता-जागता उतार लेते थे। इस समय की पाषाण-मूर्तियाँ वास्तविकता और शारीरिक स्फूर्ति को व्यक्त करने में अपनी सानी नहीं रखतीं। एथेन्स का प्राक्साइटिलिस् (Praxitiles) इन कलाकारों में प्रमुख स्थान रखता है। इसकी बनाई मूर्तियां मनुष्य की हैं, नहीं देवता की। हाड़-मांस के बने मनुष्य की कमजोरियों को व्यक्त करनेवाली इन मूर्तियों में हम अपने को सन्निकट पाते हैं। हर्मिअस का शिशु डाइओनिअस् से खेलने की पाषाण-मूर्ति उसकी उच्चकोटि की कृति है। सिकन्दर ने एशिया और मिश्र पर विजय प्राप्त किया था। यूनानी सभ्यता इन देशों में फैल गई। यूनानी राज-मजदूरों ने सुन्दर और योजनानुकूल शहर मिश्र और

इटली में बनाये। यूनानी मूर्तिकारों ने यहाँ पाषाण के सुन्दर और ओजस्वी मूर्तियाँ बनाईं जो कला की दृष्टि में अद्वितीय हैं। संगमर्मर के पत्थर को बनी कब्रों पर सिकन्दर महान् का इस्सस् का युद्ध में विजय का दृश्य बड़ी खूबसूरती से चित्रित किया गया है। यह सच ही कहा गया है कि मानव शरीर का सुन्दरता और गरिमा को पत्थर या काँसे की मूर्तियों में व्यक्त करने की क्षमता यूनानियों से बढ़कर किसी और को नहीं प्राप्त हुई।

चित्रकला (Painting)।

यूनान में चित्रकला का विकास द्रुतगति से हुआ। स्वेच्छाचारी शासकों के युग (The Age of the Tyrants) में मिट्टी के बर्तनों और घर की दीवालों पर देवी-देवता के ही चित्र नहीं वरन् दैनिक जीवन के दृश्य भी रंगे जाते थे। कलाकारों ने स्वाभाविकता को बहुत ही प्रश्रय दिया, और मनुष्य का प्राकृतिक शरीर और स्वाभाविक भावों के चित्रण में इन कलाकारों ने संसार का नेतृत्व किया। मनुष्य के अंगों को इस तरह चित्रित करना कि एक ओर से देखने में वे छोटे लगें, सचमुच कमाल की चीज है। यूनानी चित्रकारों ने कुछ समय बाद लकड़ी के तख्तों पर चित्र बनाना शुरू कर दिया। अब प्रत्येक चित्रकार अपने घर में ही अपनी चित्रशाला रख सकता था। बड़े २ भवनों की दीवालों पर ही चित्र बनाया जा सकता है, इस मुश्किल से उसे मुक्ति मिली। अब चित्रकार अपने भाव या आदर्श की कल्पना को स्वतन्त्रतापूर्वक अपने लकड़ी के तख्तों पर चित्रित कर सकता था; एक के बाद दूसरा प्रयोग कर सकता था। गला हुआ मोम में विविध रंग मिलाया जाता था और फिर ब्रुश से लकड़ी की पटरी पर चित्र बनाया जाता था। इन चित्रों को चित्रकार बेच सकता था, और अमीर लोग इन चित्रों को खरीद कर अपने घर की शोभा बढ़ाते थे। चित्रकला में एथेन्सवासी अपोल्लोडोरस् (Apollodorus) ने बहुत उन्नति की। दृष्टान्त

और नाटकीय घटनाओं का स्वाभाविक चित्रण यूनानी कलाकारों का उत्तम प्रयास है। मानवशरीर की चित्रकारी में इस समय काफी प्रगति हुई।

शिक्षा

बहुत पहले लिखने का ज्ञान नहीं था। लोग पाठ याद कर लेते थे, और इन कण्ठस्थ पाठों को दूसरों को कण्ठस्थ कराया जाता था। पर लिपि की उत्पत्ति और विकास फिनिसिअनों के संसर्ग से हुआ। दस शताब्दी ईसा से पूर्व यूनानी जगत् में लिखने का अभ्यास शुरू हुआ। आइओनिया ने अन्य दिशाओं की तरह इस दिशा में भी नेतृत्व किया। लिखना पहले सरकारी विभागों में प्रचलित हुआ। पांचवीं शताब्दी ईसा से पूर्व वर्णमाला का रूप पक्का हो गया और समूचे यूनान में आइओनिअन अक्षर मान्य हो गये। ईसा से सातवीं शताब्दी पूर्व तक राजनीतिक व व्यापारिक कार्यों के लिए लिखना अनिवार्य हो गया था। जनता की यह मांग थी कानूनों का संग्रह किया जाय। ६५० ई० पू० पहली धर्म-संहिता (Law Code) की उत्पत्ति हुई। पीछे कुछ दिन बाद गद्य-साहित्य और यात्रियों के लिए सूचना-पुस्तकें तैयार हो गई। पर प्राचीन दर्शन-साहित्य भी पद्य में लिखा जाता था। मंदिरों में भी सार्वजनिक उत्सव, और धार्मिक आचारों का लिखित विवरण रखा जाने लगा। अतः राजनीतिक, व्यापारिक, धार्मिक और अन्य कारणों से लिखना-पढ़ना अनिवार्य सा होता गया। अतः यूनान में विद्यालयों की स्थापना हुई। पर ये स्कूल सरकारी स्कूल नहीं वरन गैरसरकारी थे। सरकार शिक्षा की नीति निर्धारित करती थी, पर उसकी आर्थिक मदद नहीं करती थी। स्कूल वैयक्तिक उद्योग का परिणाम था। ६ से १४ वर्ष की आयु तक यूनानी लड़का वर्णमाला सीखता, कविता पाठ करता और महान पुरुषों की गाथाओं व उपदेशों को कण्ठस्थ करता था। संगीत और गणित से उसकी जानकारी की जाती थी। शारीरिक व्यायाम के

द्वारा शरीर को स्वस्थ रखा जाता था। ये लोग इस आदर्श में विश्वास रखते थे कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क रह सकता है। शिक्षा पढ़ना-लिखना से ही खतम नहीं हो जाती थी। संगीत और पवित्र आमोद-प्रमोद शिक्षा के जरूरी अंग थे। स्कूल का अर्थ ही है–अवकाश (Leisure)। प्रत्येक एथेनिअन से यह उम्मीद की जाती थी कि उसे गीत गाने आता है। शिक्षक किताब का कीड़ा नहीं, पर पूर्ण विकसित नागरिक होता था। १४ से १८ वर्ष की आयु में विद्यार्थी ज्यौमिति, साहित्य और कविता की समालोचना करने का ज्ञान अर्जन करता था। अट्ठारह वर्ष की आयु में एथेन्स का नवयुवक दो वर्ष के लिए सैनिक शिक्षा लेता था। कुछ समय बाद यह नियम उठा दिया गया और एथेन्स के नवयुवक अन्य विकसित विद्या या शारीरिक व्यायाम में अपनी प्रतिभा का उपयोग करने के लिए स्वतन्त्र था।

साहित्य

इस स्वतंत्र वातावरण में साहित्य ने सभी दिशाओं में अत्यन्त प्रगति दिखाई। यूनानियों का सबसे प्राचीन साहित्य सूरदास होमर की इलिअड और ओडीस्सी (The Illiad and the Odyssey) है। दरबारी बन्दीजनों (Bards) की पद्य प्रशस्तियों का सबसे उच्च उदाहरण है, "इलिअड और ओडीस्सी"। करीब ५५० ई० पू० इन पद्यों का पुस्तक के रूप में संकलन हुआ। इस पुस्तक में वीरों का आदर, वीरोचित कर्मों के सिद्धान्त, अनुशासन और देशभक्ति के गुणों का सुन्दर चित्रण है। यूनानियों की अति प्राचीन सामाजिक व धार्मिक अवस्था का ज्ञान हमें इसी पुस्तक से मिली है। यूनानी-सभ्यता की नींव का पता हमें इसी ग्रंथ से मिलता है। यूनानी साहित्यिकों को भी महाकवि होमर के इस महाकाव्य से कई विभिन्न दिशाओं में प्रेरणा मिली है। जैसे रामायण और महाभारत प्राचीन भारतीय साहित्य के लिए आदर्श और कथानक के लिए अक्षय समुद्र सिद्ध हुये हैं, उसी

तरह होमर का यह महाकाव्य भी। होमर के गीत यूनानी सांस्कृतिक परम्परा का हृदय है, और यूनानी एकता का जबरदस्त प्रतीक। प्राचीन दार्शनिक विचारों का स्रोत भी यही है, और प्राचीन कलाकार व नाट्यकार होमर के कथानक के ही आधार पर अपनी कला को मूर्तरूप देने में समर्थ हुये थे। यूनानी अपने दैनिक जीवन में होमर के नैतिक सिद्धान्तों को बराबर दुहराते (quote) रहते थे।

होमर के बाद कवि हेसिओड् (Hesiod) का स्थान आता है। हेसिओड् जनता का कवि था, और उसने देवताओं को मनुष्य की तरह चित्रित किया। ईसा से षष्ठी शताब्दी पूर्व कई कवि पैदा हुए जिनके गीतिकाव्य (Lyric poetry) में साधारण मनुष्य की खुशी व रंज का इजहार स्वाभाविक रूप से होता था। आइओनिया निवासी 'सैफो' का इन कवियों में उच्च स्थान है। सैफो स्त्री थी, और अपने गीतों में उसने शारीरिक सौन्दर्य और सरल प्रेम को स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त किया। पिन्डार (Pindar ५१८-४४८ ई० पू०) एक प्रतिभाशाली कवि था। उसकी गीतों में हम राष्ट्रीय उत्सव व खेल-कूद में विजय का उल्लासपूर्ण चित्रण पाते हैं।

साहित्य में एथेन्स की विशिष्ट देन है नाटक, पहले दुखान्त और पीछे सुखान्त। एस्किलिस (Aeschyles) नाटक का पिता कहा जा सकता है। पहले-पहल दो अभिनेताओं के वादाविवाद उसी के नाटक में पाया जाता है। उसके कथानक के आधार प्राचीन कहानियां ही थीं, पर उसने उनमें रीति-रिवाज और वैयक्तिक इच्छाओं में विरोध का चित्रण पाया। रीति-रिवाज का आधार दैवी था। इसलिए पूर्व नाटक धार्मिक विचारों से प्रभावित थे, और इन्हें दुखान्त नाटक कहा जाता था। व्यक्ति की हार निश्चित थी। कुछ समय बाद सॉफोक्लिज (Sophocles ४९६–४०६ ई० पू०) ने तृतीय अभिनेता की रचना की, और अपने नाटक में दृश्य (Scenery) का व्यवहार

शुरू किया। इसके नाटक भी होमर के कथानक पर आधारित थे। एकबार सोफोक्लिज़ के पुत्र ने इस पर यह आरोप लगाया कि यह बूढ़ा होकर गीदी बन गया है इसलिए सम्पत्ति पर उसके पुत्र का अधिकार हो जाय। सोफोक्लिज ने अपनी अप्रकाशित कविता का पाठ किया, और मुकदमा का फैसला उसके पक्ष में हो गया। यूरिपाइडिस (Euripides ४८०-४०६ ई० पू०) पैरिक्लिस-युग का प्रतिनिधि था, और उसके अभिनेता, दृश्य, व कथानक का विषय समकालीन एथेन्स था। उसने भावना और कल्पना-प्रधान प्रेम की कहानियों को अपने नाटकों का विषय बनाया। उसके नाटक कला की दृष्टि में सर्वोपरि है। साम्राज्यवादी, पुरोहित, और अभिमानी धनिकों के विरुद्ध उसने आवाज उठाई। एरिस्टोफेनिज् (Aristophanes, ४४८-३८८ ई० पू०) ने पहले-पहल सुखान्त नाटक लिखा। इन प्रहसनों के द्वारा समाज की कुरीतियों की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता था, और सार्वजनिक जीवन पर कटाक्ष होता था। ये सुखान्त नाटक इतने प्रभावशाली व उत्तेजक होते थे कि ४१४ ई० पू० इनके नाट्यकारों को सार्वजनिक घटनाओं पर आलोचना करना मना हो गया था। योरोपिय साहित्य में एरिस्टोफेनिज़-लिखित The Knight और यूरिपाइडिज़ लिखित The Trojan Women उच्चतम कला के नमूने हैं।

योरप का इतिहास-शास्त्र का आरम्भ में पहले पहल यहीं हुआ। हेरोडोतस् (Herodotus ४८४-४२५ ई० पू०) इतिहासकारों का पिता कहा जाता है। उसने पर्शिया-यूनान-युद्ध का इतिहास क्रमबद्ध लिखा है। उत्तेजक घटनाओं का विवरण के द्वारा ही उसने पाठकों का ध्यान इस विषय पर आकर्षित करने की कोशिश की है। थुसिडाइडिस् (Thucydides) ने समकालीन पेलोपोनेसिअन युद्ध (Peloponnesian War) का इतिहास लिखा है। उसकी कहानी में रोचकता है और स्वाभाविकता की पुट है। जेनोफोन (Xenophon ४३०-३५४ ई० पू०) ने थुसिडाइडिस के इतिहास को

जारी रखा और पशिया साम्राज्य से दस हजार यूनानी सिपाहियों की यात्रा का इतिहास लिखा है। संसार के इतिहास-साहित्य में इन लेखकों ने पथप्रदर्शक का काम किया है।

दर्शन।

संसार यूनानी चिन्तकों व दार्शनिकों का सदैव ऋणी रहेगा। यूनान में स्वतन्त्र बौद्धिक-वातावरण फैला हुआ था। आइओनिया में पुनर्जागृति (Renaissance) की पृष्ठभूमि बौद्धिक स्वतन्त्रता थी या स्वतन्त्र विचारों को पनपने का उचित वातावरण ही था। यूनानी चिन्तकों ने संसार के मूल प्रश्नों का उत्तर अंधविश्वास व धार्मिक जड़ता के दृष्टिकोण से नहीं देखा। इन्होंने इन प्रश्नों का उत्तर अलौकिक व दैवी सिद्धान्तों के आधार पर नहीं वरन् प्रकृति से पाने की कोशिश की। दुनियां क्या है? यहां क्या चीज स्थायी है? सदैव परिवर्तन क्यों होते रहता है? इन प्रश्नों का उत्तर इन लोगों ने प्रकृति से पाना चाहा। इस बौद्धिक प्रयास के कई रूप हुये और तभी ज्योतिष, विज्ञान और दर्शन का विकास संभव हुआ। संसार क्या है, और कैसे बना है, इन प्रश्नों के उत्तर भिन्न २ चिन्तकों ने अलग अलग दिया, इस तरह कई दार्शनिक सिद्धान्त और पद्धति (School) की उत्पत्ति हुई। प्रथम दार्शनिक और वैज्ञानिक एशियामाइनर-तट या उसके समीप के यूनानी प्रायद्वीपों के रहने वाले थे। यहां एशियाई दर्शन व विज्ञान का प्रभाव था और यह बहुत ही लाभप्रद हुआ।

थेल्स (Thales, ६४०-५४६ ई० पू०) ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि पहले सब कुछ जल था, और इसमें चेतन शक्ति थी, इस कारण इसके कई रूप हो सके। इसी ने पहले पहल सूर्यग्रहण ५८५ ई० पू० होगा इसका ठीक भविष्यवाणी किया था। एनाक्जिमेन्डर (६११-५४७ ई० पू०) का यह विचार था कि विश्व का मूलतत्व एक असीम और दैवी पिंड था जिसमें विरोधी गुणों (Opposites) का समावेश था। इन्हीं विरोधी शक्तियों के झगड़े का परिणाम था कुछ शक्तियों का अलग

हो जाना, जैसे पृथ्वी और आकाश इस 'पिंड' से अलग हो गये। जलते हुये गर्म पिंडों को ठन्डी पृथ्वी के चारों ओर घूमते रहना ही विश्व का रूप है। पैथॉगोरस् एक महान् दार्शनिक हो गया है। उसके विचार में विरोध नहीं वरन् अनुरूपता (Harmony) ही विश्व की मूल विशेषता है। ईश्वर प्रकृति में वास करता है। मनुष्य के शरीर में आत्मा है, और आत्मा का यह सतत प्रयास रहता है कि वह अपने मूल में, ईश्वर में, मिल जाय। पवित्र जीवन का अर्थ है स्वस्थ आत्मा। प्रत्येक जीवात्मा इसलिए शरीर के पिंजड़े से मुक्त होकर अनन्त में मिलने की ओर चक्राकार गति में (Circular motion) अग्रसर है। पवित्र जीवन उसका रास्ता सुगम और ध्येय निकट ले आता है। पैथॉगोरस् के सिद्धान्त भारतीय दर्शन और पुनर्जन्म के सिद्धान्त से बहुत मिलते-जुलते हैं। पैथॉगोरस् ने अपने शिष्यों का और सिद्धान्त के माननेवालों का एक संघ कायम किया। योरप में यह पहला धार्मिक-संघ था। पश्चिमी यूनान में ऐसे और भी संघ कायम हुये। ईसाई चर्च का यह अग्रदूत कहा जा सकता है। पैथॉगोरस् और उसके संघ प्रजातन्त्र में विश्वास करते थे; जो सारी प्रकृति को ईश्वरमय देखेगा वह तो प्रजातन्त्र (democracy) का समर्थक होगा ही। अपनी मातृभूमि सेमोस-प्रायद्वीप में इन्होंने प्रजातान्त्रिक क्रान्ति की। पैथॉगोरस्-संघ में भी उसके तर्कसंयुक्त सिद्धान्त के प्रति अंधविश्वास पर जोर डाला गया। कई धार्मिक रस्म (Rituals) का समावेश हो गया। पर पैथॉगोरस् का यह सिद्धान्त कि नैतिक शुद्धता बौद्धिक प्रयास से ही सम्भव है संसार के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। फिलासफी (Philosophy) का अर्थ है बुद्धि से प्रेम (Love of wisdom); पैथॉगोरस् की शिक्षा से ही यह शब्द निकला होगा।

यूनान के दार्शनिकों में सुकरात, (Socrates), प्लेटो और अरस्तू सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। एथेन्स के चिन्तकों के समक्ष अब ये प्रश्न उठ खड़े हुये थे—मनुष्य किस प्रकार सत्य को जान सकता है? ज्ञान क्या

है ? ज्ञान का उपयोग क्या है ? सुचरित्र जीवन क्या है इत्यादि ? इन प्रश्नों पर स्वतन्त्र और भिन्न २ दृष्टिकोण से एथेन्स के दार्शनिक और चिन्तकों ने विचारणा शुरू किया । इस प्रयास में रूढ़िता व अंध-विश्वास, सामाजिक व धार्मिक परम्परा, रीति-रिवाज सभी पर सन्देह होने लगा । प्रत्येक चीज की यथार्थता का माप था बुद्धि को सन्तुष्ट करना । तर्क के बल पर सभी चीजों की तह में ये चले जाते थे, और अलग २ परिणाम पर पहुंचते थे । इनसे सूफी (Sophism) मत का विकास हुआ । ये तार्किक दार्शनिक (Sophists) कहलाते थे । ये शिक्षक का काम करते थे । व्याकरण व भाषण देने की शिक्षा देते थे । इनके संसर्ग में नवयुवक थे, और इन नवयुवकों को ये अपने सिद्धान्तों से प्रभावित करते थे । समाज का संगठन, धार्मिक सिद्धान्त व रीति-रस्म सभी मान्य आधारों पर अब संदेह होने लगा । पवित्र जीवन पर ये लोग जोर देते थे ।

सुकरात (Socrates) सबसे बड़ा Sophist था । वह बुद्धि का हामी था । प्रत्येक वस्तु या विश्वास को बुद्धि की कसौटी पर जांचता था । उसका तरीका था सवाल करते जाना । साधारणतः लगातार प्रश्नोत्तर के द्वारा प्रत्येक नवयुवक के विश्वास व रूढ़ियों के प्रति आस्था को वह डोला देता था । नवयुवक सामाजिक नियमों की उपयोगिता में संदेह करने लगे । परम्परा से आते हुये धार्मिक विचार, सामाजिक संगठन, पारिवारिक सम्बन्ध की उपादेयता और औचित्य में उन्हें संदेह होने लगा । स्थिर-स्वार्थ के पोषकों ने इस हवा को विघातक समझा और सुकरात को एथेन्स के नवयुवकों को गुमराह करने के अपराध में कारावास मिला और अन्त में विषपान कराकर उसकी हत्या की गई । सुकरात ने मरना स्वीकार किया पर अपने विश्वास को छोड़ना उसे मंजूर नहीं था । सत्य और विश्वास की बलिवेदी पर रूढ़िवादियों और स्थिर-स्वार्थों के विरोध के कारण सुकरात अमर-शहीद हो गये । उसके ये अन्तिम वचन 'मैं अपने

रास्ते पर हूं, और तुम लोग अपने रास्ते पर, कौन उत्तम है भगवान जाने", प्रत्येक मनुष्य को अपने भविष्य के लिए सोचने को प्रेरित करता रहेगा।

प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) विश्व का एक महान दार्शनिक है। और यह सुकरात का शिष्य था। भिन्न २ विचारों, भावनाओं की गड़बड़ी के विरुद्ध उसने विश्व-नियम के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। ईश्वर परमात्मा है और पवित्रता और गति का मूल स्रोत। विश्व और मानव ईश्वरीय ज्योति से अनुप्राणित है, और निष्कलुष बुद्धि विश्व-नियम की चालक है। मनुष्य का कर्त्तव्य है ज्ञानोपार्जन, तभी उसे सत्यं शिवं सुन्दरं की प्राप्ति होगी। पर यह कुछ चुने आदमियों के लिए सम्भव है। साधारण मनुष्य को अपने दैनिक-जीवन में पवित्र विचार व उचित कर्म पर ध्यान देना चाहिये। 'न्याय, साहस और सहनशीलता मनुष्य के पवित्र गुण हैं। शिक्षा के माध्यम से साधारण मनुष्य पवित्र जीवन बिताने के योग्य हो सकता है। इस तरह जाति की नैतिक प्रगति होगी। सत्य और सुन्दर की प्राप्ति आदर्श राज में ही सम्भव है, और इस राज्य का संचालक दार्शनिक ही हो सकता है। इस तरह प्लेटो ने दार्शनिक-राजा का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसकी महान् पुस्तक रिपब्लिक (Republic) में, इसने समाज का संचालन व नियन्त्रण के लिए शिक्षा जरूरी है और उचित शिक्षा योग्य मनुष्यों को ही मिलनी चाहिये, इन सिद्धान्तों की व्याख्या की है। योरप में सामाजिक संगठन पर इसी पुस्तक में पहली बार विचार किया गया है। प्लेटो प्रजातन्त्र पर विश्वास नहीं करता था, बल्कि शिक्षित वर्ग पर ही राज्य का भार दे डालने का पक्ष लेता था। प्लेटो के दार्शनिक और राजनीतिक विचारों ने योरोपीय दर्शन और राजनीति-विज्ञान पर गहरा प्रभाव डाला है।

अरस्तू (Aristotle ३८४-३२२ ई० पू०)

यह प्लेटो का शिष्य था। सिकन्दर का गुरु था। यह तर्कशास्त्र (Logic) का पिता कहा जाता है। राजशासन के विषय में इसका मत था कि विधान के तीन मूल रूप हैं—एकतन्त्र, श्रेणीतन्त्र और प्रजातन्त्र, और तीन विकृत रूप हैं, निकुरंश शासन, गुटतन्त्र और जनतन्त्र (Mob-rule)। अरस्तू का यह मत था कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिए राज का संगठन अनिवार्य है, और राज्य का विकास मनुष्य की भलाई के लिए हुआ है। अच्छा और बुरा राज्य जनता के गुणों पर निर्भर करता है। जनता जैसी होगी, वैसा ही शासक होगा। प्रत्येक विधान की अच्छाई और बुराई उसके शासक के गुण पर निर्भर करती है। यदि बुद्धिमान और भला आदमी राजा बना तो एकतन्त्र सबसे उत्तम राज-विधान है, अन्यथा बहुत ही बुरा। अरस्तू का यह मत था कि साधारण परिस्थिति में मध्यमवर्ग, पूंजीपति और जमींदारों के द्वारा शासन अति उत्तम है। मजदूरों का शासन इनके ख्याल में सबसे बुरा था। क्रान्ति का कारण था भिन्न २ वर्गों के स्वार्थों में झगड़ा। निम्नवर्ग की उच्चवर्ग के प्रति घृणा और रंज क्रान्ति को निमन्त्रण देता है। इसलिए राजा को बराबर क्रान्ति रोकने की चेष्टा करनी चाहिये।

विज्ञान

जब संसार को समझने में अन्धविश्वास और पौराणिक रहस्यों (Mythology) को छोड़ कर बुद्धि का प्रयोग होता है, तब स्वतन्त्र वातावरण में इस बौद्धिक क्रान्ति का सबसे प्रभावशाली परिणाम होता है विज्ञान का विकास। पैथोगोरस् (५८२-५०७) ने यह प्रमाणित किया कि समकोण त्रिभुज के दो भुजाओं पर के वर्ग का जोड़ कर्ण के वर्ग के बराबर होंगे। गणितशास्त्र पैथोगोरस् का सदा आभारी रहेगा। थेल्स ने ज्योमिति में सरलरेखा और बिन्दु की परिभाषाएं बताईं।

हिपोक्रेटिज (Heppocrates ४३० ई० पू०) ने पहली ज्योमिति-पुस्तक लिखी। प्लेटो के नेतृत्व में ज्योमिति में काफी प्रगति हुई।

ज्योतिष, भौतिकविज्ञान, (Physics) और रसायनविज्ञान (Chemistry) में यूनानियों ने काफी प्रगति दिखाई। इन्होंने ग्रहण और उल्कापात का वैज्ञानिक आधार का पता लगाया। एनाक्सिमेन्डर का यह विचार था कि पृथ्वी शून्य में टिकी है, और उसके चारों ओर ग्रह-उपग्रह हैं। पृथ्वी गोलाकार है, यह पैथागोरस् का ही विचार था। पृथ्वी से सूर्य और और चन्द्रमा की दूरी का अन्दाजा लगाया गया था, और एनाक्सिमेन्डर ने यह सिद्ध किया कि सूर्य चन्द्रमा से सताइस गुणा बड़ा है। इन प्राचीन वैज्ञानिकों ने दो प्रकार की गति (Motion) का पता लगाया, सीधी (linear) और चक्राकार (Circular)। प्राचीन यूनानी विद्वानों ने यह समझा था कि भूकम्प पहाड़ों के गिरने से होता है, और सूखी जमीन पहले समुद्र से आच्छादित थी। हेरोदोतस् का यह कहना था कि नदियों के द्वारा लाई हुई मिट्टी पहाड़ों की ही थी। भूगोल का ज्ञान परिमित था। एनाक्सिमेन्डर ने यूनानी संसार का पहला नक्शा बनाया था। हेकाटिअस् (Hecataeus) का विचार था कि संसार में दो महादेश हैं, योरप और एशिया। हेरोदोटस् ने अफ्रिका को तृतीय महादेश मानने के पक्ष में कई युक्तियाँ दी थीं। एनाक्सिगोरस् ने भिन्न २ जलवायु होने के कारण पृथ्वी को अपनी धुरी पर झुका रहना बताया। थेल्स ने पहले पहल सूर्य ग्रहण का ठीक भविष्यवाणी किया।

जीव-शास्त्र और शरीर-विज्ञान में भी यूनानियों ने काफी छान-बीन किया। मनुष्य की उत्पत्ति मछली से हुई, ऐसा एनाक्सिमेन्डर का मत था। शरीर-रचना-शास्त्र (Anatomy-treatise) की पहली पुस्तक Diogenes ने पाँचवीं शताब्दी ईसा-पूर्व में लिखी। औषधिशास्त्र (Medicine) में भी प्रगति हुई। मिश्र के स्कूलों के आधार पर यूनान में भी औषधि-विज्ञान के स्कूलों की उत्पत्ति हुई। प्रत्येक रोग के निवारण के लिए विशेष औषधि की खोज होती रही।

औषधिशास्त्र के वैज्ञानिकों में अल्कमेन (Alcmaeon) का नाम स्मरणीय है। हिप्पोक्रेटिस् औषधि-विज्ञान का पिता कहा जाता है। उसने ६०-७० कीताबें इस विषय पर लिखी हैं। उसका विचार था कि कफ, पित्त (काला और पीला) और रक्त के उचित अनुपात की गड़बड़ी से ही रोग की उत्पत्ति होती है, और इस का निदान है उचित अनुपात को फिर से स्थापित करना। गन्दी हवा, गन्दा और बंधा पानी रोगों के कारण समझे गए। मैलेरिया का इलाज पर अधिक ध्यान दिया गया। वर्षा का पानी उबाल कर पीना स्वास्थ्य के लिए लाभदायक बताया गया। शहर की सफाई और गन्दा पानी को निकालने का प्रबन्ध पर जोर डाला गया। रोग को हटाने में अतिरिक्त खून को निकालना, भोजन पर नियंत्रण, जुलाब इत्यादि का व्यवहार किया जाता था। एक औषधि-विशेषज्ञ का यह विचार था कि ज्वर रोग नहीं, वरन् रोग का एक लक्षण है। मिर्गी को भूत-पिशाच या दैवी-प्रकोप नहीं वरन् दिमाग का रोग समझा गया। आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र और विज्ञान ने प्राचीन यूनानी विचारों को बहुत अंशों में मान लिया है।

विश्व को यूनान की देन

विश्व-साहित्य और कला यूनान का सर्वदा आभारी रहेंगे। यूनानी उनके मूर्तिकला और नाटक कला और साहित्य के विकास में आजतक पथ-प्रदर्शक और आदर्श के नमूने माने जाते हैं। आधुनिक चिकित्सा, ज्योतिष और गणित की उन्नति यूनानी विशेषज्ञों और वैज्ञानिकों की की खोज की नींव पर ही सम्भव हो सकी है। योरोपीय दर्शन पर प्लेटो और अरस्तू का अमिट प्रभाव है। राजनीति में इनका व्यावहारिक प्रजातन्त्र और नागरिकों का विधान व देश के प्रति अटूट प्रेम ने वर्तमान कांस्टेंव और राष्ट्रीयता पर अत्यन्त प्रभाव डाला है। पर्शिया पर विजय प्राप्त कर यूनान ने योरोप की सभ्यता की स्वतंत्रधारा को जीवित

रक्खा। सिकन्दर महान् ने योरप में विश्व-साम्राज्य और निरंकुश राजतंत्र भी ले आया। रोम का साम्राज्य बहुत अंशों में इस आदर्श का व्यावहारिक रूप ही था। सच पूछा जाय तो योरप का इतिहास और योरोपीय संस्कृति को यूनान की संस्कृति का इतिहास जाने बिना समझना नामुमकिन है।

रोम की सभ्यता

१

इटैली यूनान से बड़ा है। भूमध्यसागर के मध्य में स्थित रहने के कारण इटैली को भिन्न २ संस्कृतियों से सम्बन्ध होने की सुविधा मिली। क्रीट प्रायद्वीप पर जब यूनानियों का अधिकार हो गया तब प्राचीन क्रीटवासी इधर-उधर बिखर गये। एशियामाइनर और मिश्र के तट पर इनलोगों का दबाव पड़ा। कुछ उत्साही जत्थे इटैली भी पहुँच गए होंगे। इट्रुस्कन (Etruscuns) लोग उत्तर इटैली पर अपना अधिकार जमा चुके थे। ये लोग यहाँ शायद एशिया-माइनर से आये थे। इनकी सभ्यता पूर्वीय-सभ्यताओं से प्रभावित थी। यूनानी उपनिवेशों के फैलाव को रोकने के लिए इट्रुस्कन दक्षिण की ओर भी बढ़े, और नेपुल्स पर अपना सिक्का जमा लिया। इटैली के समीप के प्रायद्वीपों में और दक्षिण इटैली के कुछ भाग में यूनानी उपनिवेश व यूनानी संस्कृति प्रवेश पा चुके थे। अतः इट्रुस्कन और यूनानी दो सांस्कृतिक धाराओं से इटैली प्रभावित था। रोम की सभ्यता के विकास में इस दृष्टिकोण को नहीं भूलना चाहिये। इट्रुस्कनों ने इटैली का आर्थिक विकास में बहुत भाग लिया। अंगूर और गेहूं के अच्छे किस्म का प्रवेश हुआ। लोहे के हथियारों का प्रयोग मालूम हो गया। अच्छे मंदिर और योजनानुकूल नगरों का निर्माण किया गया। उनकी शक्ति दिनोंदिन बढ़ती ही गई।

इट्रुस्कनों की बढ़ती शक्ति की प्रतिक्रिया में ही रोम का उदय हुआ। दो-हजारवीं सदी ईसा पूर्व में पूर्वीय आल्प्स के पहाड़ों को लांघ कर आर्यों का आगमन इटैली में हुआ। इनमें लैटिन और सैबाइन दो प्रमुख जातियां थीं। आर्यों का विस्तार इट्रुस्कनों के स्वार्थ

के विरुद्ध ही था। ७५३ ई० पू०, अलबन पहाड़ियों के अंचल में टाईबर नदी के दक्षिण कूल पर रोम की नींव दी गई। शायद सात गाँवों का संगठन कर ही रोम शहर की उत्पत्ति हुई। यहाँ से कई सड़कें निकलीं, जिससे कि अड़ोस-पड़ोस से रोम का संबंध स्थापित हो गया।

रोम में पहले राजतंत्र था, और सभ्यता कृषि पर आधारित थी। एक भला आदमी सफल किसान ही समझा जाता था। रोम पर इट्रस्कनों का अधिकार हो गया, और उनके राजा दुराचारी और अत्याचारी निकले। इनलोगों के राज्यकाल में सेना का सुधार हुआ, कुलीन-श्रेणी वर्ग को सेना और राज्य में विशेषाधिकार मिला। निम्नवर्ग (Plebian) को सेना में नीचा स्थान मिला। दासप्रथा और बेगारी-प्रथा का समाज में प्रवेश हुआ। श्रेणीवर्ग (Patrician) और निम्नवर्ग (Plebian) का झगड़ा, दासप्रथा का समाज का आर्थिक आधार बन जाना, रोम के इतिहास के प्रमुख कारणभूत (Leading-Motives) है, और इसके लिए इट्रस्कन्-युग कम उत्तरदायी नहीं है। ईसा से षष्ठी शताब्दी पूर्व में इस राज्यकुल का नाश कर दिया गया और रोम में प्रजातंत्र (Republic) स्थापित हुआ। विधान में एक राजा के स्थान में दो मैजिस्ट्रेट (Consul) बने, और प्रत्येक को सेना का नेतृत्व करने का अधिकार था। इनको सलाह देने के लिए एक सिनेट थी, और यह कुलीन-वर्ग (Patrician) की सभा थी। राज्य-शासन में इन्हीं का सर्वाधिक अधिकार था। धर्म और अलिखित कानून के संरक्षक यही थे।

२

इन अल्पसंख्यक कुलीनों का राजतन्त्र, कानून, और धर्म पर एकाधिकार बहुसंख्यक निम्नवर्ग (Plebians) नहीं सह सकता था। प्लेबियनों को सभी प्रकार की असुविधा थी, और पेट्रिशियन उनका शोषण

में ही अपनी स्वार्थसिद्धि देखते थे। प्लेबिअनों ने राज्य पर अपना अधिकार प्राप्त करने के लिए आन्दोलन शुरू किया। खून-खराबी भी हुई, पर कम। पेट्रिशिअनों ने धीरे २ इनकी मांगों को मानना स्वीकार किया। यह वर्ग-युद्ध बहुत दिन तक, अढ़ाई सौ वर्ष तक चला, और इस लम्बी अवधि में इस युद्ध के कई विश्रामस्थल हैं। पर अन्त में प्लेबिअनों की ही विजय हुई। प्लेबिअनों का अमोघ अस्त्र था, युद्ध में उनकी सहायता की अनिवार्यता। जब पेट्रिशिअनों को दुश्मनों का मुकाबिला करना पड़ता तब वे बहुसंख्यक प्लेबिअन सैनिकों की मदद चाहते, और प्लेबिअन इस अवसर का लाभ उठा कर अपनी मांगों की पूर्ति चाहते। सत्ताधारी पेट्रिशिअनों को झुकना पड़ता। ट्रिब्यूनेट पद की स्थापना हुई, इस पद पर नियुक्त अफसर का काम था प्लेबिअन के हितों की रक्षा करना, गरीब किसानों को गुलामी से मुक्त करना। ४५० ई० पू० कानून का पहला संकलन हुआ (Twelve Tables) जिससे प्लेबिअन अपने अधिकार को जान सके, और पेट्रिशिअन कानून की अवज्ञा कर उनपर अत्याचार करने से वंचित हो गये। कानून को भी नर्म किया गया। प्लेबिअन को सभा को अपील सुनने का हक मिला। यदि सिनेट की स्वीकृति मिल जाय तो इस सभा के प्रस्ताव कानून बन सकते थे। प्लेबिअन और पेट्रिशिअन का विवाह सम्बन्ध कानूनी करार दिया गया। इससे आपसी कटुता का कम होना स्वाभाविक था। धीरे २ सभी मैजिस्ट्रेट के पदों पर प्लेबिअन की नियुक्ति होने लगी। सिनेट में भी इनका प्रवेश हो गया। यह विजय की अन्तिम सीढ़ी थी। प्लेबिअनों की सभा को कानून बनाने का हक मिल गया (२८७ ई० पू०)। श्रेणीवर्ग और निम्नवर्ग अब कंधे से कंधे मिलाकर रोम की उन्नति करने लगे।

२

जब कि वर्ग युद्ध चल रहा था, उसी समय रोम को दुश्मनों से लड़ना पड़ रहा था। रोम ने लैटिन-एकता स्थापित की और इट्रस्कनों

और पहाड़ी जातियों के दोतरफा आक्रमण से रक्षा करने में समर्थ हुआ। आल्पस् पार कर गौलों (Gauls) ने इटैली पर आक्रमण किया, पर रोम के नेतृत्व में इन्हें भी पराजय मिली। पर रोम जल चुका था, उसका कोष खाली हो गया था। पर रोमनों ने अजीव पुनर्जीवन की शक्ति दिखाई और देखते देखते रोम फिर और भी शक्तिशाली और समृद्ध खड़ा हो गया। रोम की बढ़ती शक्ति का जोर पूरे इटैली पर पड़ा। रोम ने धीरे २ सारे इटैली को अपने अधिकार में कर लिया। इटैली की रीढ़ पर स्थित रोम को प्रत्येक दिशा में बढ़ने की सुविधा थी। जब कि यूनान में एथेन्स और स्पार्टा ऐसे प्रभावशाली राज्य राजनीतिक एकता नहीं स्थापित कर सके थे, इटली में रोम ने यह कमाल कर दिखाया। भौगोलिक सुविधा ही नहीं वरन् राजशासन में अनुपम कौशल के कारण ही रोम राजनीतिक एकता स्थापित कर सका। नर्म नीति और समझौता करने के लिए बराबर तैयार रहने की नीति को अपना कर रोम ने साम्राज्य-स्थापकों के लिए पथप्रदर्शक का काम किया है। रोम विजित प्रदेशों पर स्थायी विजयी-सेना नहीं रखता था, पर वह महत्वपूर्ण स्थानों में रोमन किसान-सैनिकों का उपनिवेश स्थापित करता था। ये उपनिवेश रोम से कई बंधनों से बंधे रहते थे और रोम के हितों की रक्षा में अपना स्वार्थ समझते थे। पूरा इटैली जब रोम के अधिकार में आ गया तो रोम के नेतृत्व में संघ-राज्य की स्थापना हुई, और इस संघ के सदस्य-राज्य कई दर्जे के थे। पर सभी की आँखें रोम पर गड़ी रहती थीं। इनके पारस्परिक सम्बन्ध रोम के द्वारा ही परिचालित होता था।

लगभग पचास वर्ष के लगातार युद्ध के बाद ही रोम समूचे इटैली को एक राजनीतिक-सूत्र में बांध सका था। इस लगातार लड़ाई का परिणाम रोम की आबादी और तत्कालीन आर्थिक स्थिति पर बहुत ही बुरा पड़ा। कृषि की हानि हुई। गरीब छोटे किसानों का सबकुछ

स्वाहा हो गया। अन्नाभाव का सामना करना पड़ा। खेतिहर मजदूरों की संख्या बढ़ गई, और उन्हें रोजी मिलना मुश्किल था। भाग्य से नये उपनिवेशों की स्थापना होने लगी, और इन बेरोजगार खेतहीन मजदूरों को सहारा मिला। अपनी आन्तरिक समस्याओं के समाधान की खोज में रोम को साम्राज्यवाद का पथ अपनाना पड़ा। यदि रोम साम्राज्यवादी नहीं हो जाता, यदि नये देश व उपनिवेश जीत कर राज्य-विस्तार नहीं करता तो दरिद्र व बेरोजगार जनता की क्रान्ति का शिकार बन जाता और राजनीतिक एकता नहीं टिक सकती थी। पनपने के पहले ही रोम तबाह हो जाता। साम्राज्य-विस्तार के अलावे जन-कार्य विभाग ने काफी मुस्तैदी दिखायी। सड़कें बनने लगीं, चौर-आहूर का पानी निकाल कर खेती के योग्य जमीन बनाया जाने लगा, और शहर को सुन्दर भवनों से सजाया जाने लगा। लोगों को इस प्रकार रोजी मिलने लगी, राज्यशक्ति संचालन में सड़कों से बहुत सहायता मिली, और कृषि और व्यापार में उन्नति हुई। इन सड़कों से सारा इटैली आच्छादित हो गया। रोम की सेना का आवागमन, अफसरों की अदली-बदली और सबसे महत्वपूर्ण रोम की सभ्यता का विस्तार व राष्ट्रीय एकता के विकास में इन सड़कों ने बहुत लाभ पहुँचाया। तभी तो सभी सड़कें रोम की ओर ले जाने लगी (All Roads lead to Rome.)। सारा इटैली प्रत्येक दिशा में रोम का मुँह जोहता रहा।

४

रोम और कार्थेज

पूर्वीय भूमध्यसागर में यूनानी सभ्यता फैली हुई थी। सिकन्दर के मरने के बाद उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। न यूनान में, और न एशिया या अफ्रिका में कोई यूनानी राज्य इस योग्य था कि यूनानी संसार को एक राजनीतिक सूत्र में बांधे। पर यदि राजनीतिक एकता

का अभाव था और पारस्परिक झगड़े भी होते रहते थे, सांस्कृतिक एकता तो थी ही। यूनानी भाषा, राजशासन पद्धति, कला और साहित्य को इन विजित देशों या उपनिवेशों ने दौड़ कर अपनाया। मिश्र में एलेक्जेन्ड्रिया यूनानी सभ्यता का एक केन्द्र बन गया था।

पर पश्चिम भूमध्यसागर के क्षेत्र में यूनानी संस्कृति का यह दबदबा नहीं था। उत्तरी अफ्रिका के तट पर स्थित कार्थेज, और इटैली में रोम यूनानी सभ्यता के प्रभाव से लगभग अछूते ही थे। सिसली के पूर्वीय भाग में यूनानी उपनिवेश स्थापित हुये थे। पर पश्चिम सिसली पर कार्थेज का अधिकार था। कार्थेजवासी एशियामाइनर तटस्थित फिनिशिअनों से सम्बन्ध रखते थे। इनकी सभ्यता एशियाई सभ्यता थी। व्यापार में कार्थेज-प्रतिभा का खूब विकास हुआ था। अफ्रिका में लिबियनों पर इन्होंने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। दक्षिण स्पेन भी उनकी प्रभुता के क्षेत्र में था। उनका विस्तृत-साम्राज्य जलशक्ति पर आधारित था। उनकी यह इच्छा बराबर रही कि पूरे सिसली पर उनका अधिकार हो जाय। व्यापार की दृष्टि से सिसली की स्थिति महत्वपूर्ण है। पूर्वीय भूमध्यसागर पहुंचने का यह अच्छा द्वार था। उनके प्रथम प्रयास यूनानियों के विरोध के कारण असफल रहे। पर यूनानी बराबर आपस में ही झगड़ते रहे। यही कार्थेज के लिए सुअवसर था। सिसली के अधिक भाग पर कार्थेज का अधिकार हो गया, सिर्फ उत्तर-पूर्व कोने पर सेराकूस (Seracuse) बचा रहा। सेराकूस का राजा हाइरो (Hiero) ने मेस्साना पर आक्रमण किया। मेस्साना उत्तर-पूर्व के आखिरी कोने पर स्थित था। मेस्साना के एक दल ने कार्थेज से मदद मांगी (२६६ ई० पू०)। पर मेस्साना के दूसरे दल ने रोम से सहायता की याचना की। यही प्रथम प्यूनिक-युद्ध, कार्थेज-रोम की लड़ाई का कारण है। रोम की बढ़ती शक्ति कार्थेज को घातक मालूम हो रही थी, और रोम की आर्थिक

परिस्थिति उसे साम्राज्य विस्तार के लिए प्रेरित कर रही थी। सिसली रोम और कार्थेज के मध्य में है। इसी अखाड़े पर इनका दंगल होना स्वाभाविक था।

यह लड़ाई कई वर्षों तक चली। कार्थेज को अपने समुद्री बेड़े पर नाज था। रोम को तो इसका वस्तुत: अभाव था। पर जल्दी में अनुभवहीन रोमनों ने जो मामूली जंगी जहाज बनाये उसके द्वारा उन्होंने अनुभवी कार्थेज के जहाजियों के दांत खट्टे कर दिये। रोम का महान् सेनापति रेगूलस् (Regulus) ने अफ्रिका पर आक्रमण कर दिया। कार्थेज नगर स्वयं आपद्ग्रस्त था। पर रेगूलस् की हार हो गई, और वह पकड़ा गया। लड़ाई चलती रही, रोम का जहाजी बेड़ा बर्बाद हो गया। पर रोम का उत्साह नहीं मिटा, और सिसली पर उसका अधिकार बना रहा। अन्त में २४१ ई० पू० सन्धि हुई जिसके अनुसार कार्थेज ने सिसली पर से अपना दावा उठा लिया और रोम को करीब ७० लाख रुपये हर्जाना देना मञ्जूर किया।

पर वह सन्धि क्षणिक थी। कार्थेज और रोम के बीच अन्तिम फैसला होना बाकी था। कार्थेज का अधिकारी हैमिल्कार रोम से युद्ध की पुनरावृत्ति चाहता था। स्पेन में कार्थेज ने पुनः शक्ति स्थापित करने की चेष्टा की। मार्सेलि (Marseilles) में यूनानी उपनिवेश बहुत दिनों से था, और यहां के व्यापारियों को रोम से मित्रता थी। कार्थेज ने मार्सेलि पर अपना अधिकार जमाना चाहा। अन्त में मार्सेलि और कार्थेज की सीमा निर्धारित की गई। पर जब हैन्निबाल कार्थेज का स्वामी हुआ तो बात बिगड़ने लगी। रोम भी कार्थेज का स्पेन में घुस आना पसन्द नहीं करता था। रोम ने एक स्वतन्त्र नगर सगुन्तुम (Saguntum) से मित्रता की। सगुन्तुम कार्थेज के प्रभाव-क्षेत्र में था। हैन्निबाल ने आक्रमण कर इस शहर पर कब्जा कर लिया। रोम ने कार्थेज से हैन्निबाल का आत्मसमर्पण की मांग की। परिणाम था कार्थेज-रोम की दूसरी लड़ाई का आरम्भ (२१८ ई० पू०)।

हैन्निबाल ने इटली पर सीधा आक्रमण कर रोम पर अधिकार करने की योजना बनाई। मुट्ठी भर वेतन भोगी सैनिकों से वह रोम की देशभक्त और बड़ी सेना को चुनौती देने जा रहा था। हैन्निबाल संसार के प्रसिद्ध सेनानायकों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यह लड़ाई बहुत वर्षों तक चली। पहले रोम की हार हुई और रोम पर हैन्निबाल का धावा की आशंका बहुत बढ़ी। पर रोम बच गया। १४ वर्ष तक हैन्निबाल इटली में डटा रहा। पर अन्तिम विजय उसे न मिली। रोम ने आत्मविश्वास और स्फूर्ति नहीं छोड़ी। रोम की सेना स्पेन में सफलतापूर्वक डटी रही और हैन्निबाल को घर से मदद मिलना दूभर हो गया। इधर रोम को सिपिओ (Scipio) के ऐसा योग्य सेनापति मिल गया। सिपिओ ने अफ्रिका पर आक्रमण किया और जामा (Zama) की लड़ाई (२०२ ई० पू०) में कार्थेज की बुरी तरह हार हुई। हैन्निबाल ने अपने देशवासियों को सन्धि करने की सलाह दी। कार्थेज ने करीब २० करोड़ रुपया पचास किश्त में हर्जाना देना स्वीकार किया। उसका जहाजी-बेड़ा जला दिया गया; उसने विजित देशों पर अपना दावा त्याग गया। युद्ध और सन्धि करने का अधिकार-वैदेशिक नीति—रोम की सरकार के अधिकार में आ गया। सच पूछो तो कार्थेज रोम का आसामी बन गया। हैन्निबाल ने कार्थेज की निःस्वार्थ सेवा की, और एक सच्चे देशभक्त बन कर कार्थेज में राजनीतिक और आर्थिक सुधार किया। कार्थेज फिर उठ खड़ा होने लगा, पर रोम की आँखें इस ओर से हटी नहीं थी। हैन्निबल का आक्रमण भूला नहीं था, और कार्थेज का भय बना था। इसलिए प्रसिद्ध वक्ता कैटो (Cato) सिनेट में अपने सभी भाषणों का अन्त "कार्थेज को नेस्तनाबूद कर ही देना चाहिये" (Carthage must be despoyed) इसी वाक्य से करता था। अन्त में

कार्थेज को न्यूमिडियनों के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा और रोम ने इस अवसर का फायदा उठाया। कार्थेज पर सन्धि तोड़ने का आरोप लगाया गया और रोम-कार्थेज की तीसरी लड़ाई शुरू हो गई। तीन वर्ष तक लड़ाई चलती रही और १४६ ई० पू० में कार्थेज को बिल्कुल बर्बाद कर दिया गया। कार्थेज अब रोम साम्राज्य का एक प्रांत बन गया और इस प्रांत का नाम अफ्रिका हो गया।

रोम और कार्थेज का युद्ध का परिणाम बहुत महत्वपूर्ण है। दूसरी प्यूनिक लड़ाई संसार के सभी लड़ाइयों में सदैव के लिए सबसे महत्वपूर्ण समझी जाती है। अभीतक रोम ने इटैली को अपने अधिकार में किया था, और इटैलियन जातियों से उसने मित्रता का व्यवहार रखा था। मित्रता के कई दर्जे थे। पर रोम इटैलियनों को दोस्त बनाने की फिक्र में था। पर सिसली पर जब अधिकार हो गया तब रोम ने दूसरा ही रूप दिखाया। सिसली को मित्र-राष्ट्र न मानकर विजित-प्रदेश और सिसलीनिवासियों को विजित-प्रजा समझा गया। सिसली का आर्थिक शोषण राजनीतिक बन्धन के द्वारा ही सम्भव हुआ। इटैली में अंगूर की लताएं व जैतून के पेड़ फैल रहे थे। अन्न-उपजाऊ जमीन की कमी हो रही थी। व्यापार की दृष्टि से शराब और तेल की उन्नति रोकी नहीं जा सकती थी। पर अन्न की कमी को दूर करना जरूरी था। इसलिए सिसली रोम के लिए अन्न का भण्डार बन गया। वहां से अन्न लूट कर या कर के रूप में इटैली ले आया जाता। इससे इटैली में उपजे गेहूं का दाम कम हो गया, और वहां किसानों की समस्या विकट हो गई। सिसली से कर-वसूली के निरीक्षण के लिए रोम से मैजिस्ट्रेट (Quaestor) भेजे जाने लगे। विजित प्रदेशों का मैजिस्ट्रेटों द्वारा शासन शुरू हो गया। रोम की साम्राज्य-वृद्धि की तृष्णा तीव्रतर होती गई। जामा के युद्ध में विजय के बाद रोम अभिमानी हो गया, और कमजोर राष्ट्रों और विजित प्रदेशों से उसका व्यवहार उद्दण्डता और स्वार्थपरता से पूर्ण हो

होने लगा। दुनिया रोम का आदर नहीं, वरन् भय करने लगी। रोम परतन्त्रता की बेड़ी पहनाने वाला बन गया।

रोम के इस स्वभाव-परिवर्तन का प्रभाव इटैली पर भी पड़ा। जब लगभग सारा इटैली हैनिबाल के पैर के नीचे पड़ा था, रोम ने अदम्य उत्साह और आत्मविश्वास से अपने को ही नहीं वरन् सारे इटैली को बचा लिया। अब इटैली के राज्य रोम के मित्र नहीं, वरन् आसामी बन गये। इटैली रोम का विजित प्रदेश ही रह गया। दुनिया रोम और इटैली को अब एक समझने लगी।

रोम के उच्चवर्ग की सभा—सिनेट का प्रभाव राजशासन पर और भी दृढ़ हो गया। वैदेशिक नीति, युद्ध और शान्ति करने का अधिकार, और विजित प्रदेशों का शासन प्रबन्ध का भार सिनेट पर था। प्यूनिक-युद्ध में सिनेट ने सफल नेतृत्व किया था। लोकसभा विधान की दृष्टि में प्रभुत्व की अधिकारी थी, पर वस्तुतः सिनेट कर्त्ताधर्त्ता बन गया था। इस तरह उच्चवर्गों का राजशासन पर अधिकार हो गया और इनका फायदा उन्हें आर्थिक क्षेत्र में मिला। गरीब किसान युद्ध में संलग्न थे, और उनके खेत अमीरों के पास चले गये। कुछ अमीरों की मुट्ठी में धन का संचय हो गया, गरीब और भी गरीब हो गये। मुट्ठी भर धनी लोग सिनेट के सदस्य थे और इस तरह राजनीतिक-यंत्र का अपने हित में व्यवहार करते थे। विजित प्रदेशों का शोषण करने वाले बहुत जल्दी धनी बन गये, और इस तरह ठीकेदारों का (प्रान्तों में कर या अन्न की वसूली करने का ठीका लेने वाले) एक नया शोषक-वर्ग पैदा हो गया। पीछे चलकर सिनेट के गुटतन्त्र का इस वर्ग ने विरोध करना शुरू किया।

इस युद्ध का एक और परिणाम था रोम का यूनानी सभ्यता से प्रत्यक्ष संसर्ग होना। सिसली में यूनानी उपनिवेश स्थापित थे—उनके साथ रोम का सम्बन्ध हो गया। दूसरी प्यूनिक-लड़ाई में यूनानी राज्यों से भी

सम्बन्ध हो गया। इस तरह रोम यूनानी सभ्यता के संसर्ग में आ गया। पर यह यूनानी-सभ्यता पेरिक्लिस्-युग की परिपक्व रचनात्मक सभ्यता नहीं थी। इस समय समय के फेर या परिस्थितियों के कारण यूनानी सभ्यता अवनति पर थी। बनावटी हाव-भाव, नकल, कीमती फैशन, और सामाजिक कुरीतियां ही स समय की यूनानी सभ्यता के प्रमुख अंग बन गये थे। रोम ने इस सभ्यता को दौड़कर अपनाया। यूनानी कला, साहित्य नाटक या कविता और दर्शन की तुलना में रोमन अपने को असभ्य समझते थे। यूनानी ड्रामा, सुखान्त या दुखान्त, का अनुवाद होने लगा। अमीर इन नाटकों के अभिनय के लिए साधन जुटाने लगे। यूनानी स्वच्छन्दता और अनुशासनहीनता रोमनों को प्रभावित करने लगी। रोमनों का चरित्र इस प्रभाव के परिणाम स्वरूप बदलने लगा। नैतिक आदर्शों का पतन हो गया; कठोर नियमों की अवहेलना होने लगी, समाज के बंधन ढीले पड़ गये।

५

जिस समय रोम में यूनानी आचार-विचार फैल रहे थे, उसी समय रोम का राजनीतिक व सैनिक प्रभाव यूनानी संसार पर स्थापित हो रहा था। एड्रियाटिक-समुद्र में डाकुओं का उत्पात रोम ने बन्द कर दिया था, इससे यूनानी राज्य, एथेन्स प्रभृति सभी, बहुत कृतज्ञ थे, और उनने रोम को यूनानी राष्ट्रीय खेल-कूद में निमंत्रण दिया था। इस समय रोम यूनानी-संसार पर अपना प्रभुत्व जमाने को नहीं सोच रहा था। पर परिस्थितियां ऐसी उपस्थित होती रहीं कि रोम को अपनी इज्जत और अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए यूनानी शक्तियों का नाश करना पड़ा। मैसिडोन का राजा ने कार्थेज को दूसरा प्यूनिक युद्ध में मदद दिया था। पर एथेन्स और स्पार्टा की मदद से रोम ने फिलिप को बुरी तरह हराया। मैसिडोन का राज्य रोम ने नहीं हड़पा। पर रोम को सिरिया का यूनानी सम्राट् एन्टिओकस् और मिश्र का यूनानी राजा टोलमी के झगड़ों में

फंसना पड़ा। एन्टिओकस् पश्चिम की ओर बढ़ रहा था और मिश्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। रोम ने अन्टिओकस् की बढ़ती शक्ति को अपने लिए खतरनाक समझा। युद्ध में एन्टिओकस् की हार हुई (१९० ई० पू०)। मैंसिडोन इसी समय स्वतन्त्र यूनानी-राज्यों को अपने अधिकार में लाने की योजना को कार्यान्वित कर रहा था। रोम ने यूनान के राज्यों की स्वतन्त्रता के पक्ष में मैंसिडोन का विरोध किया, और उसकी हार हुई। पर रोम ने मैसिडोन की स्वतंत्रता का अपहरण नहीं किया और यूनान के राज्य स्वतन्त्र रह गये। पर रोम का प्रभुत्व तो किसी न किसी न किसी रूप में रहा ही, और धीरे २ यूनान रोम के साम्राज्य का एक भाग बन गया। मैंसिडोन रोम का एक प्रान्त बन गया। कौरिन्थ ने रोम की प्रभुता के विरुद्ध विद्रोह किया और इसे बुरी तरह कुचला गया। सभी यूनानी राज्यों के लिए यह एक उदाहरण बन गया।

यदि पूर्व में यूनान रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया, तो पश्चिम में स्पेन रोम के अधिकार में हो चुका था। स्पेन में कई वर्षों तक विद्रोह की आग भड़कती रही, पर १३३ ई० पू०, स्पेन ठण्डा पड़ गया।

अब पूरे भूमध्यसागर क्षेत्र में रोम का साम्राज्य विस्तृत था। रोम ने इस विस्तृत साम्राज्य को भीषण लड़ाइयों के बाद और काफी खर्च कर के प्राप्त किया था। अब रोम के सेनापति, मैजिस्ट्रेट और गर्वनर इन प्रान्तों के शोषण में ही अपनी स्वार्थसिद्धि समझने लगे। धनी रोम में बाहर से पैसा आने लगा। बड़े २ भव्य मकान बने, सड़कें बनीं, अमीर के लड़के एथेन्स जाकर शिक्षा प्राप्त करने लगे, और यूनानी फैशन और साहित्य की नकल होने लगी।

६

रोम का साम्राज्य विस्तार से जो अतिरिक्त धन की वृद्धि हुई, उसका उचित वितरण नहीं हुआ। सिनेट रोम की शक्ति का प्रतीक

था, और सिनेट में उच्चश्रेणी के लोगों का बोलबाला था। इन अमीरों के गुट की आर्थिक उन्नति आसमान चूम गई और गरीब गरीब ही होते गये। अफ्रिका, स्पेन और यूनान की लम्बी लड़ाइयों में रोम के साधारण किसान भर्ती किए गये थे। इस ओर बसे रहने के कारण उनकी खेती गिरने लगी। बड़े २ धनी जमींदार खेती बढ़ा रहे थे और अपने बड़े चकलों की खेती गुलामों के द्वारा सस्ते दाम में करा रहे थे। युद्ध में पकड़े हुये सिपाही, या असहाय किसान अपनी छोटी टुकड़ी को गिरवी रख कर या बेचकर जमींदारों की गुलामी करने को बाध्य थे। जब रोम के सिपाही लड़ाई के मैदान से वापस लौटे तो उन्होंने देखा कि उनकी खेती अब लाभप्रद नहीं थी। कम खेत रख कर भला वे किस त * जमींदारों की प्रतिद्वन्द्विता का मुकाबिला कर सकते थे। उन्हें अन्त में खेत से भी हाथ धोना पड़ा। इस तरह बेकारों की संख्या बढ़ गई, और सब रोम शहर में जमा होने लगे। सिनेट ने इस भयंकर स्थिति का अंदाजा लगाया। भूखे और बेकार क्रान्ति न कर बैठें इसलिए उन्हें सरकार की ओर से अन्न की भीख मिलने लगी। मर्ज घटने के बजाय बढ़ता ही गया। रोम में बेकारी की संख्या दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी। स्थिति बिगड़ने का एक और कारण था। इटली में अब सिसली, सार्डिनिया और मिश्र से अन्न से लदे जहाज पहुंचने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि घर के उपजे अन्न की कीमत कम हो गई। बाहर से सस्ते अनाज के आयात से ऐसा होना स्वाभाविक था। अन्त में खेती करना ही आर्थिक दृष्टि से नुकसानदेह हो गया। अब गरीब और साधारण किसान को खेती या कृषि-उद्योग को छोड़ना पड़ा या वह गुलाम हो गया। वह रोम में जाकर अपना वोट बेचता, थियेटर-सर्कस देखकर समय काटता, और राज्य से मिले अन्न की भीख पर गुजर कर अपनी प्रतिष्ठा, आत्म-विश्वास और उत्तरदायित्व को तिलाञ्जली दे देता। रोम में यह अनुत्तर-

दायी जमायत (Mob) की राजनीतिक शक्ति बहुत बढ़ गई, और प्रत्येक दुस्साहसी रोमन नेता इस वर्ग को खरीदने की कोशिश करता, और राज शासन पर अधिकार जमा कर अपने गुट की स्वार्थसिद्धि में लग जाता। विरोधी नेताओं ने अपने को जनता का नेता समझा कर जनता को खूब बरगलाया, और रोम की राजनीति अस्थिर हो गई।

ग्रैकाई-बन्धुओं (Tiberius and Caius Grachus) ने परिस्थिति को देखा, और रोम की शक्ति का ह्रास का वास्तविक कारण समझा। इन्होंने भूमि-प्रथामें सुधार किया। अधिक से अधिक कितना जमीन एक आदमी रख सकता है इसका निश्चय किया गया, और इस तरह जो जमीन बच गई उसे भूमिहीनों के बीच नाममात्रादी कर के बदले बांट दिया गया। पर सिनेट भला इस सिद्धांत को किस तरह ईमानदारी से बरत सकता था। उसने रोम की अनुत्तरदायी और पाशविक जनता को उभाड़ा और दोनों बन्धुओं की हत्या उनलोगों के द्वारा हुई जिनके हित के लिए ग्रैकाई-बन्धु ने सिनेट से विरोध मोल लिया था। कायस् ग्रैकस का यह प्रस्ताव कि सभी स्वतंत्र लैटिन किसानों को नागरिकता के पूरे अधिकार दिये जायें और सभी इटैलियनों को कोमिशिया (Comitia) में वोट देने का हक मिले रोम की जनता को नामंजूर था विशेषकर जब उनकी स्वार्थी भावनाओं को सिनेट ने उभाड़ा। कायस् ने गरीब रोमनों के हित में हो रोम में अन्न के गोला की स्थापना की जहां से वे गरीब सस्ते मूल्य में अन्न खरीद सकें। इससे इनमें स्वाभिमान व आत्मप्रतिष्ठा का पुनः उदय होता। पर इस सुधार को भी गलत समझा गया। कायस् ने यह नियम बनाया कि शासन में भाग लेने के लिए नागरिकों को वेतन मिले। पर इस सुधार का यह फल हुआ कि ये कंगाल नागरिक और भी पतित हो गये। व्यसनों में डूबे हुये ये नागरिक क्षणिक स्वार्थ के लिए अपने हितकारी कायस् के भी खून के प्यासे हो गये।

७

रोम में अब सैनिकवाद का बोलबाला था। लड़ाई बराबर होती रही, और दुस्साहसी सेनापतियों ने अपने स्वार्थ के लिए खून-खराबी मचाया। उत्साही और स्वार्थी पुरुष अब राजनीतिक क्षेत्र में सेना के बल पर हावी हो गये। इनमें कायस् मैरिअस् का नाम उल्लेखनीय है। मैरिअस् निम्नकुल का था, पर उसकी आकांक्षा बड़ी-बड़ी थी। उसने जुगारथा नामक विद्रोही सेनापति को हराया और उसे बन्दी बना कर रोम ले आया। उसकी सेना अवेतनभोगी-नागरिकों की नहीं, वरन् वेतनभोगी और स्थायी थी। यह सेना राष्ट्रीय और प्रजातान्त्रिक आदर्शों से प्रभावित नहीं थी, वरन् मैरिअस् के इशारे पर चलनेवाली थी। इस तरह वेतनभोगी व्यवसायी सेना का रोम में आरम्भ हुआ। यह सेना किसी भी ऐसे दुस्साहसी मनुष्य की स्वार्थ-साधना में तत्पर रहती जो कि उसे सन्तुष्ट रख सके। रोम की राजनीति अब दुस्साहसी वीर पुरुषों और उनकी निजी सेनाओं का अड्डा बन गई। मैरिअस् और सुल्ला (Sulla) में लड़ाई छिड़ी। सुल्ला सिनेट का नुमाइन्दा था, मैरिअस् एसेम्बली का। इन दोनों वीरों ने एक के बाद दूसरे पर विजय प्राप्त की और दोनों बार एक दूसरे के हिमायतियों को बुरी तरह कुचला गया। पर इसी बीच पौम्पे (Pompey) और क्रेसस् (Crassus) रंगमंच पर आये। पौम्पे ने कालासागर तटवर्ती राजा मिथिरिडेटिज (Mithridates) पर विजय प्राप्त किया। इससे उसकी शान और इज्जत बहुत बढ़ गई। रोम में गुलामों का विद्रोह हो गया था, और उसे मारकस क्रेसस् (Marcus Cressus) ने सैन्य बल से कुचल दिया। पौम्पे को स्पेन के विद्रोह को दबाने का भी श्रेय मिला। पौम्पे ने रोम लौट कर अपनी सेना का विघटन कर दिया, पर इसका बुरा परिणाम पड़ा। सिनेट को सिर्फ सैन्यबल से भय था, और अब पौम्पे की बात अनसुनी होने लगी। इससे यह सिद्ध हो गया कि सेना के बल पर ही

सिनेट को वश में किया जा सकता है। पोम्पे, केसस और जुलिअस सीज़र (Julius Caesar) ने मिलकर अपनी योजना को कार्यान्वित करने की ठानी (६० ई० पू०)। सीज़र कौन्सिल (Consul) बन गया। पोम्पे की पूर्वीय व्यवस्था मान ली गई, और कैसस् सेना का अधिनायक बन गया। कैसस् पार्थियनों से युद्ध करते मर गया। सीज़र ने गौल प्रदेश (फ्रांस) पर विजय प्राप्त की। दुनिया के सैनिक-विजय में सीज़र का गौल (Gaul) पर विजय एक महत्वपूर्ण कृति समझा जाता है। उसने इन लड़ाइयों का विवरण भी लिखा है, जिसके आधार पर उसे एक सफल लेखक माना जाता है। फ्रांस से सीज़र ब्रिटेन (Britain) में पहुँच गया, और तभी पहले-पहल वहां के लोगों की जानकारी रोमनों को हुई।

सीज़र की बढ़ती शक्ति से सिनेट को स्वाभाविक भय हुआ। सीज़र ने यह समझ लिया कि उसकी शक्ति का स्रोत उसकी सेना है, इसलिए उसने अपनी सेना का विघटन करना नामंज़ूर किया। पोम्पे के सेनापतित्व में सिनेट ने सीज़र का सामना किया। पर सीज़र संसार का अति प्रमुख सेनापतियों में एक था, और फर्सलूस (Pharsalus) के मैदान पोम्पे की हार हुई, और वह मिश्र भाग गया। वहां उसकी हत्या हो गई। सीज़र मिश्र पहुंचा और वहां की रानी क्लियोपेट्रा के यौवन और सौन्दर्य से कुछ समय तक विमोहित रहा।

फर्सलूस की लड़ाई (४८ ई० पू०) के बाद रोम का प्रजातन्त्र (Republic) का वस्तुतः अन्त हो गया। सीज़र आजीवन डिक्टेटर बन गया, और दस वर्ष के लिए कौन्सिल्। सिनेट को ही इन निश्चयों को वैधानिक रूप देना पड़ा। रोम का साम्राज्य अब एक आदमी के द्वारा शासित था। वह आदमी था जुलियस सीज़र। उसकी पूजा होने लगी। उसमें देवत्व है ऐसा समझा जाने लगा। पर पारस्परिक द्वेष और सीज़र के अभिमान के कारण उसकी हत्या की गई



(पृ० २५८) जूलिअस् सीज़र



(Facing Page 258)

(४४ ई०पू०)। पर इससे प्रजातन्त्र पुनर्जीवित नहीं हो पाया। साम्राज्य लिप्सा और सैन्यवाद ने रोम के प्रजातन्त्र का अन्त बहुत पहले कर दिया था। अब तो सैन्यबल पर निरकुंश शासन स्थापित हो चुका था। सीज़र का भतीजा ऑक्टेभिअस् (Octavius) और मार्क एन्टनी (Mark Antony) में साम्राज्य के लिए लड़ाई हुई। पर क्लयोपेट्रा के प्रेम में मार्क एन्टनी सब कुछ गंवा बैठा। आक्टेभिअस् की विजय हुई (Battle of Actium 31 B.C.)। एन्टनी ने आत्महत्या की।

८

सिनेट ऑक्टेभिअस् के बिना राजशासन चलाने में असमर्थ थी। इसलिए ऑक्टेभिअस् जब अपनी शक्ति को सिनेट के अधीन करने को हर समय तैयार था, तब उसकी शक्ति प्रति वर्ष बढ़ाई गई और उसकी इज्जत भी बढ़ी। २७ ई० पू० उसे प्रमुख नागरिक (Princeps) की उपाधि मिली। अब रोमन राजतन्त्र का आरम्भ हो गया। ऑक्टेभिअस् सीज़र प्रथम इम्पेरेटर (Imperator) हो गया। इसी शब्द से सम्राट् (Emperor) शब्द निकला है। आक्टेभिअस् सीज़र सम्राट् औगस्टस् हो गया। रोमन साम्राज्य बहुत वर्षों तक चला। सम्राट् क्लाउडिअस् ने दक्षिण ब्रिटेन को रोमन साम्राज्य में मिला लिया। रोमन सम्राट् नरो (५४-६८ ई०) के समय रोम में आग लगी। आग इसीने भड़काई थी। मारकस् अउरेलिअस् (Marcus Auerelius) बड़ा ही पवित्र और चरित्रवान् सम्राट् हो गया है। कठिन परिस्थिति में भी इसने साम्राज्य में शान्ति कायम रक्खी। अच्छे मैजिस्ट्रेटों की नियुक्ति की गई, नयी सड़कें बनीं, और राष्ट्रीय व्यय को कम किया गया। वह स्वयं कड़ी मेहनत करता था, और राज्य उसके लिए ऐश का नहीं वरन् कर्त्तव्य करने का क्षेत्र था। उसका जीवन सादा और चरित्र पवित्र था। उसकी आत्मा शुद्ध थी, और प्रजा की भलाई करना ही उसका धर्म था। १८० ई० में उसकी मृत्यु हुई, और रोम के दुर्दिन शुरू हो गये।

गृह-युद्ध और अल्पकालीन राजाओं का अनियन्त्रित शासन ने साम्राज्य को कमजोर कर दिया था। साम्राज्य को पूर्व से खतरा अधिक था। व्यापार की विशेष सुविधा भी यहीं थी। रोम में सैन्यवाद की परम्परा सम्राटों को बराबर भयभीत रखती थी। इन्हीं सब कारणों से सम्राट् कान्स्टेन्टाइन (Constantine) ने रोम की राजधानी नये शहर Constantinople ले गया। यह शहर बैजान्टिअन के पुराने दुर्ग पर स्थित था, काला-सागर का द्वार था और अन्न का भण्डार क्रिमिया के समीप था। कमजोर सम्राटों के लिए रोमन साम्राज्य उनके बूते के बाहर की चीज हो गई, और सम्राट् थिओडोसिअस् ने साम्राज्य को दो भागों में—पूर्वी और पश्चिम—अपने दो पुत्रों में बांट दिया। एक की राजधानी मिलान (Milan) और दूसरे की राजधानी कान्स्टेन्टिनेपल थी। रोम का महत्व कम हो गया।

९

रोम का पतन

इस ओर जब घर में ही सर्वनाश के बीज उग रहे थे, रोम को भयंकर बाहरी दुश्मनों से सामना करना पड़ा। मध्य एशिया के बर्बर हूण चीन के साम्राज्य पर धावा बोल रहे थे। इनकी संख्या अत्याधिक थी, और ताकत का क्या पूछना। सभ्य समाज के लिए ये राहू सिद्ध हुये। इनसे अपने देश की सुरक्षा के लिए चीनी सम्राटों ने 'बड़ी दीवाल' (The Great Wall) बनवायी, जो कि संसार की अद्भुत चीजों में एक मानी जाती है। जब हूण दक्षिण-पूर्व में रोके गये, तो उन्होंने पश्चिम की ओर अपना रूख पलटा। हूणों के इस भ्रमण से कई बसी-जातियां उखड़ गई और पूर्व की ओर नयी जमीन और नये देश की खोज में निकलीं। पीठ पर हूण तैनात थे। इस प्रकार कई जातियों का देशान्तर-यात्रा शुरू हो गई, और सभ्य और स्थिर

समाजों को इन बञ्जारों का सामना करना पड़ा। हूणों की एक शाखा योरप पहुंच गई और ट्यूटोनिक या जर्मन जातियां उत्तर से दक्षिण की ओर भागने को बाध्य हो गई। रोमन-साम्राज्य को ट्यूटोनिक जातियों के आक्रमण के कई धक्के सहने पड़े। कुछ जर्मन इटेली में आकर नौकरी या व्यापार करने लगे। इनके फैशन का अनुकरण करना इटैलिअनों ने शुरू किया और रोमन सम्राट् को इस पर प्रतिबन्ध भी लगाना पड़ा। सबसे भयंकर आक्रमण गौथों (Goths) का अलारिक् (Alaric) के नेतृत्व में हुआ। अलारिक् ने एक से अधिक बार इटेली और रोम पर आक्रमण किया। साम्राज्य को लूटा-खसोटा और इसकी शक्ति जर्जर कर दिया। एक बार तो काफी रकम के बाद अलारिक् ने रोम का घेरा उठाया। पर सम्राट् ओनोरिअस् (Honorius) की अदूरदर्शिता और स्वार्थपरता के कारण रोम पर दूसरी बार अलारिक् ने घेरा डाला। इस बार भी रोम बच गया। उसने रोम की गद्दी पर एक यूनानी अट्टालुस को गद्दी पर बैठाया। पर यह निकम्मा निकला और अलारिक् ने रोम पर तीसरी बार घेरा डाल दिया। इस बार रोम बर्बाद हो गया। नागरिकों की हत्या की गई, भव्य भवनों को खण्डहर बना दिया गया, कला की कृतियों को चकनाचूर कर दिया गया, और ६ दिन तक रोम में शैतान का नृत्य होता रहा।

यह महान् संकट अभी टला भी नहीं था कि अट्टिला के नेतृत्व में हूणों ने रोमन साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। रोम बच गया क्योंकि रोम के बिशप (पादरी) ने अट्टिला को दैवी अभिशाप का भय दे दिया। अट्टिला के हमले के बाद वान्डलों (Vandals) ने कार्थेज से रोम पर चढ़ाई कर दी (४५५ ई०)। रोम को खूब लूटा गया। रोमन साम्राज्य का अन्त अब निकट था। ४७६ ई० में पश्चिम रोमन साम्राज्य का अन्त हो गया। पूर्वी साम्राज्य नाममात्र के लिए १४५३ ई० तक सांस लेता रहा।

रोमन साम्राज्य का विस्तार बहुत अधिक हो गया था। इसकी रक्षा और स्थिति के लिए सफल और कुशल सम्राट् और बड़ी सेना की जरूरत थी। पर रोमन सम्राट् अधिकतर व्यसनी और अदूरदर्शी थे। बड़ी सेना रखने के लिए काफी खर्च की जरूरत थी। सेना में राष्ट्रीयता का अभाव था। असभ्य और बर्बरों को सेना में भर्ती किया जाने लगा। इन्हें भला रोम की सभ्यता और साम्राज्य से क्या नेह था। इन्हीं जातियों के आक्रमण से रोम का पतन हो गया। रोम की सबसे आवश्यक शक्ति सैन्यबल-ही पर अब भरोसा नहीं रखा जा सकता था। सेना पर अत्याधिक खर्च के लिए नागरिक और प्रजाओं से अधिक से अधिक कर वसूला जाने लगा। प्रजा सरकारी कर के वसूलने वालों से परेशान थी। उनके लिए तो बर्बर आक्रमणकारी और क्रूर हृदयहीन कर-वसूली के ठीकेदार या कर्मचारी दोनों एक समान थे। जब विस्तृत-साम्राज्य में अब रोम शान्ति नहीं स्थापित रख सका तब रोमन-साम्राज्य की ऐतिहासिक उपयोगिता कहाँ रही। इसका पतन स्वाभाविक था। अलारिक् और अट्टिला ने इस ऐतिहासिक पटाक्षेप को नाटकीय रूप दिया; ये रोमन-साम्राज्य का पतन के कारण नहीं वरन् चिह्न और यन्त्र बने।

रोम की सभ्यता की विशेषताएँ

रोम एक अदना-सा नगर-राज्य से विश्वसाम्राज्य का केन्द्र बन गया। विश्व विशेषकर योरप के इतिहास और संस्कृति पर रोम की अमिट छाप पड़ी। इसलिए रोम की संस्कृति की मुख्य विशेषताओं को समझना आवश्यक है।

शासन विधान

रोम का शासन और विधान का ऐतिहासिक विकास पर ध्यान देना चाहिये। विधान की रूपरेखा जिस ढंग से बदलती रही या जिन परिस्थितियों से गुजरती रही उससे हमें रोमनों की चरित्र विशेषता और प्रतिभा का ज्ञान होता है। रोम का प्रजातन्त्र (Republic) का विकास समाज में विरोधी आर्थिक हितों या समूहों के पारस्परिक संघर्ष का परिणाम था। धनी और निर्धन प्रत्येक समाज में होते हैं। रोम के विधान में यह विशेषता थी कि धनी नागरिकों को ही राजशासन में भाग लेने का अधिकार था। यह सिद्धान्त बराबर लागू रहा। पर लक्ष्मी चंचला होती है। एक ही वर्ग बराबर धनी नहीं रहता है। धनोपार्जन की विधि में परिवर्तन होता रहता है, धन का रूप बदला करता है, इसलिए कालक्रम से आर्थिक विकास व क्रान्तियां होती हैं, और समाज में अमीर और गरीब स्थान बदलते हैं। रोम के इतिहास में भी समाज में आर्थिक परिवर्तन होते गये, और इसका प्रभाव विधान पर भी पड़ा। पुराने धनीवर्ग को नये प्रभावशाली वर्ग का सामना करना पड़ा। रोम के इतिहास की यह विशेषता है कि इस संघर्ष काल में जिसमें कितने परिवर्तन हुये विधान की परम्परा और उसके मुख्य अंग कायम रहे, पर नये आर्थिक हितों को समुचित प्रतिनिधित्व मिलता रहा। प्राचीन परम्परा और नये विचार व आर्थिक वर्गों का सामंजस्य बराबर होता रहा। इसलिए रोम का राजनीतिक विकास की कड़ियां

कभी टूटी नहीं। अविच्छिन्नता ही रोम का वैधानिक इतिहास की विशेषता है। विध्वंसात्मक क्रान्तियों के पनपने के पहले ही सत्ताधारियों ने निज-स्वार्थों और प्रगतिशील आर्थिक शक्तियों में समझौता कर राजशासन में बराबर सुधार लाया।

रोमनों की प्रथम सभा Comitia Curiata थी। इसमें सभी परिवारों के प्रतिनिधि थे। मैजिस्ट्रेटों की बहाली की स्वीकृति करना, निर्वासित और मृत्युदण्ड प्राप्त नागरिकों की अपील सुनना, और कुछ धार्मिक त्यौहारों का आयोजन करना इस सभा का कर्त्तव्य था। पर धीरे-धीरे इस सभा का महत्व कमता गया। उच्चवर्ग के पैट्रिशिअनों और निम्नवर्ग के प्लेबिअनों में वर्ग-संघर्ष बहुत दिनों तक चला। इस काल में दो नयी सभाओं की उत्पत्ति हुई (क) Comitia Centuriata (ख) Comitia Tributa. पहली सभा सैन्यबल पर आश्रित थी। नागरिकों को सैनिक कर्त्तव्य के आधार पर विभाजित किया गया था। प्रत्येक नागरिक को स्वयं ही सामरिक सामग्रियों को जुटाना पड़ता था। इसलिए पांच भागों में बंटे हुए ये नागरिक आर्थिक आधार पर ही स्थित ही थे। अत्यन्त धनीवर्ग के दो श्रेणियों को ही इस सभा में बहुमत थी। अल्पजनों का ही बोलबाला था। किसी भी राज्य की सत्ता उसी वर्ग के अधीन रहती है जिसका सेना पर अधिकार रहता है। रोम में सेना पर अधिकार अति-उच्चवर्गों का ही था।

प्लेबिअनों का इस सभा में कुछ नहीं चल सकती थी, उनके आन्दोलन के कारण यद्यपि पहली सभा के विधान में कुछ विशेष परिवर्तन नहीं किया गया, एक दूसरी सभा Comitia Tributa, जातियों की सभा का जन्म हुआ। इस सभा में प्लेबिअन और पैट्रिशिअन दोनों का प्रतिनिधित्व था। जाति न कि धन इस सभा का आधार था। कालक्रम से पैट्रिशिअनों की संख्या कम होती गई। उनकी जातियों का ह्रास होता गया और प्लेबिअनों की उन्नति होती गई। वंश व शुद्धरक्त पर महत्व

देने के कारण और वैवाहिक नियम अति संकुचित रखने के कारण ही पैट्रिशिअनों का ह्रास होने लगा। समाज में कृषि के अलावे धनोपार्जन के नये रास्ते खुल गये। व्यापार व लेन-देन के आधार पर नयी समृद्ध जातियों का विकास हुआ, जिन्हें पैट्रिशिअन द्वेष दृष्टि से देखते थे, और इसलिए इन-लोगों ने प्लेबिअनों की संख्या और आर्थिक स्थिति को दृढ़ किया। इसलिए प्लेबिअनों ने धीरे २ Comitia Tributa पर अपना एकाधिपत्य स्थापित कर लिया, और इस सभा का अधिकार और महत्व की वृद्धि होती रही।

रोम में भिन्न २ मैजिस्ट्रेट राजकार्य चलाने के लिए नियुक्त थे। जब स्वेच्छाचारी राजतन्त्र का अन्त करके प्रजातन्त्र की स्थापना हुई, तब राजा के स्थान पर दो कौन्सल (Consul) का चुनाव हुआ। इनका चुनाव Comitia Centuriata में होता था। युद्धभूमि पर इनका अधिकार असीमित था। नगर राजशासन में इनका कार्यक्षेत्र सीमित था। एक कौन्सल दूसरे कौन्सल के निर्णय को रद्द कर सकता था। स्वेच्छाचारी अधिनायकत्व या एकतन्त्र न कायम हो सके इसलिए यह नियम बनाया गया था। व्यावहारिक जगत् में इन कौन्सलों ने आपस में अपना कार्यक्षेत्र अलग-अलग कर लिया था। कौन्सल पहले पैट्रिशिअन वर्ग के ही होते थे।

वर्ग-संघर्ष का परिणाम था ट्रिब्यूनेट नामक एक पद की स्थापना। ट्रिब्यूनों (Tribune) का कर्तव्य था पैट्रिशिअनों से पीड़ित प्लेबिअनों की रक्षा करना। पर इस पद का महत्व बढ़ता गया, किसी भी अन्य मैजिस्ट्रेट की आज्ञा को ट्रिब्यून रद्द कर सकता था, भूमिप्रथा में सुधार ला सकता था और अपना विशेषाधिकार का प्रयोग कर शासन को ठप्प बना सकता था। जनता का हितरक्षक होते हुये भी ट्रिब्यूनों को सत्ताधारी गुट अपने २ स्वार्थ की रक्षा के लिए मिला लेते थे। इस तरह पीछे चल कर इस पद का दुरुपयोग होने लगा, और ट्रिब्यून पीड़ित जनता का रक्षक न होकर विरोधी गुटों का कठपुतली बन गया।

नगर की व्यवस्था का भार एडाइलों (Aediles) की हाथ में था। शहर की सफाई, पानी का प्रबन्ध, अन्न का प्रबन्ध, मनोरंजन व खेलकूद की सुविधा देना, और मामूली मुकदमों को सुनना इन अफसरों का कर्तव्य था। पैट्रिशिअन और प्लेबिअन दोनों तपकों के लोग इस पद के अधिकारी थे।

जैसे २ रोम-साम्राज्य का शासन जटिल होता गया, और संकटकाल (Crisis) बराबर आते रहे, कई प्रकार के नये पदों की स्थापना हुई। डिक्टेटर (Dictator) ६ महीने के लिए बहाल किया जाता था। संकट काल में उसके हाथ में सभी शक्ति केन्द्रित रहती थी। सिनेट इस की नियुक्ति की सलाह देता था, और कौन्सल इस पद पर किसी व्यक्ति को नियुक्त करता था। जो कभी कौन्सल रह चुका हो वही डिक्टेटर बन सकता था।

पूर्व कान्सलों में से बहुत प्रतिष्ठित और चरित्रवान् को सेन्सर (Censor) चुना जाता था। Comitia Centuriata में Censor का चुनाव होता था। सेन्सर जनगणना कराता था, क्योंकि नागरिकों की सैनिक अवस्था (Military Status) इसी आधार पर निश्चित होती थी। सिनेट के नये सदस्यों की सूची बनाना भी इसका अधिकार था। क्योंकि सिनेट रोम के शासन में अतिप्रभावशाली था इसलिए सेन्सर का सिनेट की सदस्यता पर यह अधिकार इस पद को बहुत महत्वपूर्ण बना दिया। कर लगाना या वसूलना सेन्सर का कार्य था। सेन्सर जिस नागरिक पर चाहता कर लगा देता था, और कर वसूली के लिए ठीकेदारों की नियुक्ति कर लेता था। ये ठीकेदार नागरिकों को खूब परेशान करते थे, और सरकार को सिर्फ कर से मतलब था। बड़े २ ठीकेदारों को सड़क या सार्वजनिक भवनों का निर्माण करने का अधिकार सेन्सर दे देता था। इसलिए सेन्सर को लोगों को खुशहाल बनाने का काफी मौका था, पर इस अधिकार का

दुरुपयोग कर समाज में नये-धनिकों का अन्यायपूर्ण महत्व बहुत बढ़ गया।

प्रीटर (Praetor) एक दूसरा प्रभावशाली अफसर था। प्रीटर कान्सल का सहायक था। यह विशेषकर कानूनी अफसर था। न्याय-विभाग इसके हाथ में था। पर कौन्सल इसे सीमित क्षेत्र में प्रभुत्व का अधिकार सौंप देता था, और प्रीटर इसी आधार पर रोम के विजित प्रान्तों का गवर्नर बन गया। प्रान्तों में प्रीटर की शक्ति बहुत थी— वहां उसके विरुद्ध कोई दूसरा प्रीटर नहीं था, जैसे रोम में एक के विरुद्ध दूसरा कौन्सल रहता था। अपने नियमित काल में प्रान्तों का खून चूसना और धन के बल पर रोम के राजशासन में अपना प्रभाव स्थापित करने की चेष्टा प्रत्येक महत्वाकांक्षी प्रीटरों का स्वाभाविक रवैया हो गया।

क्वेइस्टर (Quaestor) राज्य के खजांची थे।

इस तरह रोम के शासन-प्रबन्ध के लिए कई दर्जे के मैजिस्ट्रेट थे। अधिकतर नीचे से ऊपर पद तक पहुंचने में उन्नति का सिद्धान्त अमल में लाया जाता था। प्रत्येक पद के लिए अत्यल्प आयु व योग्यता निर्धारित थी। क्वेइस्टर पद पर नियुक्ति २७ वर्ष से कम आयुवाले की नहीं हो सकती थी। इसी तरह औरे २ उच्च पदों पर बहाली होने की योग्यता बढ़ती गई। यथार्थतः कुछ विशेष धनी व प्रभावशाली परिवारों में ही उच्च पदों पर की बहाली सीमित रही।

रोम के इतिहास में इन मैजिस्ट्रेटों का काफी बोलबाला था। पर इन मैजिस्ट्रेटों की कमजोरी यह थी कि इनके कार्य की अवधि बहुत अल्प थी। प्रतिवर्ष, दो वर्ष या इससे भी कम में अफसरों का पुनर्निर्वाचन होता था। इसलिए ये अफसर अस्थायी थे, और उन्हें राजशासन की जटिल समस्याओं को समझने के लिए न तो उचित अनुभव रहता था,

और न समय। इस कारण रोम के इतिहास में सिनेट (Senate) का बहुत अधिक प्रभाव रहा। सिनेट स्थायी संस्था थी। एक बार चुने जाने पर सिनेट के सदस्य आजीवन सदस्य रहते थे। पहले तो पैट्रिशिअन परिवारों के मुखिया ही इस सभा के सदस्य थे, पर प्लेबिअन पैट्रिशिअन संघर्ष के बाद धनी पैट्रिशिअन और प्लेबिअनों के प्रतिनिधि ही इस सभा के सदस्य होने लगे। पहले सदस्यों की नियुक्ति कौन्सल करते थे, पीछे चलकर यह अधिकार सेन्सर को मिला कि वे रिक्त स्थान की पूर्ति करें और सिनेट के योग्य सदस्यों की सूची बनावें। सिनेट के सदस्य ही उच्च मैजिस्ट्रेटों के पद पर काम कर चुके थे। इस लिए इन्हें काफी अनुभवी और बुद्धिमान समझा जाता था। सिनेट की प्रतिष्ठा बहुत थी। जब जनता की प्रतिनिधि सभाएं—Comitia Tributa, Comitia Centuriata—यदाकदा ही बैठती थी, और जब मैजिस्ट्रेट अल्पकाल तक ही अपने पद पर आसीन रहते थे, तब स्थायी सिनेट का जिसके सदस्य अनुभवी, प्रौढ़ और नीतिकुशल थे, राजशासन की बागडोर सम्हालना स्वाभाविक था।

जनसभाओं के सभी आर्थिक, अदालती व विधान सम्बन्धी (legislative) निर्णय को सिनेट की अनुमति मिलना आवश्यक था। सिनेट में ही इन प्रस्तावों पर बहस-मुहाबिसा हो सकता था। सिनेट कानून बरतता था और मैजिस्ट्रेटों की अवधि बढ़ा सकता था। पीछे चल कर सिनेट के प्रस्ताव के बल पर किसी भी नागरिक को प्राणदण्ड की सजा मिल सकती थी। इस निर्णय के विरुद्ध अपील नहीं था। सिनेट का यह अधिकार था कि राज्य-आय का खर्च का प्रबन्ध और सरकारी जमीन का बन्दोबस्त करे। वैदेशिक नीति पर सिनेट का काफी अधिकार था। युद्ध की घोषणा तो Comitia Centuriata करती थी, पर सिनेट को सन्धि करने का अधिकार था। जैसे २ रोम का साम्राज्य-विस्तार हुआ, विजित देशों का प्रबन्ध सिनेट के नियन्त्रण और निरक्षण में आ गया। राजधर्म की व्यवस्था भी सिनेट के ही हाथ में था।

अतः सिनेट की शक्ति और अधिकार बहुत विस्तृत था। प्लेबिअन-पैट्रिशिअन संघर्ष का धीरे २ प्लेबिअनों के पक्ष में निर्णय हो गया था। ऐसा सोचना स्वाभाविक था कि अब श्रेणी-तन्त्र के स्थान पर लोकतन्त्र की स्थापना हो जानी चाहिए थी। पर प्लेबिअनों की जीत के साथ-साथ ही कार्थेज-रोम का भीषण संघर्ष शुरू हो गया। रोम के लिए जीवन-मृत्यु का प्रश्न था। यह युद्ध बहुत वर्षों तक चला और इस लम्बी अवधि में भाग्य के कई उलटफेर हुए। इस युद्धकाल में स्थायी सिनेट का महत्व और शक्ति अधिक बढ़ गई। जनता सिनेट के शासन से अभ्यस्त हो गई। इस युद्ध में रोम की जीत हुई, और इस सफलता का सेहरा सिनेट के सर पर मढ़ा गया। इस युद्ध से सिनेट अधिक प्रतिष्ठित और शक्तिशाली बन गया। सिनेट ने जो शक्ति व प्रतिष्ठा हासिल किया उसे वह अन्तिम दिनों तक बचाती रही। सिनेट की शक्ति का विरोध जनतान्त्रिक शक्तियों से उतना नहीं हुआ जितना व्यक्तिगत स्वार्थों से प्रभावित महत्वाकांक्षी सेनापतियों से। इसी संघर्ष में रोम का प्रजातन्त्र और सिनेट की शक्ति का पतन हो गया।

रोम की साम्राज्यवादी नीति

रोम ने साम्राज्य-विस्तार कोई पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार नहीं किया। अपनी आत्मरक्षा और पड़ोसियों की मदद की पुकार से प्रभावित हो रोम को युद्ध की नीति अपनानी पड़ी और प्रत्येक युद्ध का परिणाम था रोम का उत्तरदायित्व में वृद्धि और प्रभावक्षेत्र का विस्तार। कभी गॉलों (Gauls) के आक्रमण के विरुद्ध, कभी यूनानी राज्य के विरुद्ध रोम को पड़ोसियों की मदद के लिए जाना पड़ा और हरबार सफलता का यही फल निकलता कि रोम का राज्य की सीमा बढ़ती गई। इसी प्रकार रोम ने अपने को पहले तो इटली का स्वामी पाया, और फिर सारे भूमध्यसागर के क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

इटली को एक सूत्र में बांधने में रोम ने अभूतपूर्व व्यवहारिकता और राजनीतिज्ञता दिखाई। यूनान के स्वतन्त्र नगर-राज्य के नागरिक अपने विशेष अधिकार व स्थिति पर इतना गर्व करते थे कि अपने नगर के नागरिक अधिकारों को वे किसी अन्य विजित नगर व मित्रराज्य के नागरिकों से कभी नहीं बांट सकते थे। इसलिए यूनान के प्रसिद्ध नगर-राज्य, जैसे एथेन्स और स्पार्टा ऐसे प्रभावशाली राज्य, कभी भी अपना आधिपत्य सारे यूनान पर स्थायीरूप से नहीं स्थापित कर सके। एथेन्स के विजित व मित्रराज्य के नागरिक एथेन्सवासियों के विशेषाधिकार से सर्वदा वंचित रहे और अपने को उन्हें बराबर एथेन्स के नागरिकों से हेय ही समझना पड़ता था। इसलिए एथेन्स के प्रति भक्ति व सहयोग की भावना का उनमें बराबर अभाव ही रहा। विजयी और विजित राज्यों में कभी अपनापन का भाव नहीं पनप सकता था। एथेन्स की समृद्धि को वे अपने शोषण का परिणाम समझते थे और एथेन्स के विरुद्ध खुलेआम या छिपे उनकी साजिश होती रहती। अतः नागरिकों को दूसरे नागरिक के प्रति पृथकत्व का भाव यूनानी एकता का घातक सिद्ध हुआ।

जिस परिस्थिति में एथेन्स और स्पार्टा असफल हुए, रोम ने अपने नेतृत्व में इटली में एकता स्थापित कर लिया। इसका कारण था कि रोम ने इटली-स्थित अन्य जातियों या क्षेत्रों को अपने राजनीतिक अधिकार में लाकर भी उन्हें रोमनों के नागरिक अधिकारों से वंचित नहीं रक्खा। कुछ विजित जातियों को पूर्ण, कुछ को अधूरे नागरिक अधिकार दिये गये। इस तरह रोमन शासन व साम्राज्य में विजित क्षेत्रों की प्रजा को भाग लेने का मौका मिला। विजेता और विजितों में इस प्रकार सहयोग और एकता स्थापित हो गई। कुछ विजित नगरों में जहां वैधानिक शासन चल रहा था, वहां रोमनों ने स्वायत्त-शासन कायम कर दिया। इस तरह रोम ने इटली में सिर्फ रोम का राज्य नहीं, वरन् रोम को इटली का नेता सिद्ध किया। रोमनों के नागरिक

अधिकारों का इस प्रकार नियन्त्रित वितरण के आधार पर ही रोम इटली में एकता स्थापित कर सका।

पर वैधानिक सभायें या समीतियां और मैजिस्ट्रेटों का हेडक्वार्टर रोम ही था। इस कारण रोम से बहुत दूर रहने वाले नागरिकों को अपना अधिकार का प्रयोग करने में कठिनाई होती थी। फिर आर्थिक दृष्टि में नागरिकों की बढ़ती संख्या रोम के लिए हानिकारक थी। रोम ने इसलिए पीछे चलकर नागरिक-अधिकार का विस्तार बन्द कर दिया। नागरिकों की बढ़ती आबादी के भोजन व आराम की प्राप्ति के लिए रोम को विजित प्रदेशों का शोषण करने की नीति अपनानी पड़ी। जहाँ रोम जो अपने निकटस्थित क्षेत्रों को नागरिकता का पूर्ण अधिकार दे चुका था, और कुछ अधिक दूर के क्षेत्रों को जो वैधानिक शासन प्रणाली की परम्परा से अवगत थे उन्हें कम या अधिक नागरिक अधिकार या स्वायत्त् स्वतन्त्रता देता था, वहीं रोम ने इटली से बाहर विजित प्रदेशों के शासन में दूसरा ही रवैया अख्तियार किया। अफ्रिका, एशिया, या पश्चिम योरप में विजित प्रदेशों को रोमन गवर्नर (Practor) के मनमाने शासन में रखा गया। प्रीटर, रोम में, एक साल के लिए चुना जाता था, और उसे जब विजित प्रदेशों में गवर्नर बना कर भेजा जाता था तब उसकी यही नीति रहती कि इस अल्प अवधि में जितना स्वार्थसिद्धि कर सके, करे। रोमन सरकार को सिर्फ अन्न या कर की जरूरत रहती, और इसे वसूल करने के लिए प्रीटर ठीकेदारों की बहाली करता, और ये ठिकेदार गरीब किसानों को भरपूर चूसा करते थे। रोम अंगूर की शराब व जैतून का तेल के व्यापार से बहुत लाभ उठा रहा था और अन्न की उपज कम हो रही थी। इसलिए बढ़ती जनसंख्या या नागरिक-संख्या के लिए अन्न के लिए उसे विजित प्रदेशों का शोषण करना जरूरी हो गया था।

आर्थिक शोषण, ठीकेदारों का अत्याचार और रोमन गवर्नर का निरंकुश शासन से विजित प्रान्तों में रोम के प्रति घृणा व विद्रोह की

भावना की वृद्धि होती गई। पर रोम के शासन-काल में विजित प्रदेशों को कुछ फायदा भी हुआ। अशान्ति और अराजकता के बदले अविच्छिन्न शान्ति की स्थापना हुई। नाविक-डाकुओं का खात्मा हो गया, और व्यापार की वृद्धि हुई। अच्छी २ सड़कों का निर्माण हुआ, जिससे यातायात में सुविधा हुई, सरकार को शासन करने में मदद मिली, फौज एक जगह से दूसरी जगह आसानी से आ सकती थी, और सड़कों के किनारे बाजार लग गये। रोम ने यदि साम्राज्य का आर्थिक शोषण किया, विजित प्रदेशों को लूट कर अपना खजाना भरा और आराम की सामग्रियां एकत्रित की, तब उसने संसार को सभ्य भी बनाया। अफ्रिका, फांस, स्पेन और एशियामाइनर में बड़े २ नगर, विशाल भवन, और सुन्दर देवगृहों का निर्माण हुआ। रोमन स्नानागार (Baths) इंगलैण्ड में अब भी दर्शनीय हैं। पर रोम की सबसे अधिक महत्वपूर्ण देन थी विजित संसार में एक कानून का प्रचलन। रोमन-शान्ति का उदाहरण आनेवाली युगों के लिए बराबर स्पर्द्धा की वस्तु हो गई थी।

अपनी साम्राज्यवादी नीति के कारण रोम एक विस्तृत विश्व-साम्राज्य का संस्थापक बन गया। रोमनों की शान, आत्मप्रतिष्ठा और वैभव की अति वृद्धि हुई। नगर-राज्य रोम साम्राज्य का शोषण कर अत्यन्त समृद्ध बन गया। प्रथम सम्राट् औगस्टस् ने प्रान्तीय शासन में सुधार किया, और अब एक नियम से शासन चलने लगा। प्रान्तीय प्रजाओं का सुख और शान्ति का भी ख्याल किया जाने लगा। रोमन गवर्नरों की मनमानी पर लगाम लगाई गई। पर विजित प्रदेशों का आर्थिक शोषण तो होता ही रहा। इस धन से रोम में सुन्दर और चौड़ी सड़कों का निर्माण हुआ। बड़े २ भवन बने। रोम की वास्तुविद्या (Architecture) ने अभूतपूर्व उन्नति दिखाई। शहर सुन्दर और योजनानुकूल बनने लगे।

ऊँचे मकान बनाए गये। इन मकानों में सभी प्राप्य-सुविधाएं थीं; स्नानागार, ड्राइंगरूम, खाना-कमरा और आतिथ्यगृह। नेपुल्स का प्राचीन नगर पोम्पाइ के ध्वंसावशेष से नगर-योजना, सुन्दर भवन, चौड़ी सड़कें, और गृह-सामग्रियों का पता चला है। खाने की चीजें खूब चटपटी बनती थीं। पूर्व से मसालों का आयात किया जाता था। काला-सागर से नमकीन मछली आती थी। एक हाड़ी मछली का दाम एक जोड़े बैल से अधिक था। मेहमानों की खातिर ही इतना मँहगा भोजन बनाया जाता था। नौकरों की जरूरत बढ़ गई थी। अमीरों के घरों में नौकरों की संख्या काफी थी। प्रत्येक मामूली काम के लिए एक नौकर नियुक्त था। रोम के धनी-मानी सज्जन इस प्रकार ऐश-इशरत में जीवन व्यतीत करते थे।

इसका परिणाम रोमन चरित्र पर बुरा पड़ा। नौकरों या दासों की संख्या बढ़ गई, और उनके प्रति रोमन स्वामियों का व्यवहार अत्यन्त कठोर होता था। रोमनों की क्रूर भावनाओं का खुला प्रदर्शन गुलामों के प्रति ही होता था। पहचान के लिए तपे लोहे से गुलामों को दागा जाता था। गरीब किसान अपनी जमीन को बेचकर दास बनने को बाध्य थे। युद्धबन्दियों को भी गुलाम बनाया जाता था। पूर्व-भूमध्यसागर और एजियन क्षेत्रों से असहाय को भगाकर समुद्री-डाकू उन्हें रोमनों के हाथ बेच देते थे।

यूनानी-सभ्यता का प्रभाव

साम्राज्यविस्तार की दिशा में रोम को यूनानी सभ्यता से सम्पर्क हो गया। रोम के नागरिक चरित्रबल, कठिन मेहनत, सादा जीवन और राजनीतिक व सामाजिक अनुशासन के लिए प्रसिद्ध थे। स्वामि-भक्ति व बुजुर्गों का आदर करना उनका स्वभाव सा हो गया था। कसरत या कवायद, खेल-कूद उनके मनोरंजन थे। संक्षेप में उनका जीवन नीरस या शुष्क था। वैयक्तिक स्वतन्त्रता व ललित कलाओं

की ओर उनका ध्यान नहीं गया था। पर रोम पर यूनानी सभ्यता का गहरा असर पड़ा।

रोमन सिपाही, सेनापति और मैजिस्ट्रेट यूनानी शहरों की सड़कों पर चलने लगे। तब रोम वापस आकर समृद्ध रोमनों ने अपने मकानों को भव्य और सुविधापूर्ण बनाना शुरू कर दिया। यूनानी सभ्यता का ही प्रभाव था कि रोम के नये मकानों में स्नानागार और पानी का कल का प्रबन्ध होने लगा। रोम की वास्तुविद्या पर यूनानी कला का बहुत प्रभाव पड़ा। मकान में आंगन और चारों ओर खम्भे पर स्थित ओसारा यूनानी प्रभाव था।

विजयी रोमन सेनापतियों ने यूनानी शहरों से हजारों यूनानी मूर्तियां व चित्र रोम ले आये। इन भव्य मूर्तियों और सुन्दर चित्रों से मकान सजाये गये। पूर्व के उत्तम बर्तन, असबाब, कालीन इत्यादि रोमनों के मकानों की शोभा बढ़ाने लगे। खाने-पीने में काफी खर्च किया जाने लगा। चटपटी और मसालेदार भोजन की मांग बढ़ने लगी।

रोम में पिता अपने पुत्र को शिक्षा देता था। कोई सर्वसाधारण पाठशाला नहीं थी। जब पाठशालाएं स्थापित की गईं तो शिक्षार्थियों को पढ़ने के लिए रोमन साहित्य का अभाव था। कानून की बारह धाराएं (Twelve Tables of Law) को ही कण्ठस्थ कराया जाता था। स्कूल अधिकतर खुले मैदान में होता था, या कभी किसी नागरिक के मकान पर ही पाठशाला स्थित थी। पर यूनानी दासों ने अपनी मुक्ति प्राप्ति के बाद रोम में स्कूलों की स्थापना करना शुरू किया। इन स्कूलों में रोमन नागरिक अपने बच्चों को भेजने लगे। कुछ घरों में यूनानी दास या भृत्य थे, और ये दास, जैसे एन्ड्रोनिकस, अपने मालिक के बच्चों को शिक्षा देने लगे। होमर के साहित्य का लैटिन भाषा में अनुवाद किया गया। इस तरह यूनानी संरक्षण व वातावरण में रोम शिक्षा-पद्धति का सूत्रपात हुआ। जब तक यूनानी शिक्षक, सार्वजनिक-

सभा में भाषण देने लगे। इस तरह प्रभावशाली व्याख्यान देने की कला का ज्ञान रोमनों को होने लगा। कुछ महत्वाकांक्षी रोमन युवक एथेन्स जाकर अपनी शिक्षा को पूर्ण करता था।

यूनानी नवागतों में पोलिबिअस् (Polibius) नामक एक राज-नीतिज्ञ व सुसंस्कृत युवक भी था। सिपिओं (Scipios) के परिवार में वह ले लिया गया था, और उनलोगों के साथ वह रोम की लड़ाइयों का दर्शक था। उसने यूनानी भाषा में रोम की महान् लड़ाइयों का एक वृहत् इतिहास लिखा। ऐसे सभ्य यूनानियों का रोमनों पर गहरा प्रभाव पड़ा। होमर की अमर पंक्तियां अब रोम के महापुरुषों को कण्ठस्थ थीं। यूनानी साहित्य से इतना निकट सम्पर्क में रहने का ही परिणाम था कि रोमनों में भी साहित्य-सृजन की आकांक्षा उदित हुई। लैटिन साहित्य के विकास में विदेशीय साहित्य का ही प्रभाव था। रोम में कवि और इतिहास-लेखक पैदा हुये, और होमर के महाकाव्य के आधार पर लैटिन महाकाव्य लिखे गये। प्राचीन रोम की कहानियां व रोम के महान् राजाओं का चरित्र ही इन महाकाव्यों का विषय था। यूनानी सुखान्त नाटक (Comedies) से रोमन काफी आकर्षित हुये, और इनकी नकल कर प्लाउटस् और टेरेन्स् ने कई सुखान्त नाटक लिखे।

जब साहित्य का विकास हुआ, तब पैपिरस् पर लिखित लैटिन पुस्तकों की संख्या बढ़ने लगी। रोम में पहला सार्वजनिक पुस्तकालय एक रोमन सेनापति ने मेसिडन के राजा की पुस्तकों से ही स्थापित किया था।

अतः यह स्पष्ट है कि यूनानी सभ्यता का रोमन जीवन और संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा। रोम की वास्तुविद्या, साहित्य, भोजन, व मनोरंजन सभी पहलुओं पर यूनानी रंग चढ़ा। इसलिए यह कहा जाता है कि विजेता रोम विजित यूनान का बन्दी हो गया। पर इसका परि-

णाम बुरा भी हुआ। यूनानी प्रभाव के कारण रोमनों के जीवन में ऐश-आराम और कृत्रिम तड़क-भड़क का महत्व बहुत बढ़ गया। जिस यूनानी संस्कृति ने रोम पर इतना विस्तृत प्रभाव डाला था वह यूनानी सभ्यता एथेन्स के स्वर्णयुग की सभ्यता नहीं थी। पांचवी-चौथी शताब्दी ईसा से पूर्व की उन्नत और बुद्धिवादी सभ्यता तीसरी शताब्दी ईसा से पूर्व अपनी आत्मा खो चुकी थी। सिकन्दर के पतन के बाद और भी अवनति होती रही। अब एथेन्स नहीं, मिश्र में एलक्जेंड्रिया (Alexandria), और सिरिया में एन्टिओक् (Antioch) यूनानी संस्कृति के केन्द्र थे। यह सत्य है कि यूनानी सभ्यता को जीवित रखने में मिश्र ने काफी प्रशंसनीय काम किया। पर यह निर्विवाद है कि यूनानी सभ्यता अब पूर्वीय संस्कृतियों के अंचल में ही बच सकी। इस पर पूर्वीय ऐश-इशरत का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। यूनानी साहित्य, मूर्तिकला, और जीवन का आदर्श अब हल्का हो गया। चरित्र की पवित्रता, स्वातंत्र्य-प्रेम, बुद्धिवादी दर्शन, और क्रियात्मक कलाओं के स्थान पर हल्का साहित्य, उच्छृंखलता, ऐश-आराम की इच्छा और स्वार्थान्ध दर्शन की उन्नति हुई। इसी पतनोन्मुख यूनानी संस्कृति से रोम का सम्पर्क हुआ। प्यासे और बुभुक्षित सीधे-साधे रोमनों के लिए यह अद्भुत और आकर्षक भण्डार था। इस सम्पर्क के कारण यदि रोम के साहित्य और कला का विकास हुआ, तो रोमन चरित्र पर इसका बुरा परिणाम पड़ना भी स्वाभाविक था।

नीरस और अनुशासित रोमन यूनानी ललित कला और हल्के साहित्य पर टूट पड़े। बड़े-बूढ़ों का आदर और अनुशासन की मान्यता वे खो बैठे, नाच-रंग और ऐश-आराम में बेतरह फंस गये। भद्दे और अश्लील नृत्य में दिलचस्पी से भाग लेने लगे। पुरुष मंहगी और चटपटे भोजन में अन्धाधुन्ध खर्च करने लगे। धनी स्त्रियां अपने शरीर को बेशकीमती आभूषणों से सजाने लगीं। इत्र, फुलेल और

महीन वस्त्रों का व्यवहार खूब होने लगा। रोम का पैसा इन विलासी सामग्रियों को खरीदने में पूरब जाने लगा। सामाजिक और पारिवारिक परम्परा टूट गई, और उच्छृंखल जीवन का बोलबाला हो गया। तलाकों की संख्या में अत्यन्त वृद्धि हुई। रोमन पारिवारिक जीवन की पवित्रता और सादगी का लोप हो गया।

निम्नवर्ग के लोगों में यह परिवर्तन और भी अधिक स्पष्ट था। यूनानी जीवन की विलासिता से रोमन अत्यन्त आकर्षित हुये। यूनानी सभ्यता की पवित्र कलात्मक प्रवृत्तियों का न उन्हें पता था और न उसे वे पसंद कर सकते थे, इसलिए तो जब कोई रोमन यूनानी बाजा-गाना का आयोजन करता था तब रोम के नागरिक चिल्ला उठते थे कि इसे बन्द करो और मुक्केबाजी का प्रदर्शन आरम्भ करो। इसी प्रवृत्ति का परिणाम था कि मनुष्य-पशु कुश्ती का प्रदर्शन बहुत लोकप्रिय था, और जनता को अपनी तरफ खींचने के लिए महत्वाकांक्षी नेता ऐसे प्रदर्शन व प्रदर्शनगृहों का आयोजन करते थे। जनता इस क्रूर और हृदयविदारक दृश्यों को ताली पीट २ कर देखती थी और अपनी खुशी का इजहार करती थी। यूनानियों का शारीरिक व्यायाम रोमनों के लिए फीका पड़ता था, और इन्होंने यूनानी खेल-कूद की भावना को अपनाया, पर इसे क्रूर और रक्तांजित रूप दिया।

इस पतोन्मुख यूनानी संस्कृति के आडम्बर की नकल रोमन कर रहे थे। इस प्रवृति के विरुद्ध कैटो (Cato) ने जबरदस्त आवाज उठाई। रोम की पारिवारिक परम्परा की उद्धार के लिए कैटो ने काफी लिखा और कहा। प्रजातन्त्र के अन्त के बाद ऑगस्टस् ने राजतन्त्र का वास्तविक स्थापना किया। उसने रोमन चरित्र का पतन रोकने के लिए कानून बनाए। पूर्वकाल के रोमन के पवित्र-जीवन या आदर्शों को पुनर्जीवित करने की कोशिश की। ब्याह की पवित्रता की रक्षा के लिए नये कानून बनाये। पूर्वीय देवताओं को हटाकर रोमन देवताओं की पुनर्स्थापना की गई।

पर यह कहना गलत होगा कि औगस्टस् ने यूनानी संस्कृति का प्रभाव एकदम मिटा दिया। सच पूछा जाय तो यूनानी और रोमन संस्कृतियों का समन्वय होने लगा था। पहले झोंके में रोमन यूनानी संस्कृति की चकाचौंध और विलास में बह गये, और इस आन्दोलन के विरुद्ध कैटो ने उसी ओर से प्रत्याक्रमण किया, और अन्त में इन दो विरोधी दिशाओं की कश्मकश में रोम-यूनान संस्कृति का सम्मिश्रण हुआ। रोमन सभ्यता में यूनानी प्रवृत्तियां प्रवेश कर गईं पर रोम ने अपना व्यक्तित्व नहीं खोया। औगस्टस् के समय में रोम में भव्य-भवन और मूर्ति संग्रहालय बने। इन सभी दिशाओं में यूनानी प्रभाव स्पष्ट था। आदर्श (models) यूनानी ही थे। उस समय स्ट्रैबो (Strabo) नामक यूनानी ही ने प्रमाणित भूगोल की रचना की। सीज़र और सिसरो लैटिन साहित्य के प्रमुख निर्माता थे, पर दोनों यूनानी भाषा और साहित्य के विद्वान थे। इनके ऐसे महापुरुषों में रोमन-चरित्र और यूनानी-संस्कृति का सम्मिश्रण था, और इसका परिणाम था कि तत्कालीन प्राचीन विश्व के सबसे सुसंस्कृत महापुरुष ये लोग ही गिने जाते हैं। सिसरो रोम-यूनान-संस्कृति का सामंजस्य का प्रतीक था, और पूर्व-रोमन साम्राज्य-युग का आदर्श सिसरोवाद (Ciceroism) ही था औगस्टस् ने रोम में दो बड़े पुस्तकालय स्थापित किया जिनमें यूनानी और लैटिन पुस्तकों का संग्रह किया गया था। इस समन्वित संस्कृति में उत्पन्न रोमनों की विचार शक्ति चेतन हो गई। लिवि (Livy) ने रोम का आद्योपान्त इतिहास लिखा। लैटिन गद्य-शैली निर्धारित हो गई, और लैटिन कविता का अभूतपूर्व विकास हुआ। महाकवि वर्जिल (Virgil) ने पहले यूनानी कवि थियोक्रिटस् के आधार पर ही कविता लिखना शुरू किया था।

वास्तुकला और अन्य कलाएं।

प्राचीन रोम के मकान बहुत साधारण थे। मकान एक कमरे का होता था, जिसमें सोने के लिए खाट और भोजन बनाने का चूल्हा अलग २

कोने में पड़ा रहता था। धुंआ से कमरा भरा रहता, क्योंकि धुंआ निकलने के लिए चिमनी का प्रयोग का ज्ञान नहीं था। पर जब रोम के नागरिकों को यूनानी सभ्य-शहरों में भ्रमण करने का मौका मिला तो वापस जाकर उन्हें अपना मकान कष्टकर मालूम हुआ, और बड़ा और आरामदेह मकान बनाये जाने लगे। पहले सोने का कमरा बनाया गया, मकान-मालिक का आफिस कमरा भी बना। फिर खम्भों पर आश्रित ओसारों से घिरा हुआ आंगन भी मकान का नया भाग बन गया। भोजन का कमरा, पुस्तकालय, और ड्राइंग-रूम जोड़ा गया। मकान अब एकमंजिला से कई मंजिला भी बनने लगे। रोम में पहले मकान सादा रहते थे; आभरण का सम्पूर्ण अभाव था। अब दीवालों पर चित्रकारी, पाषाण-मूर्तियां और कई तरह के डिजाइन से मकान सुशोभित होने लगे। मकान में स्नानागार, पानी का कल और साफ शौचगृह का प्रबन्ध किया जाने लगा। प्रमुख कमरों को शीत काल में गर्म रखने का भी प्रबन्ध पाइप से गर्म हवा द्वारा किया गया।

सीजर ने नगर निर्माण योजना में काफी दिलचस्पी लिया। भव्य सार्वजनिक-भवनों का निर्माण हुआ, और विस्तृत सड़कें बनीं जिससे यातायात में अत्यन्त सुविधा हुई। सम्राट् औगस्टस् के समय में इस दिशा में अद्भुत प्रगति हुई। पैलेटिन की पहाड़ी पर (Paletine Hill) कई मकानों को एक कर राजमहल बना। खम्भों के पंक्तियों से सज्जित अपोल्लो का एक सुन्दर मंदिर का निर्माण हुआ। इसके नीचे संगमर्मर के बने भव्य इमारत थे, और क्रयविक्रय के लिए विशाल हाल, जिसे सीजर ने बनाया था, और जो जलकर बर्बाद हो गया था, फिर उठ खड़ा हुआ। सिनेट के लिए नई इमारत बन गई, और सीज़र का मंदिर भी बनाया गया। औगस्टस् ने एक विशाल और सुन्दर नाट्यशाला (Theatre) भी बनवायी, और पहले पहल रोम में आकर्षक सार्वजनिक स्नानागार (Public Baths) बने। रोम

की वास्तुकला में मेहराब (Arch) का प्रयोग होता था। यह पूर्व का प्रभाव था। यूनानी वास्तुविद्या में इसका अभाव था, पर रोम के कारीगरों ने मेहराब और स्तम्भों को इमारतों में प्रमुख स्थान दिया। रोम में विजयी सेनापतियों ने विजय-चिह्न के रूप में विशाल मेहराब बनवाए। विजयी सैनिक और सेनापति इन मेहराबों से होकर रोम में जुलूस के साथ निकलते थे। अभी भी ऐसे विजयी जयवृतखण्ड व स्तम्भ (Triumphal Arch) पाए जाते हैं। योरप वास्तुकला में मेहराब की प्रमुखता रोम की देन है।

रोम संसार का सबसे सुन्दर और दर्शनीय नगर बन गया। रोम में पशु और मनुष्य में कुश्ती बड़ा ही सर्वप्रिय मनोरंजन था, और इसलिए वेस्पियस् ने विशाल रंगभूमि (Ampitheatre) बनाया जिसमें पचास हजार दर्शक बैठ सकते थे। आजकल इसे Colosseum कहते हैं। अभी भी संसार के विशाल इमारतों में यह एक है। कालक्रम से शहर में कई फड़ (Forum) स्थापित हुये जिसके ईर्दगिर्द कई भव्य-भवनों का निर्माण होता गया। सम्राट् ट्राजन ने एक विशाल स्तम्भ की रचना की जिस पर उसके युद्धकाल के चित्र अंकित थे। इस समय सीमेन्ट का खूब व्यवहार होता था। सम्राट् हेड्रिअन का कब्र रोम का सबसे बड़ा कब्र है और अभी भी वर्तमान है।

वास्तुकला के साथ २ शिल्पकला (Sculpture) की भी प्रगति हुई। विजयी रोमन सेनापतियों ने यूनान या यूनानी (Hellenic) नगरों से बहुत सी पाषाण मूर्तियाँ उठा लाए, और इनसे रोम की शोभा बढ़ गई। औगस्टस् ने रोम की भव्य इमारतों को पाषाणमूर्तियों से सुशोभित किया, और इस दिशा में यूनानी मूर्तियां ही आदर्श थीं। पहले तो यूनानी कला की नकल ही अधिक की जाती थी। क्रियात्मक प्रतिभा कम थी। पर हेड्रियन और ट्राजन के समय में इन पाषाण की इमारतों या स्तम्भों पर जो चित्र खोदे जाते थे वे रोम की सर्वोत्तम कला

चित्र २२



(पृ० २८०) जयवृत्त खंड (*Triumphal Arch : Rome*)



(पृ० २८०) कान्स्टेन्टाइन का जयवृत खंड

चित्र २५



पृ० २८० विशाल रंगभूमि (Colosseum. Rome)

चित्र २६



(पृ० २८१) सौन्दर्य की देवी (*Venus*)
(*National Museum, Rome*)

के जीते जागते उदाहरण हैं। ट्राजन-स्तम्भ पर खुदे चित्र अत्यन्त आकर्षक और सजीव मालूम पड़ते हैं। पर अधिकतर पाषाण मूर्तियां प्रसिद्ध यूनानी मूर्तियों की ही नकल हैं। यूनानी शिल्पकला की प्रतिभा सबसे अधिक पाषाण-मूर्तियों में निखरी थी, और संसार की कलात्मक कृतियों में अद्वितीय हैं। पर इनमें कितने नष्ट हो गये थे, और रोम के शिल्पियों के बनाये ये नकली मूर्तियां (Copies) हमें यूनानी कला और प्रतिभा की सम्पन्नता का आभास देती हैं।

चित्रकला की प्रगति धीमी थी। दीवालों पर रंगे चित्र ही अब उपलब्ध हैं, और ये यूनानी चित्रकला के नकल ही समझे जाते हैं। पर मनुष्य के तस्वीर खूब बनाए जाते थे, और यह पेशा लाभकारी था।

शिक्षा और साहित्य।

प्राचीन रोम में वर्णमाला का प्रचार एट्रस्कनों के समय में ही हुआ था। यूनानी वर्णमाला का प्रभाव निर्विवाद है। यूनानी भाषा का भी लैटिन भाषा पर प्रभाव पड़ा। यूनानी मुक्त गुलामों या भृत्यों की ही मदद से रोम में पाठशालाओं की स्थापना हुई और शिक्षा का प्रचार हुआ। रोम में वाक्पटुता व भाषण देने की क्षमता का राजनीतिक महत्व यूनानी परम्परा का ही असर था। रोमन साहित्य का आरम्भ होमर के महाकाव्य के लैटिन अनुवाद से ही शुरू हुआ, और रोम के विद्वान यूनानी भाषा और साहित्य के पंडित होकर ही लैटिन साहित्य का भण्डार भरने लगे। रोम के प्राचीन नाटक, इतिहास-शास्त्र यूनानी पुस्तकों के आधार पर ही लिखे गए। जुलिअस सीज़र लैटिन साहित्य के निर्माताओं में एक है। उसने लैटिन भाषा पर एक पुस्तक लिखी है। अपने युद्धों का सजीव विवरण भी लिखा है। सिसरो लैटिन गद्य का महापंडित समझा जाता है। उसके समान वक्ता रोम में कोई नहीं हुआ, और उसके सारगर्भित और उत्साहवर्द्धक भाषण साहित्य की अक्षय

कीर्ति है। भाषण कला पर उसके लेख पठनीय हैं। कैटो (Cato) यूनानी संस्कृति का बढ़ता प्रभाव का विरोधी था, और इसके लेख और भाषण भी लैटिन साहित्य के सुन्दर रत्न हैं। लैटिन कवियों में होरेस (Horace) और वर्गिल (Virgil) विश्व प्रसिद्ध हैं। औगस्टस्-युग की सभ्यता और दैनिक जीवन का सजीव चित्र हमें होरेस के गीतिकाव्य में मिलते हैं। होरेस की संगीतमय कविताएं अमर रहेंगी, और विश्व बराबर रोम का तो क्या प्राचीन विश्व का आभारी रहेगा। वर्गिल ने तो पहले यूनानी-शैली की नकल कर इटैली का दैनिक जीवन का चित्र देना शुरू किया। पर वर्गिल की प्रतिष्ठा का असली कारण है उसकी क्रियात्मक प्रतिभा। उसने एइनिड (Aeneid) नामक एक महाकाव्य लिखा। इसमें यथार्थतः औगस्टस् युग और औगस्टस का प्रतिभाशाली व्यक्तित्व की प्रशंसा है। होरेस और वर्गिल राष्ट्रीय चेतना और आत्मविश्वास के प्रतीक हैं। वर्गिल का महाकाव्य अभीतक सभ्य संसार पर अपना प्रभाव अक्षुण्ण रखता है। औगस्टस् स्वयं ही एक सफल लेखक था। उसने अपने जीवन की कहानी अपने कब्र के सामने गड़ी कांसे की टिकियों पर लिखी है। एक महान् जीवन का वर्णन इतना प्रभावोत्पादक शैली में मिलना कठिन है। सम्राट् नेरो का मंत्री सेनेका (Seneca) के लेख लैटिन गद्य-साहित्य में विशिष्ट स्थान रखते हैं। इसी समय कई यूनानियों ने भी साहित्य के भण्डार में उचित योगदान दिया। प्लूटार्क (Plutarch) ने रोम और यूनान के महान् पुरुषों की जीवनियां यूनानी भाषा में लिखी। एरियन (Arrian) ने सिकन्दर का जीवन चरित्र के बर्त्ते विषयों का संकलन किया। स्ट्रैबो (Strabo) का भूगोल बहुत दिनों तक प्रामाणिक ग्रन्थ रहा। पोलिबिअस् (Polybius) प्रथम इतिहासकार था। लिवि (Livy) का लिखा इतिहास उल्लेखनीय है। टैसिटस् (Tacitus) भी एक सफल इतिहासकार माना जाता है।

साहित्य की वृद्धि के साथ २ पुस्तकालयों की उन्नति हुई। औगस्टस् ने दो बड़े पुस्तकालयों की स्थापना की थी। लैटिन और यूनानी दोनों साहित्य का संग्रह किया गया था।

विज्ञान के क्षेत्र में रोमनों ने काफी दिलचस्पी नहीं दिखाई। औगस्टस् का मन्त्री अग्रीप्पा ने संसार का एक मानचित्र बनाया पर इसमें कोई स्केल या परिमाण निश्चित नहीं था, और अक्षांश (Latitude) और रेखांश (Longitude) का अभाव था। प्लिनी (Pliny) Naturalies Historia का लेखक था। विज्ञान की यह अनुपम पुस्तक है। जुलिअस सीजर ने चन्द्र के आधार पर स्थित पञ्चाङ्ग के बदले सूर्य के आधार पर नया पञ्चाङ्ग लागू किया। टौलमी (Ptolemy) ने ज्योतिष विद्या पर कई लेख लिखे और उसका यह मत था (जो गलत है) कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है।

धर्म।

आरम्भ में रोम-धर्म बहुत साधारण था। रोमन प्राकृतिक शक्तियों की पूजा करते थे, क्योंकि उनसे उन्हें एक ओर तो भय रहता था, दूसरी ओर वरदान पाने की इच्छा रहती थी। प्राचीन रोमनों का यह विश्वास था कि प्राकृतिक वस्तुओं में देवता या प्रेतात्मा का निवास रहता है; इसलिए ऐसी वस्तुओं की पूजा होती थी। प्रकृति के प्रत्येक क्षेत्र में, और मनुष्य के प्रत्येक कार्य-क्षेत्र के ऊपर एक देवता का राज था। प्रमुख देवताओं में जुपिटर (आकाश), मार्स (युद्धदेवता), वेनस् (प्रेम की देवी) इत्यादि हैं। रोमनों का यह विश्वास था कि भक्त और देवता का पारस्परिक कर्त्तव्य नियमबद्ध है। भक्त देवता की पूजा करेगा, पशु बलि देगा, और इसके बदले में देवता भक्त को वरदान देंगे। इसलिए रोमनों को धर्मकर्त्तव्यों का यन्त्रवत् पालन करना ही था। उन्हें गूढ़ दर्शन या बौद्धिक कल्पना के लिए समय निकालने की जरूरत नहीं थी। व्यवहारी रोमनों का धर्म भी व्यावहारिक था, और इसी गुण के कारण राजनीतिक

व कानूनी क्षेत्रों में रोमनों ने अभूतपूर्व न्यूनता दिखाई। एट्रुस्कनों और यूनानियों से प्रभावित हो रोमनों ने भी भविष्य का ज्ञान प्राप्त करने के कई रहस्यवादी उपायों को अपनाया, जैसे बलि दिया हुआ भेड़ के गुर्दे का चिह्न पढ़ना। पूर्वीय संसार से निकट सम्पर्क में आने से रोमन धर्म या धार्मिक रीतिरिवाजों में काफी तबदिली हुई। रोम में मिश्र की नकल पर धार्मिक स्तम्भ खड़े किये गये। मिश्र के देवता ओसिरिस और इसिस के लिए रोम में बाग लगाए गये और उनकी मूर्तियां रखी गई। एशियामाइनर की मातृदेवी का आदर रोम में होता था। पर्शिया का देवता मित्र (Mithras) रोमनों को मान्य था। इन सभी देवताओं की रहस्यमयी कहानियां या नाटकों का भी रोम में प्रवेश हो गया था। पूर्वीय संस्कृतियों का ही प्रभाव था कि रोम में सम्राट् की पूजा होने लगी। सम्राट् के मन्दिर बनने लगे। ऑगस्टस् के समय से ही सम्राट्-पूजा शुरू हुई।

अतः यह स्पष्ट है कि रोम में धार्मिक सहिष्णुता की नीति प्रचलित थी। विदेशी धर्मों, देवताओं और रीतिरिवाजों का प्रभाव रोमन जनता पर पड़ रहा था। पर रोम ने ईसाई धर्म का खुला विरोध किया। इस नीति के कुछ खास कारण थे।

दर्शन।

रोमन व्यवहारकुशल थे। अध्यात्मिक छानबीन या बौद्धिक कल्पना की ओर उनकी रुचि नहीं के ही बराबर थी। दर्शन के क्षेत्र में रोमनों ने इसलिए कोई नयी दिशा नहीं अपनाई। उनके दर्शन जीवन के कुछ नैतिक सिद्धान्त तक ही अधिकतर सीमित रहे। रोमन इस जीवन की सफलता के लिए ही परेशान रहते थे, मृत्यु के उपरान्त क्या है ऐसे विचार से रोमन प्रायः मुक्त थे। इसी जीवन की सफलता के लिए उन्हें कुछ नैतिक सिद्धान्त और सामाजिक नियमों का पालन करना आवश्यक प्रतीत होता था। जो कुछ भी दर्शन

नाम की कोई चीज रोमनों में पाई जाती है वह है यूनानी स्टोइसिज़िम का प्रभाव। जेनो इस दर्शन का प्रवर्तक माना जाता है। यूनानी चिन्तक इपिकुरस (Epicururs) का प्रभाव रोमन ल्यूक्रेटिअस् (Leucretius) पर काफी पड़ा। इस दर्शन का सिद्धान्त था कि विश्व अणुओं के आकस्मिक सम्मेलन का परिणाम है और बराबर परिवर्तनशील है। प्रत्येक चीज भौतिक पदार्थ का बना है, और मनुष्य नियति का कठपुतला है। उसका भाग्य उसके अधिकार के बाहर है। देवता भी द्रव्य पदार्थ है, पर मनुष्य का भाग्य-विधाता नहीं। मनुष्य का ध्येय है सुख की प्राप्ति और इसलिए देवताओं या मृत्यु का भय छोड़ देना चाहिये। देवताओं की नाराजगी एक ढकोसला है। ल्यूक्रेटिअस् ने अपनी पुस्तक में तत्कालीन विज्ञान का पूरा लाभ उठाया है, और प्राचीन काल में मनुष्य का जीवन का विकास और प्रकृति की कार्यशैली का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है। आधुनिक सिद्धान्तों के आधार पर इन विषयों पर उसके विचार ठीक हैं।

सेनेका (Seneca) नेरो का गुरु था, और वह स्टोइक दर्शन का मतावलम्बी था। उसने कई पुस्तकें लिखी हैं। उसके विचार अति उच्च हैं। उसने यह कहा कि मंदिरों के द्वार खटखटाने की कोई आवश्यकता नहीं, पुजारियों की खुशामद करना जरूरी नहीं, स्वर्ग की ओर ध्यान लगाना बेकार है। यदि ईश्वर को ढूंढना है तो अपने मन के भीतर देखो। ईश्वरत्व हममें है, ईश्वर हम से अलग नहीं है। पवित्र और साधु पुरुष ईश्वर का ही रूप है।

एपिक्टेटस् नेरो का एक गुलाम था, और सम्राट् हेड्रियन का एक मित्र। वह अत्यन्त धार्मिक विचार का मनुष्य था। उसकी शिक्षा थी कि इस संसार में ईश्वराज्ञा के अनुसार काम करते रहो, इससे अधिक सोचना निरर्थक है।

सम्राट् मार्कस् औरेलियअस् महान् चिन्तकों में एक है। वह राजकार्य व युद्ध के समय से कुछ समय निकाल कर ध्यान किया करता था,

और अपने विचारों को—To Himself नामक पुस्तक में लिपिबद्ध किया है। उसका यह विचार है कि संसार में जो कुछ पाया जाय उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। उसने जीवन के नैतिक सिद्धान्तों पर जोर दिया। सहिष्णुता, पारस्परिक प्रेम, भाईचारा और स्वामिभक्ति प्रमुख गुण हैं जिनका पालन करना चाहिये।

रोम में दर्शन एक बौद्धिक सिद्धान्त नहीं है, वरन् दैनिकजीवन में दर्शन की उपादेयता महसूस की जाती थी।

रोम और ईसाई धर्म।

ईसाई धर्म की उत्पत्ति फिलस्तीन में हुई। इस धर्म की उत्पत्ति फिलस्तीन के प्राचीन इतिहास से गहरा सम्बन्ध रखती है। फिलस्तीन एक छोटा देश है। इसके दक्षिण में अरब की मरुभूमि, पूर्व में डेड सी (Dead Sea) और जार्डन नदी, उत्तर में गेलिली का समुद्र और फिनिशिया, और पश्चिम में भूमध्य सागर है। इसका प्राचीन नाम कैनान (Canaan) था। दजलाफरात् (Mesopotamia), मिश्र और क्रीट की सभ्यताओं के सम्पर्क में रहने के कारण फिलस्तीन के निवासी सभ्य बने। पर यह देश प्राकृतिक सुविधाओं से प्रायः हीन ही था। ग्रीष्म-काल में वर्षा का वस्तुतः अभाव था, पर शीतकाल में कुछ वर्षा होती थी। दक्षिण भाग तो पथरीली और मरुभूमि था, उत्तरी भाग में अन्न उपजता था। सिंचाई की सुविधा नहीं थी, और अन्न की उपज कम होती थी। पश्चिम में समुद्रतट पर कुछ अच्छे बन्दरगाह थे पर बहुत पहले ही उन पर फिनिशिअनों का कब्जा हो गया था। मिश्र और मेसोपोटेमिया के शक्तिशाली राज्यों के मध्य में स्थित रहने के कारण यह देश युद्ध-स्थल ही बना रहा।

ऐसे दरिद्र और आतिथ्य-विमुख देश में अरब मरुभूमि से अबहम के नेतृत्व में हेब्रूजाति फिलस्तीन में १४००—१२०० ईसा से पूर्व में आकर बस गई। यहाँ के निवासी कैनानियनों से इन्हें लड़ना पड़ा,

पर अन्त में दोनों जातियों में मैत्री व विवाह सम्बन्ध हो गया, और दोनों मिलकर एक राष्ट्र बन गए। फिनिशिअनों से सभ्यता के चिह्न जैसे लिपि, वर्णमाला इत्यादि इन्हें मिल गये। फिर फिलस्तीन होकर पूर्व-पश्चिम के व्यापारी आया-जाया करते थे, इससे आर्थिक व सांस्कृतिक फायदा होना स्वाभाविक था।

हेब्रू इस प्रकार सभ्य हो रहे थे। अरब-मरुभूमि से बन्जारों का आना जारी था, और आर्थिक कारणों से हेब्रुओं की नजर मिश्र की ओर दौड़ी, और वे मिश्र चले गये, पर मिश्रिओं की गुलामी उन्हें असह्य हो गई। हज़रत मूसा (Moses) के नेतृत्व म इनलोगों ने मिश्र की गुलामी के विरुद्ध जेहाद शुरू किया और अपने प्यारे घर की ओर लौट पड़े। मूसा रास्ते में ही मर गये, पर जननायकों और उत्साही नेताओं में उनका स्थान बहुत ऊंचा है।

उस समय मिश्र अवनति-पथ पर था, और असीरिया का अभ्युदय नहीं हुआ था। इस अवसर का फायदा यहूदियों ने लिया। राजा डेविड ने फिलस्तीन का संयुक्त-राष्ट्र कायम किया। राजा साल (Saul) और उसके पुत्र डेविड ने फिलस्तीनों को हरा कर यह सफलता प्राप्त किया था। (क्रीट के नाश के बाद उसके निवासी फिलस्तीन के दक्षिण-पूर्वी तट पर बस गये थे। ये फिलस्तीन कहलाते थे और हेब्रुओं को बराबर परेशान करते रहे)। डेविड (१०००–९६० ई० पू०) ने ही जेरुसलेम (Jerusalem) को राजधानी बनाई। हेब्रुओं की आर्थिक उन्नति सोलामन (Solomon) के राज्यकाल में हुई। जेरुसलेम में एक मन्दिर बनाया गया, और पत्थर की कई सुन्दर ईमारत बनें। बेचारी जनता कर के बोझ से दब गई। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्र दो भागों में बंट गया—उत्तर में इज़रायल और दक्षिण में जूडा। इन में बराबर युद्ध होता रहा, और इज़रायल असीरिया के साम्राज्य में ७२२ ई० पू० में आ गया। ५८६ ई० पू० बाबिलोनियन

सम्राट् नेबुचड्रेजर ने जेरुसलेम को नेस्तनाबूद कर दिया, और हेब्रू राष्ट्र का नाश हो गया। कुछ बेबिलोन ले आये गये, कुछ मिश्र भाग गये। जब पर्शिया ने बेबिलोन के नये साम्राज्य का अन्त कर दिया, तब सम्राट् कुरुश ने इन यहूदियों को अपने देश लौटने की अनुमति दे दी। पर यहूदी राष्ट्र के सुनहले दिन नहीं लौटे।

पर यहूदी करीब साढ़े चार सौ वर्ष तक फिलस्तीन में अपना सिक्का जमाये रहे। इन वर्षों में इनके धार्मिक विचारों का विकास हुआ, और विश्व को इन्होंने इस क्षेत्र में बहुत कुछ दिया। Old Testament या बाइबिल उनकी कृति है। इसमें मनुष्य की उत्पत्ति, और प्राचीन विश्व का इतिहास है। साहित्य के क्षेत्र में बाइबिल का बहुत ही ऊंचा स्थान है, और विश्व साहित्य पर इसका गहरा प्रभाव है।

जब सम्राट् कुरुश ने यहूदियों को अपने देश लौटने और जेरुसलेम का पुनर्निर्माण करने की अनुमति दी, तो यहूदियों को उस समय अपनी ऐतिहासिक परम्परा और कथाएँ छोड़कर कुछ नहीं था। इन्हीं का संग्रह का नाम बाइबिल पड़ा। इसका प्रभाव यहूदियों पर बहुत पड़ा। बाइबिल में, जिसका संग्रह ईसा से चार पांच सौ वर्ष पूर्व माना जा सकता है, यहूदियों ने अपने पड़ोसी जातियों से भिन्नता देखी, और अपनी विशेषता का ज्ञान पाया। इन विशेष गुणों या धार्मिक व सामाजिक भावनाओं के प्रति यहूदियों में कट्टरता आ गई, और वे अपने को दूसरी जातियों से अलग समझने लगे। इसका परिणाम था कि अत्यन्त उत्साह से वे अपने धर्म पर दृढ़ थे। इसी विश्वास पर हजारों वर्ष से पीड़ित यहूदी जीवित रहे। बाइबिल ने उनमें एकता का सूत्र लाया, और वे कितनी ही दूर रहें, एक दूसरे से अभिन्न रहते हैं। यह एक अजीब चीज है कि एक पुस्तक—एक परम्परा—इतने कालतक एक भूमिहीन राष्ट्र को बांधे रख सके।

यहूदियों का प्रमुख धार्मिक सिद्धान्त था कि उनका भगवान अदृश्य है, और निराकार है। न उसकी मूर्ति बन सकती है, और न मूर्ति की पूजा मंदिर में हो सकती है। स्वच्छन्द खुले आकाश में ही भगवान की पूजा होनी चाहिये। यहूदियों का भगवान व धर्म अमर है, क्योंकि अन्य धर्मों के मंदिर तोड़कर, मूर्तियां फोड़ कर उनका अन्त किया जा सकता है, पर यहूदी धर्म का अन्त कोई नहीं कर सकता। भगवान एक है, सर्वोपरि है और सर्वशक्तिमान है। ऐकेश्वरवाद व निराकार ब्रह्म की उपासना का सिद्धान्त यहूदियों ने पश्चिम में पहले पहल प्रचलित किया। पर यहूदी यह भी विश्वास करते थे कि हेब्रू जाति इस परमेश्वर की सर्वप्रिय जाति है। भगवान ने हेब्रूजाति को स्वयं चुना है, और जेरूसलेम का पुनरुत्थान होगा और धर्म का विश्व-साम्राज्य की स्थापना का श्रेय भगवान (याहोवा) के आशीर्वाद से हेब्रुओं को ही मिलेगा और जेरूसलेम इस धर्म राज्य की राजधानी बनेगी, ये कट्टर विश्वास प्रत्येक यहूदी के हृदय में घर किए हुए हैं।

यहूदियों को यह विश्वास था कि उनका ईश्वर याहोवा असहाय का सहायक, गरीबों का मददगार है। यहूदियों में कई पैगम्बर गुजरे हैं। जब यहूदियों का कैनानाइयों (Canaanites) से सम्पर्क हुआ तब कितने यहूदी कैनानाइयों के स्थानीय नगर देवता 'बाल' (Baal) की पूजा करने लगे। इस आचरण के विरुद्ध जातीय धर्म और इष्ट-देव याहोवा की प्रतिष्ठा के लिए धार्मिक नेताओं ने आवाज उठाई। इलिजा (Elijiah) ने यह बताया कि याहोवा सर्व-शक्तिमान है और वही एक ईश्वर है, और वह गरीबों का दोस्त है। उत्तर का एक राजा अहब ने अंगूर की लतों की लालच में गरीब किसान नबोथ की हत्या की थी। इलिजा ने इसे याहोवा के विरुद्ध अपराध बताया, और जनता ऐसी भड़की कि राजा और उसके परिवार का हिंसात्मक अन्त हो गया। ७५० ई० पू० के लगभग गड़ेरिया एमोस ने अपने को ईश्वर-दूत बताया। उसने याहोवा को शांतिप्रिय बताया और स्वार्थी और अत्याचारी धनिकों का विरोधी।

एमोस ने ऐश्वर्य-पूर्ण आरामतलब जीवन का खोखलापन दिखाया, और सादा और स्वच्छ दरिद्र-जीवन की महत्ता पर प्रकाश डाला। गरीबों के प्रति क्रूर-व्यवहार व उनके खेतों का ऋण के बदले अपहरण की भर्त्सना की। एमोस प्रथम समाज-सुधारक थे। ऐसे महापुरुषों को ही पैगम्बर (Prophet) कहा जाता है जिन्होंने निःस्वार्थ जीवन, बन्धुत्व और उच्च-धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। जब असीरिया का सम्राट् सेन्नाचरिब जेरुसलेम का द्वार पीट रहा था, पैगम्बर आइसा (Isaih) ने निराश यहूदियों को भविष्य का स्वर्णयुग पर विश्वास करने को कहा। उन्होंने यह कहा कि याहोवा का राज्य फिलस्तीन तक ही सीमित नहीं है, वरन् सारा विश्व ही उसका कार्यक्षेत्र है। यहूदियों की दुर्दशा और जेरुसलेम का पतन याहोवा की हार नहीं वरन् याहोवा की इच्छा है, और असीरिया को याहोवा ने निमित्त बनाया है। यहूदियों को दुराचारी जीवन स्वार्थलिप्सा व अधार्मिक आचरण के कारण याहोवा ने दण्ड देना निश्चित किया है और असीरिया 'याहोवा का दण्ड' (Rod of Punishment) है। पर उसने यहूदियों का भविष्य उज्ज्वल है और असीरिया का पतन निकट है, ऐसी भविष्यवाणी की। जब असीरिया की सेना महामारी से बर्बाद हो गई तब लोगों को आइसा पर विश्वास होने लगा। याहोवा को अब उन्होंने संसार का स्वामी समझा, और फिलस्तीन से बाहर भी उसका कार्यक्षेत्र है ऐसा माना।

इस तरह यहूदियों ने एकेश्वरवाद का सिद्धान्त अपनाया, और याहोवा सभी जातियों का स्वामी है, यह समझा। पर अभी तक उनका यह विश्वास था कि हेब्रूजाति याहोवा को सबसे प्रिय है, और भविष्य में हेब्रू ही को ईश्वर का राज्य का ऐश्वर्य इस पृथ्वी पर ही भोगने को मिलेगा।

हज़रत ईसा इसी वातावरण में पैदा हुये थे। जूडिया में उनका जन्म हुआ था और वे यहूदी जाति के थे। यहूदी पैगम्बरों के उपदेश

का उन पर प्रभाव था, पर वे और भी आगे बढ़े। उस समय फिल-स्तीन रोम के राजनीतिक प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत था। रोम में इस समय सम्राट् की पूजा का प्रचलन आरम्भ हो गया था। यहूदी इसे कभी नहीं मान सकते थे। उनके लिए तो सिर्फ याहोवा ही एक ईश्वर था। अन्य देवताओं को वे भ्रम समझते थे। इसलिए रोमन और यहूदियों में विरोधाभाव रहना स्वाभाविक था। ऐसे समय में ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव हुआ।

ईसा (Christ) का बचपन के बारे में कुछ नहीं मालूम है। कुमारी मरिअम के गर्भ से ये पैदा हुये थे और लगभग तीस वर्ष की उम्र से इन्होंने उपदेश देना शुरू किया। यहूदी की तरह ये भी एकेश्वरवादी थे। पर इनका ईश्वर प्राणीमात्र का दयालु पिता था; पापी और पुण्यवान सब पर दया करने को आतुर था। दरिद्र, असहाय और रोगी उसको अतिप्रिय थे। ईसा का कहना था कि अमीर स्वर्ग नहीं जा सकते। त्यागी और सादा जीवन व्यतीत करनेवाले ही ईश्वर के निकट पहुँच सकते हैं। पापी यदि सच्चे हृदय से अपना पाप स्वीकार कर ले तो ईश्वर उसे क्षमा कर देंगे और वह स्वर्ग पहुँच जायगा। ईश्वर को कोई विशेष जाति अतिप्रिय नहीं है। वह पक्षपात नहीं करता है, न उसकी कोई चुनी हुई जाति है और न किसी विशेष जाति के स्वर्ण-युग का वह संस्थापक होनेवाला है। वह समूचे विश्व का स्वामी है, और प्रत्येक जाति और मनुष्य का क्षमाशील पिता है। स्वर्ग का सुख इस पृथ्वी पर नहीं भोगना है। उच्च नैतिक विचार व शुद्ध आचरण का फैसला भगवान् प्रलय के दिन करेंगे। मनुष्य के कर्मों का फल प्रलय के दिन (Doomsday) ही मिलेगा। दरिद्र, रोगी और असहाय की सेवा से ईश्वर प्रसन्न होते हैं। ईसा ने विश्वबन्धुत्व, दया, दान, क्षमा और अहिंसा का पाठ पढ़ाया। उन्होंने न किसी धर्म की निन्दा की, और न किसी देवता को हेय बताया।

सभी धर्म ठीक हैं। मनुष्य को सदाचार बरतना चाहिये, इस पर जोर दिया। प्रत्याक्रमण के बदले क्षमा करना चाहिये। मनुष्य को परिवार जाति व राष्ट्र-प्रेम छोड़कर विश्वप्रेम अपनाना चाहिये। ईश्वर के प्रेम में अन्य प्रकार के प्रेम या भक्ति त्याज्य है।

ईसा के इन क्रान्तिकारी विचारों से यहूदियों को बहुत रंज हुआ। पहले तो उनका यह ख्याल था कि हजरत ईसा उनके पैगम्बर हैं जो कि यहूदियों के आगामी स्वर्णयुग के वाहक होंगे। पर ईसा ने एकेश्वरवाद तो माना, पर उन्होंने यहूदियों का यह विश्वास पर-कि याहोवा ने यहूदियों के पक्ष में यह फैसला किया है, वे उसके विशेष प्रिय हैं और उनका राज्य सारे विश्व पर स्थापित होकर ही रहेगा—कुठाराघात किया। यहूदियों को परिवार में अटूट श्रद्धा थी, विश्वबन्धुत्व के रंग में परिवार की कट्टरता नहीं टिक सकती थी। यहूदियों के लिए यह सिद्धान्त भी एक दृष्टि से अमान्य था। रोमन राजप्रतिनिधि भी ईसा के इस जनतान्त्रिक सादा धर्म से अप्रसन्न थे। ईसा के सिद्धान्त में रोमन सम्राट् की पूजा असम्भव थी। इस कारण शांति का इस प्रिय दूत को, ईश्वर का पुत्र हजरत ईसा को फांसी दी गई; और हंसते हंसते अपने हत्यारों के लिए ईश्वर से क्षमा मांगते हुये ईसा न सत्य और विश्वबन्धुत्व के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दिया।

ईसा के आत्मबलिदान के तीस वर्षों के भीतर ही ईसाई धर्म का काफी प्रचार हो गया। पहली शताब्दी में ही भारत के पश्चिम तट पर ईसाइयों का पता चलता है। रोम में ईसाइ धर्म का प्रचार होने लगा। इस धर्म के आन्तरिक गुणों का ही यह परिणाम था। क्रिश्चीयन पादरियों और धर्मप्रचारकों का पवित्र जीवन भी इस धर्म की प्रगति में सहायक हुआ। संत पाल (St. Paul) ने इस धर्म के प्रचार में अकथनीय परिश्रम किया। उन्होंने क्रिश्चीयन धर्म की विशेषताओं या गुणों का ऐसा विश्लेषण किया कि प्रत्येक मनुष्य इस धर्म को अपने लिए लाभ-

दायक समझने लगा। इन्होंने यह कहा कि हज़रत ईसा ने अपने बलिदान से मनुष्यों के संचित पापों का प्रायश्चित किया है। संसार में लोग इस महान् त्याग का मतलब समझें और पवित्र जीवन बिता कर ईश्वर-के-राज्य के नागरिक बनने का गौरव प्राप्त करें। संत पाल ने कमजोर स्त्रीवर्ग और पीड़ित गुलामों के प्रति ईसाइ धर्म की चिन्ता प्रकट किया और इस प्रकार ये लोग इस धर्म की ओर आकर्षित हुये। संत पाल ने ईसा को ईश्वर का रूप समझा और लोगों को समझाया, और मृत्यु के उपरान्त ईसा का पुनर्जीवित होने का रहस्य का महत्व बताया। संतपाल का अदम्य उत्साह से प्रेरित होकर ईसाइ धर्म-प्रचारकों ने खूब मेहनत की और इसका ही यह फल था कि ईसाइ धर्म पहली शताब्दी में ही एक शक्ति बन गया।

पर रोमन सम्राट् इस नयी शक्ति को न सह सके। यहूदियों ने रोमन सरकार को बराबर तंग किया था। उनकी कट्टरता, सिर्फ याहोवा छोड़ कर किसी अन्य धर्म या देवता की उपेक्षा और रोमन सम्राट् की पूजा का विरोध के कारण रोमन यहूदी और उनके धर्म से बराबर बिगड़े रहते थे। जब ईसाइ धर्म की उत्पत्ति हुई तो रोमनों ने इसे भी यहूदी धर्म का ही अंग समझा, और इसलिए यद्यपि रोम ने अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाई थी, ईसाई धर्म के प्रति असहिष्णुता या खुला विरोध की ही नीति अपनाई। सम्राट् नैरो ने इस धर्म को कुचलने की नीति शुरू की, और संत पाल को भी शहीद बनना पड़ा। ट्राजन ऐसा बुद्धिमान सम्राट् ने भी ईसाइयों के प्रति दमन की नीति अपनाया। पर दमन ईसाइ धर्म के लिए आग में घी का काम किया, और धर्मप्रचार बढ़ता गया। ईसाइ छिप-छिप कर धर्मविवाद किया करते थे। पत्थरों से दबे खोहों में उनके कब्र थे, और पीछे चलकर यहीं इन्होंने छिपना भी शुरू किया। गरीब, अभागे और निम्नवर्ग के लोगों ने इस धर्म को

खुशी-खुशी अपनाया क्योंकि इसमें भाईचारा और मरणोपरान्त ईश्वर के राज्य में सुख पाने की आशा के सिद्धान्त थे। जब सम्राट् डाइक्लेशिअन (२८४-३०५ ई०) की कड़ी दमननीति के उपरान्त भी ईसाइ धर्म की उन्नति ही होती गई, तो सम्राट् कान्स्टेन्टाइन (Constantine) ने ईसाइ धर्म को राज-धर्म बना दिया और ईसाइ होकर ही मरा (३३७ ई० पू०)।

तब से रोम ईसाइ धर्म का केन्द्र बन गया। जब असभ्य-जातियों ने रोम पर आक्रमण किया तब बहुत से बर्बर इस पवित्र धर्म के प्रति आकर्षित हो गये। रोम का बिशोप लिओ (Leo) ने हूण नेता अटिटला से विनती कर रोम का ध्वंस बचा लिया। इससे ईसाइ धर्म और बिशॉप की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। रोम के विजयी जर्मन जातियों ने ईसाई धर्म को अपनाया। संत पीटर ने रोम में चर्च स्थापित किया था। ऐसा विश्वास है कि उनके हाथ में स्वर्ग की कुंजी थी, इसलिए संत पीटर रोम के प्रथम बिशॉप थे, और संत पीटर का चर्च ईसाइ धर्म का प्रतिष्ठित चर्च। इस प्रकार जब रोम का राजनीतिक विश्व-साम्राज्य टूट रहा था और बर्बर जातियों का बोलबाला था, रोम धार्मिक व अध्यात्मिक शक्तियों का केन्द्र बन गया और, ईसाइ धर्म का प्रचार-केन्द्र। अन्त में रोम के अधीन ईसाइ-साम्राज्य स्थापित होकर ही रहा। कहना मुश्किल है कि यदि रोम में ईसाइ धर्म का सिक्का इतनी जल्दी नहीं जमता तो ईसाई धर्म का क्या भविष्य होता।

रोम की विश्व का विशेष देन।

रोम लगभग पांच सौ वर्ष तक योरप और पश्चिम एशिया का सर्वेसर्वा बना रहा। रोम का प्रभाव विश्व के इतिहास के कई क्षेत्रों पर पड़ा। यदि यूनान के नगर-राज्यों ने दुनिया को वैयक्तिक स्वतंत्रता और नगरराज्य-प्रेम का पाठ पढ़ाया तो रोम ने अनुशासन और राजभक्ति पर विशेष जोर दिया। स्वतंत्रता बिना अनुशासन के उच्छृंखलता है,

चि० २८



(पृ० २९३–९४) संतपाल और पीटर)

चि० २७



पृ० २८१ अपोल्लो (रोमन कला का उदाहरण)
(By Courtesy-National Museum. Rome)

और अनुशासन बिना स्वतंत्रता के गुलामी है। यदि यूनान वैयक्तिक स्वतंत्रता को अधिक महत्व देकर राष्ट्रीयता और एकता स्थापित करने में असमर्थ रहा, रोम ने कठोर शासन और अनुशासन के कारण योरप की एकता प्रेम और भाईचारा पर नहीं वरन दासता के आधार पर स्थायी बनाने की असफल चेष्टा की।

रोम ने अपने विस्तृत साम्राज्य में वस्तुतः शान्ति बनाए रक्खी। नगर-राज्यों के पारस्परिक युद्ध (सिकन्दर के साम्राज्य के पतन के उपरान्त भूमध्यसागर के क्षेत्र में गड़-बड़ी) से लोग परेशान थे। इस अनुकूल वातावरण में रोम ने राज-नीतिक एकता और एक शासन-सूत्र में पूरे क्षेत्र को लाकर एक ऐति-हासिक आवश्यकता को पूरा किया। रोमन-शान्ति भविष्य में बुद्धिमानों के लिए एक उत्साहवर्द्धक उदाहरण व स्पृहणीय वस्तु थी। जब संसार में अशान्ति, राजनीतिक असन्तुलन की स्थिति लम्बी और विस्तृत होती तो लोग 'रोमन शान्ति' को याद करते। योरप में इतना बड़ा विस्तृत और लम्बी अवधि तक टिकने वाला पहला साम्राज्य रोम-साम्राज्य ही था। विश्व और योरप के इतिहास में इसलिए इसका स्थान सदैव सुरक्षित रहेगा।

यह सत्य है कि रोम ने कला व विज्ञान के क्षेत्र में ऐसी प्रतिभा नहीं दिखाई जैसी यूनानियों ने और यह भी ठीक है कि रोम को अवनतोन्मुख यूनानी-सभ्यता से ही सम्पर्क हुआ। पर यह निर्विवाद है कि यूनानी संस्कृति शिल्पकला और साहित्य को जीवित रखने का श्रेय रोम ही को है। रोम ने यूनानी संस्कृति को अपनाया, और अपनी सीमाओं के अन्दर इस संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को क्रियाशील रक्खा। यूनान के प्राचीन पाषाण मूर्तियों की नकल कर रोमन कलाकारों ने हमें यूनानी कला की सर्वोत्कृष्ट कृतियों की महत्ता के उदाहरण सुरक्षित रखा है। रोम ने पश्चिम दुनिया को सभ्य बनाया।

रोम का लैटिन साहित्य जिसमें वर्जिल और होरेस ऐसे रत्न हैं नगण्य नहीं समझा जा सकता है। सीज़र और सिसरो के लेख किसी भी साहित्य की अमर कृतियां ही समझी जावेंगे ।

संसार रोम का सबसे अधिक ऋणी रोमन-कानून के कारण रहेगा। प्राचीनकाल में कानून का आधार परम्परा व लौकिक आचार-विचार ही रहता था। प्राचीन यूनान में, भारत में, बेबिलोनिया या मिश्र में जब-तब जनता और शासन की सुविधा के लिए इन प्रचलित नियमों का संकलन किया जाता था जैसे—ड्रेको का संकलन, मनुस्मृति या हम्बूराबी-कोड। रोम में भी प्लेबिअनों के आन्दोलन का परिणाम हुआ कि Twelve Tables of Law की उत्पत्ति हुई। यह प्रचलित, सर्वमान्य और परम्परा से आती हुई नियमों का संकलन था। यह रोमन नागरिकों के अधिकार व कर्तव्यों का एक जगह इकट्ठा करना था। ३०० वर्ष तक ये कानून लागू रहे और नागरिकों के पारस्परिक झगड़ों का इसी धर्म-संहिता के आधार पर फैसला किया जाता था। पर नयी परिस्थितियां पैदा होती रहीं, और इन कानूनों का शाब्दिक अर्थ न लगाकर तर्कसंयुक्त अर्थ लगाया जाने लगा। इस तरह शब्दों को बिना बदले कानून का असली मंशा-यथार्थ भाव-की इज्जत की जाने लगी। इस तरह के काम के लिए खास अफसर की जरूरत पड़ी और प्रीटर की नियुक्ति हुई कि वे रोमन नागरिकों में न्याय करें। पर रोमनों का विदेशियों से सम्पर्क बढ़ रहा था, और विदेशी न रोमन नागरिक थे, और न उन्हें रोमन-कानून से बांधा जा सकता था। इसलिए रोमन और विदेशियों के पारस्परिक व्यवहार के नियम अलग थे, और इनके बीच जो कानूनी समस्याएं उठ खड़ी हुईं उसके लिए एक दूसरे प्रीटर की नियुक्ति हुई। ये न्यायकर्त्ता फैसला देने में मनुष्यता, युक्ति और न्याय का सिद्धान्त का ख्याल रखते थे, और कानून के शब्दों के शाब्दिक अर्थ में ही नहीं पड़े रहते

थे। इस तरह इनके फैसले से कानून की प्रगति होती रही। इस तरह इन दो प्रकार के प्रीटरों (Praetors) के द्वारा दो प्रकार की धर्मसंहिता का विकास होता गया—(क) रोमन नागरिक-धर्म-(Roman Civil law) और राष्ट्रों का धर्म-(Law of Nations) जो रोमनों और गैररोमनों पर हावी था। दोनों प्रीटर अपने पद पर नियुक्त होने के बाद उन नियमों को प्रकाशित करते थे जिन्हें वे अपने कार्यावधि तक मुकदमों की सुनवाई में लागू करेंगे। ये प्रतिवर्ष के प्रकाशित प्रीटराज्ञा कानून के भाग बन गये। इस तरह ये नियम और प्रीटरों के प्रतिदिन के फैसले रोमन कानून को प्रगतिशील बनाए रक्खा। इस तरह कानून को बराबर बदलते रहने का मौका मिलता रहा। प्रीटर की अवधि एक वर्ष की रहती थी, इसलिए प्रत्येक वर्ष पर नये प्रीटर या तो अपने पूर्वाधिकारी प्रीटर के बनाए नियमों (Edicts) को मान लेता, या उनमें कुछ सुधार लाता या नये नियमों को प्रचलित करता। इस प्रकार ये नियम बराबर गतिशील रहे. ये सब राजघोषणा (Edictal law) थी। जब ८९ ई० पू० सभी इटालियन रोमन नागरिक बना लिए गये तो रोमन कानून और अंतर्राष्ट्रीयकानून की खाई कम हो गई। रोमन कानून और भी उदार हो गया। जब २१२ ई० में समूचे रोमन-संसार को रोमन-नागरिकता के अधिकार मिले, तब रोमन दीवानी कानून (Jus Civile) और अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Jus Gentium) का भेद मिट गया, और सभी रोमन प्रजा एक ही नियमव्यवस्था या न्याय के अन्तर्गत थे।

जब रोम में सम्राट् का उदय हुआ, तो सारी सत्ता धीरे २ सम्राट् के हाथ में केन्द्रित हो गई। सिनेट का कानून बनाने का अधिकार वस्तुतः छिन हो गया। प्रीटरों की राजाज्ञा (Edicts) निकालने का अधिकार लुप्त हो गया। हैड्रियन् के राज्यकाल में प्रीटरों की राजाज्ञा (Edicts) का संग्रह हो गया, और उसके बाद इसकी प्रगति रुक गई

और कुछ समय बाद सम्राट् का कानून बनाने का अधिकार (वैधानिक अधिकार) सर्वमान्य हो गया।

पर रोमन साम्राज्य में धर्म (Law) जटिल और विस्तृत हो गया था। प्रत्येक नागरिक को इनका पूरा ज्ञान रहना असम्भव था। इसलिए कुछ विशेषज्ञों ने इस विषय पर अपना पूरा समय और बुद्धि दिया और इन बुद्धिमान धर्मज्ञ विशेषज्ञों (Jurisprudents) के राय सभी मुकदमेंबाज लेने लगे। इनकी राय की कद्र होने लगी। इनके विचार को उद्धृत किया जाने लगा, और न्यायाधीशों ने भी इनका आदर करना शुरू किया। इन (Jurisprudants or jurists) का प्रभाव रोमन धर्म और धार्मिक व्यवस्था पर काफी पड़ा, और सम्राटों ने भी उलझी कानूनी गुत्थियों को सुलझाने में इन लोगों की मदद लेना शुरू किया। सम्राट् औगस्टस् ने इन्हें यह आज्ञा दी कि ये पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दें। इस तरह कानूनी मसलों पर अपना विचार प्रकट करने के लिए इन विशेषज्ञों को राजकीय स्वीकृति मिल गयी। इनके लेख और विचार धर्म और युक्ति के अनुकूल रहते थे, और रोमन कानून के विकास में इस तरह इन लोगों ने सक्रिय भाग लिया। इनका यह प्रयास था कि धर्म (Law) जहां तक हो प्रकृति के नियम के अनुकूल रहे, और न्यायसिद्ध हो। रोमन धर्म को इस तरह मानवीयधर्म (Humane law) की ओर ले जाने में इन विचारज्ञों का बड़ा हाथ है।

पर अभी तक रोमन धर्म मनुष्यमात्र की सेवा करने के योग्य नहीं था क्योंकि अभी इसकी धाराएं बिखरी हुई थीं, और यह अत्यन्त विस्तृत था। इसके संकलन के लिए पहले भी प्रयास हुये। पर सम्राट् जस्टीनियन (Justinian) ने ५३३ ई० में रोमन धर्म की धर्मसंहिता प्रकाशित की। इस धर्मसंहिता में फौजी, दिवानी और कानून के अन्य भाग सम्मिलित हैं। योरप में कानून का इतना बृहत् संकलन पहले नहीं हुआ था, और इस संकलन के पीछे हजारों वर्ष का

इतिहास था, महान् विद्वानों का अनुभव था। अब एक जगह प्रत्येक नागरिक कानून को पढ़ सकते थे। इसलिए न्याय के क्षेत्र में इस संहिता से अत्याधिक लाभ हुआ। यह धर्मसंहिता (Code) समूचे रोमन साम्राज्य पर एकसा लागू किया गया। पश्चिमी दुनियां का बहुत बड़ा हिस्सा इस प्रकार एक में के सूत्र में बंध गया। इस धर्मसंहिता का प्रभाव विश्व में बहुत अधिक पड़ा। लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) का कहना है कि "धर्मसम्बन्धी (Juris prudence) कोई भी ऐसी समस्या नहीं है जिस पर इस संहिता में विचार नहीं हुआ है, और राजनीतिक शास्त्र का ऐसा कोई भी कोना नहीं है जहां इसकी रोशनी नहीं पड़ी है"। जब रोमन-साम्राज्य-काल में यह संहिता ५ करोड़ मनुष्यों पर लागू थी, तो अभी ८० करोड़ मनुष्य ऐसी धर्म-व्यवस्थाओं में रहते हैं जिनका स्रोत रोमन धर्म-संहिता ही है।

रोमन प्रतिभा प्रधानतः व्यवहारकुशल थी। समस्या का समाधान व्यवहारिक, न कि काल्पनिक व अध्यात्मिक, आधार पर किया जाता था। इनकी व्यवहारकुशलता का प्रमाण रोमन विधान के विकास में मिलता है। जब राजतन्त्र के बाद प्रजातन्त्र की स्थापना हुई तो एक राजा के स्थान पर दो कौन्सलों की नियुक्ति की गई; इस प्रकार एकतन्त्र के अवगुणों को हटाते हुये उसके गुणों को स्थिर रखने की चेष्टा की गई। प्लेबिअन-पैट्रिशिअन संग्राम एक भीषण वर्गयुद्ध ही था, और दूसरे देशों में हिंसक क्रान्ति का कारण बन सकता था, पर रोम ने इस समस्या को सुलझाने में दूरदर्शिता और व्यवहारकुशलता दिखाई, और यह संग्राम शान्तिपूर्ण उपायों से अन्त किया गया। रोम का विधान के आधार को बिना बदले हुये प्लेबिअनों को विधान में नए अधिकार दिये गए। रोम का वैधानिक इतिहास विकासवाद का ज्वलन्त उदाहरण है। जैसे २ नयी समस्याएं उठ खड़ी हुई, उनका व्यवहारिक समाधान ढूंढ निकाला गया; कट्टरता या अपरिवर्तनशीलता को यहां स्थान

नहीं था। रोमन अपने नागरिक अधिकारों के प्रति भी कट्टर नहीं थे, और साम्राज्य हित या इटैली की एकता के हित में इन्होंने अपने विशेषाधिकारों को विजित इटैलिअन प्रदेशों को भी धीरे २ देने लगे। इसी प्रकार इटैली में वे एकता स्थापित कर सके। यह सच है कि पीछे चल कर यह रवैया रुक गया, पर बहुत काल के बाद पूरे रोमन साम्राज्य में एक-नागरिकता या समान नागरिक अधिकार व्याप्त हो गये। इस प्रकार असंकुणता और उदारता दिखा कर रोमन एक बड़े साम्राज्य के स्थापक बन सके, और व्यवहारकुशल सिद्ध हुये। स्थानीय परम्पराओं का रोमनों ने बहुत आदर किया, और विजित नगरों में स्वायत्त-शासन स्थापित कर वहां के नागरिकों को मित्र बनाने की कोशिश किया।

इसी गुण का एक यह परिणाम था कि रोमनों ने सुन्दर नगर-योजना बनाई। पोम्पाई का ध्वंश शहर की सुन्दर योजना का पता हमें उसकी खुदाई से मिलता है। चौड़ी सड़कें, भव्य मकान, बाग-बगीचा और केन्द्रस्थित बाजार इस शहर की विशेषता थी। पानी के कल की व्यवस्था थी। पानी निकटस्थ नहर या जमीन के अन्दर झरनों से निकाला जाता था। रोम ने साम्राज्य भर में कई शहरों का निर्माण किया, और ये शहर सभी सुविधाओं से परिपूर्ण थे। रोमन सभ्यता के फैलाने के ये केन्द्र बने, और रोमन सभ्यता फ्रांस, इंगलैण्ड स्पेन, अफ्रिका, सीरिया इत्यादि देशों में फैल गयी। रोमनों के बनाए सड़क विश्व प्रसिद्ध हैं। योरप या मध्यपूर्व में सड़कों का इतना बड़े पैमाने पर योजनानुकूल निर्माण नहीं हुआ था। सेना, व्यापारी व यात्रियों के लिए यह सुवर्ण-संयोग था। विस्तृत रोमन साम्राज्य में एकता का भाव लाने में सड़कों का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

रोमन साम्राज्य की सैनिक व्यवस्था अच्छी थी। बृहत् राज्यकार्य चलाने के लिए नौकरशाही का संगठन किया गया। प्रतिभावान् कर्मचारी नीचे पद से ऊंचे पद तक जा सकते थे। उन्नति का मार्ग खुला था।

राज्य में वर्ण या वर्ग विभेद सरकारी मामलों में नहीं था। सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली और मजबूत सेना से सुरक्षित पूरे साम्राज्य में नागरिकों को बिना किसी भेद-भाव के घूमने-घामने की आज़ादी थी। व्यापार की उन्नति खूब हुई। जालों की तरह बिछी सड़कों और समुद्रों में स्वच्छन्द विचरती हुई नावों के द्वारा व्यापारी भारत और सुदरपूर्व प्रायद्वीपों से तिजारत करते थे। अफ्रिका, अरब और भारत के पश्चिम तट पर रोमन उपनिवेश स्थापित हुये थे। पश्चिम योरप में पूर्वीय देशों के मसाले, रत्न-जवाहर, रेशमी कपड़े, इत्र और चन्दन का प्रचार हो गया। रोमन साम्राज्य में किमती फैशन का बोलबाला था। प्लिनी ने रोमन धन का इस अपव्यय की कठोर भर्त्सना की है।

पूर्वीय देशों के ऐश्वर्य का प्रभाव रोमनों के चरित्र पर बुरा ही हुआ। गुलामों की दशा बिगड़ती गई। अहंकार, ईर्षा और कृत्रिमता का महत्त्व रोम में बढ़ता गया। गरीब जनता में उच्छृंखलता व्यसन, और आमोद-प्रमोद की वृद्धि हुई। रोमन साम्राज्य के पतन में इस प्रवृति का बड़ा हाथ है।

पर रोमनों के स्वाभाविक चरित्र-गुण स्पृहणीय हैं। आज्ञापालन, अनुशासनव्रत, कर्त्तव्यपरायणता और उदारता रोमनों के विशेष गुण थे। इन्हीं कारणों से उनकी इतनी उन्नति हुई। अवनतोन्मुख यूनानी संस्कृति और पूर्वीय विलासी सामग्रियों के प्रभाव से उनका चरित्र का पतन हो गया। पर होरेस और वर्गिल ऐसे महान् राष्ट्र कवियों ने रोम के पुनरोत्कर्ष पर विश्वास का राग गाया, उनके चरित्रोत्थान का संदेश सुनाया और रोम का स्वर्णयुग लौटेगा ऐसा विश्वास पैदा करने की कोशिश की। औगस्टसयुग में इस ओर कदम उठाया गया। रोम के साम्राज्य का पुनर्संगठन किया और सभ्यता को निरापद फैलाने का भार स्वयं लिया। रोम इस कारण अमर है, और यह कहावत कि संसार की सभी सड़कें रोम में मिलती हैं, कुछ हद तक सत्य है।

प्राचीन भारतीय सभ्यता

प्राचीन सभ्यताओं में भारतीय सभ्यता का विशिष्ट स्थान है। चीन, मेसोपोटेमिया और मिश्र की समकालीन सभ्यताओं से भारतीय सभ्यता कि विशेषता यह है कि जब अन्य प्राचीन सभ्यताएं विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गई, और उनका महत्व साधारणतः शास्त्र-सम्बन्धी ही रह गया, भारतीय सभ्यता जीती जागती है और अति प्राचीन काल से लेकर आज तक इसकी शृंखला कभी टूटी नहीं। इसलिए-प्राचीन भारतीय संस्कृति की सर्वांगपूर्ण विरासत शास्त्रीय महत्व के अलावे व्यवहारिक महत्व रखती है। वर्तमान भारतीय संस्कृति व भावनाओं को समझने के लिए प्राचीन संस्कृति का ज्ञान आवश्यक है। सदियों से गुलाम रहने के बाद आज भारत स्वतन्त्र है, और इस समय सभी क्षेत्रों में नवजीवन का संचार हो रहा है। इस समय प्राचीन भारतीय संस्कृति का ज्ञान हमें उत्साहित करेगा, पथप्रदर्शन करेगा।

ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि

प्राचीन भारतीय सभ्यता का विकास का उचित ज्ञान के लिए हमें उस समय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को आधार बनाना चाहिये। धर्म, कला, समाज या दर्शन, राजनीति और अर्थशास्त्र की प्रगति या अवरुद्धता शून्य में नहीं वरन् ऐतिहासिक शक्ति और प्रभावशाली व्यक्तियों के कार्यक्षेत्र में ही सम्भव हो सकी। पर भारतवर्ष का इतिहास का उचित मूल्यांकन के लिए हमें इस देश की भौगोलिक विशेषता को भी ध्यान में रखना है। उत्तर में बर्फ से ढका हुआ हिमालय, पश्चिम में हिन्दुकुश का पहाड़ और अरब का सागर, पूर्व में बर्मा के पहाड़ और बंगाल की खाड़ी, और दक्षिण में हिन्द महासागर है। इस तरह प्रकृति ने भारत को चारो तरफ से घेर कर अलग रखा है। इसका यह परिणाम हुआ कि साधारणतः बाहरी आक्रमणों के झकझोरों के बावजूद यह बराबर अपने निश्चित पथ पर चलता रहा। पर यह समझना गलत होगा कि विदेशी प्रभाव से यहां की सांस्कृतिक धाराएं बची रहीं। उत्तर-पश्चिम में कई घाटी (Pass) है, जैसे खैबर और बोलन की घाटी जिनसे होकर विदेशी जातियां भारत पर आक्रमण करती रही हैं, जैसे पर्शियन, यूनानी, बैक्ट्रियन, कुषान, हून, मौंगोल इत्यादि। इन आक्रमणों के अलावे भारत को पश्चिम-एशिया, और वहां से एशियामाइनर, मिश्र और योरप से व्यापारिक सम्बन्ध था। पूर्व में चीन और बर्मा, हिन्द-चीन, जावा-सुमात्रा इत्यादि देशों से भी घनिष्ट परिचय था। इस कारण भारतीय राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास बराबर ही समकालीन राजनीतिक, धार्मिक और प्रासंगिक आन्दोलनों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित रहा है, और अन्य देशों को स्वयं प्रभावित किया है।

भारत वर्ष को विन्ध्य और सतपुरा के पहाड़ और उनसे निकली नदियां दो प्रमुख भागों में बांट देती हैं, उत्तर और दक्षिण भारत। साधारणतः उत्तर भारत और दक्षिण भारत में स्वतन्त्र रूप से राजनीतिक व सांस्कृतिक विकास होता गया। पर भारत का एक भाग दूसरे भाग पर भी अपना प्रभाव डालता रहा। इसलिए भारत में कई देशीय (Regional) कला का विकास होता रहा, पर राष्ट्रीय एकता और संस्कृतिके भाव बचे रहे।

सिन्धुघाटी की पूर्णविकसित नागरिक सभ्यता के पतन के बाद ऋग्वेद-कालीन सभ्यता पञ्जाब पश्चिम संयुक्तप्रदेश और उत्तरी राजपूताना में फैल चुकी थी। ऋग्वेद में गंगा का उल्लेख सिर्फ एक बार आया है। गंगा-प्रदेश इस समय आर्यों के क्षेत्र से बाहर था। इस समय प्रमुख आर्य जातियाँ थी भारत, पौरव, आनव, द्रुह्यु इत्यादि। उत्तर वैदिक काल में आर्यों का विस्तार पूर्व में कोशल, मिथिला, दक्षिण में विन्ध्यपर्वत या नर्मदा तट तक, उत्तर में हिमालय व काश्मीर और उत्तर-पश्चिम में पूर्वीय अफगानिस्तान तक हो गया था। कौरव, यादव, हैहय इत्यादि प्रसिद्ध जातियां थी। पुराणों के आधार पर यह कहा जाता है कि श्री रामचन्द्र ने आर्यों का विस्तार सुदूर दक्षिण, लंका प्रायद्वीप तक किया। शनैः शनैः सारा भारतवर्ष प्रायः आर्य हो गया, यद्यपि दक्षिण भारत में द्रविड़ जातियां बच गईं, और उत्तर भारत में छोटानागपुर व उड़िसा में भी अनार्य जातियां अभीतक पाई जाती हैं। मगध बहुत दिनों तक ब्राह्मण सभ्यता का विरोध करता रहा, इसीलिए वैदिक साहित्य में इसकी बड़ी निन्दा पाई जाती है।

पूर्व वैदिक काल में अनार्यों से लड़ाइयां तो होती ही थी, आपस में भी आर्य जातियों में राज्य प्रसार के लिए युद्ध होता रहा। इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए क्षत्रिय राजा देवताओं के आशीर्वाद के लिए इच्छुक रहते थे, और इसलिए वे ब्राह्मण-पुरोहितों का बहुत आदर करते थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग एक दूसरे पर निर्भर करने लगे, और ये दोनों सत्ताधारी वर्ग बन गये। वर्णव्यवस्था का जन्म पर आश्रित

चि० ३०



पृ० ३०५ राजगृह के वैभारगिरि पर स्थित पिप्पलवा गुफा (जरासन्ध की बैठक)



पृ० ३०५ राजगृह की बाणगंगा का दृश्य और
पहाड़ पर चट्टानों से सजी हुई प्राचीन कोटबन्दी।

होना बहुत बाद की कहानी है, पर इसका आरम्भ ऋग्वेद के समय में ही देखा जा सकता है। एक मन्त्र में ब्राह्मण, राजन, वैश्य और शूद्र की तुलनात्मक स्थिति का वर्णन है, और समाज में इनका स्थान इसी आधार पर निश्चित किया गया है।

वैदिक काल में साधारणतः राजतन्त्र की ही व्यवस्था थी, और कुछ उत्साही राजा जैसे मान्धाता चक्रवर्ती और सम्राट् बनने की आकांक्षा रखते थे, और अश्वमेध यज्ञ किये थे। पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता का ही भीषण परिणाम महाभारत था जिसमें भारतवर्ष और पड़ोसी देश के सभी राजा एक या दूसरी ओर से डट कर लड़े, और भारत की राजनीतिक स्थिति कमजोर हो गई। देश छोटे २ कई राज्यों में बंट गया।

बौद्ध काल के आरम्भ में भारतवर्ष की यही दशा थी। सोलह प्रमुख राज्यों में भारत बंटा हुआ था। इस परिस्थिति का फायदा पड़ोसी पर्शियन् सम्राट् दरायुश ने लिया, और पंजाब और सिन्ध पर्शिया के साम्राज्य में मिल गये, वहां के छोटे २ प्रतिद्वन्द्वी राजाओं का अस्तित्व ही मिट गया। जब उत्तर-पश्चिम भारत में पर्शिया का सम्राट् दरायुश ने विदेशी प्रभाव के अन्तर्गत एकता लायी तब उत्तर पूर्व भारत को मगध ने एकता के सूत्र में बांधा। मगध का राजा बिम्बीसार ने अंग (भागलपुर-मुंगेर) को मगध में मिलाया, और काशी को दहेज में पाया। उसका पुत्र अजातशत्रु ने कोशल (काशी से पूर्व, सरयू नदी तक), वैशाली का वृज्जीसंघ (मिथिला, उत्तर बिहार) पर विजय पाई, और काशी को मगध में स्थायी रूप से मिला लिया। इसी वंश का राजा उदयन ने पाटलिपुत्र बसाया और मगध की राजधानी राजगृह से उठकर पाटलिपुत्र चली आई। मगध का राजा शिशुनाग और कालाशोक ने वत्स् (प्रयाग) और अवन्ति (मालवा) को अपने साम्राज्य में मिला लिया। महापद्मनन्द उग्रसेन ऐतिहासिक युग में प्रथम सम्राट् हुआ

हैं। इसका साम्राज्य पश्चिम में पञ्जाब तक, पूर्व में कलिंग (दक्षिण उड़ीसा), उत्तर में हिमालय और दक्षिण में गोदावरी तट तक फैला हुआ था। महापद्मनन्द लगभग ३८८ ई० पू० गद्दी पर आया। इसके उत्तराधिकारी इतने योग्य नहीं थे। साम्राज्य की प्रजा में बेचैनी थी।

पर तब भी मगध राजा की अपार सेना और असीम प्रतिष्ठा की सूचना से ही विजयी सिकन्दर की सेना की हिम्मत टूट गई। विश्वविजय का स्वप्न देखने वाला सिकन्दर ३२७ ई० पू० पंजाब पहुंच गया था। यहां भारतीय राजाओं की पारस्परिक ईर्ष्या व अनबन का फायदा उठाकर सिकन्दर व्यास नदी तक बढ़ आया। महावीर पोरस हार चुका था, और सिकन्दर ने उसकी मित्रता प्राप्त कर ली थी। पर अपने सिपाहियों की बेताबी के कारण सिकन्दर लौट पड़ा (३२५ ई०), रास्ते में दक्षिण पञ्जाब और सिन्ध में उसे छोटी-बड़ी प्रजातन्त्र-शक्तियों का कठिन सामना करना पड़ा। मालव, क्षुद्रक ऐसे स्वतन्त्रताप्रेमी गण-राज्यों ने सिकन्दर के छक्के छुड़ा दिये।

सिकन्दर उत्तर-पश्चिम भारत की देशीय शक्तियों को कमजोर कर गया था। वीर चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानियों के प्रति विरोधी प्रवृत्तियों का नेतृत्व किया। चाणक्य की मदद से नन्दराजा को मारकर मगध सम्राट् बन गया, और फिर विदेशी यवनों को मार भगाया। चन्द्रगुप्त मौर्य लगभग ३२२ ई० पू० मगध की गद्दी पर आया। समूचे उत्तर भारत को अपने अधीन कर लिया। कुछ तामिल प्रमाणों के आधार पर डेक्कन और दक्षिण-भारत को भी कुछ विद्वान चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के अन्तर्गत मानते हैं। पश्चिम में सौराष्ट्र उसके अधीन था, और सुदर्शन झील उसके समय में ही बांधा गया था। सीरिया का राजा सिकन्दर का सेनापति सेल्यूकस् ने ३०५ ई० पू० के लगभग यूनानी विजित-प्रदेशों पर फिर से अधिकार करना चाहा पर उसे चन्द्रगुप्त से हारना पड़ा। पूरा अफगानिस्तान और बेलूचिस्तान मौर्य साम्राज्य का अंग बन गया। यूनानी दूत



पृ० २०७ बुलन्दीबाग (पाटलीपुत्र) का मौर्यकालीन लकड़ी के किले की भीत

चि० ३२



पृ० ३१७ नालन्दा विश्वविद्यालय के भग्नावशेष

मेगास्थनीज चन्द्रगुप्त के दरबार में था, और उसने इस समय का विवरण लिखा है, जिसके कुछ उद्धरण अभी भी उपलब्ध हैं। चाणक्य या कौटिल्य चन्द्रगुप्त के महामंत्री थे और कौटिल्यशास्त्र से हमें मौर्य शासन-पद्धति के विषय में काफी जानकारी होती है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त का पोता अशोक प्रियदर्शी (२७३-२३८ ई० पू०) जगत् प्रसिद्ध है। कलिंग-विजय के उपरान्त अशोक ने युद्धनीति को तिलाञ्जली दे दिया, और धर्म-प्रचार में अपना पूरा समय दिया। अशोक के शिलालेख अभी भी उसकी महत्ता, आदर्श, उच्चधार्मिक उपदेश के गवाह हैं। विश्व के इतिहास में विजय प्राप्तकर राजप्रसार की नीति छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का प्रचार करनेवाला अशोक के सिवा और कोई नहीं है। इसके समय में बौद्धधर्म विश्वधर्म बन गया, और शांति, सदाचार और लोकहित के संदेश अशोक ने एशिया, पूर्वीय योरप और उत्तरी अफ्रिका में फैलाया। अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए इतना शक्तिशाली और निष्कपट राज-दूत कोई दूसरा अभीतक नहीं मिला है।

सम्राट् अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य का पतन बहुत शीघ्र हो गया। ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने १८७ ई० पू० मौर्यवंश का अन्त कर दिया, और शुंगवंश की स्थापना की। इसीके समय में यवन (डेमेट्रिअस) दत्तमित्र और मेनेन्डर का आक्रमण हुआ। मेनेन्डर तो शायद पाटलिपुत्र तक पहुँच गया था। भाग्यवश गृहयुद्ध के कारण यूनानी लौट पड़े, पर इससे मगध राज्य का पुनरुत्थान न हुआ। दक्षिण भारत (Deccan) के आन्ध्रों ने शुंगों की रही सही शक्ति का नाशकर दिया।

भारत की राजनीतिक दशा बिगड़ती गई। बैकट्रिया के यूनानियों ने पंजाब पर अपना पूरा अधिकार कर लिया था। सिन्ध भी उनके अधीन हो था। पर मध्य एशिया से इसी समय (ईसा से दूसरी शताब्दी पूर्व में) हूणों और यूएची (Yue-chi) का देशान्तर-भ्रमण शुरू हुआ और भारत इस आन्दोलन से बच न सका। यूनानियों और पार्थियों की ताकत कुशानों

ने खत्म कर दी। कुशान यू-एह-ची जाति की एक शाखा थे। केडफिसिस प्रथम और द्वितीय ने पूर्वी अफगानिस्तान और पंजाब और काश्मीर पर अपना अधिकार जमा लिया था। इसी वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा कनिष्क हुआ। यह ७८ ई० में गद्दी पर आया, और इसीने शक-सम्वत् चलाया। पुरुषपुर (पेशावर के समीप) इसकी राजधानी थी। इसका राज्य पूरब में बनारस या पाटलिपुत्र तक फैला था। सिन्ध भी इसके अधीन था। यह बौद्धधर्म का पोषक था, इसने बहुत से स्तूप और चैत्य बनवाए; अफगानिस्तान और मध्यएशिया और चीन में बौद्धधर्म फैलाया। विदेशी होते हुये भी भारतीय धर्म और साहित्य का इतना बड़ा पोषक कनिष्क के समान विरले ही गुजरे हैं।

कुशान-साम्राज्य विदेशी था। इस समय भारत में विदेशी प्रभाव खासकर रोमन या यूनानी प्रभाव भारत की कला और संस्कृति पर पड़ रहा था। राजनीतिक दासता तो प्रत्यक्ष थी। कनिष्क के बाद कुशान राजा इतने प्रिय नहीं रहे, और स्वतन्त्रता प्रेमी आर्जुनायन, यौधेय, कुनिन्द प्रभृति गणराज्यों ने पंजाब और मथुरा क्षेत्र से कुशान राज्य को उखाड़ फेंका। उत्तर भारत में कई नई शक्तियां उठ खड़ी हुईं। भारत के दिन गुप्तवंश के राजकाल में फिर लौटे। चन्द्रगुप्त प्रथम ३१९ ई० में राजगद्दी पर आया। पाटलिपुत्र गुप्त राजाओं की राजधानी थी। चन्द्रगुप्त के अभ्युदय में लिच्छवियों का बड़ा हाथ था। लिच्छवियों की राजकुमारी कुमारदेवी से उसका ब्याह हुआ था। चन्द्रगुप्त-कुमार देवी के पुत्र समुद्रगुप्त बहुत बड़ा विजेता निकले। उन्होंने आर्यावर्त के राजाओं को हराकर उनके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। डेक्कन और पूर्वतटवर्ती राजाओं को भी हराया। पर दक्षिण दिग्विजय के बाद उन्होंने हारे हुये राजाओं को उनका राज्य वापस कर दिया, और उनसे अपनी अधीनता स्वीकार करा कर ही सन्तुष्ट हो गये। देशी और विदेशी पड़ोसी राज्य समुद्रगुप्त से मैत्री के लिए इच्छुक हो गये। सम्राट्

समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया। ये पराक्रमी विजेता ही नहीं वरन् विद्वान, कवि और संगीतप्रेमी थे। इनके पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों को मालवा और गुजरात से भगाकर भारत को विदेशियों के चंगुल से छुड़ाया। दान और विद्याप्रेम में इनका सानी विरले ही राजा कर सकते हैं। महाकवि कालीदास इनके दरबार के नवरत्नों में थे। विक्रमादित्य के बाद कुमारगुप्त-प्रथम राजा हुये। इनके अन्तिम दिनों में हूणों का आक्रमण हुआ। युवराज स्कन्दगुप्त ने राजवंश को बचा लिया, और हूणों को बुरी तरह हराया। हूणों ने, जिन्होंने पश्चिम में रोमन साम्राज्य को जर्जर कर नष्ट कर दिया, भारत में वीर स्कन्दगुप्त के हाथों गहरी हार खाई। स्कन्दगुप्त के बाद अन्तिम प्रसिद्ध गुप्त सम्राट् बुधगुप्त हुआ जिसका राज्य बंगाल से लेकर मालवा तक विस्तृत था। बुधगुप्त के बाद (४९५ ई०) गुप्त साम्राज्य का ह्रास तेजी से होने लगा। हूणों के नेता तोरमाण और मिहिरकुल ने पञ्जाब, मालवा, मध्यभारत प्रभृति प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया। गुप्तराजवंश के प्रतिद्वन्द्वी राजकुमारों में भी अनबन शुरू हो गई। कोई योग्य और जनप्रिय सम्राट् नहीं निकले। हूणों की शक्ति नरसिंहगुप्त बालादित्य और मालवा का जननेता यशोधर्मन-विष्णुवर्धन ने (५३२ ई० पू०) नष्ट कर दिया। पर गुप्त साम्राज्य का अन्त न टल सका।

उत्तर भारत में जो एकता स्थापित थी, वह खत्म हो गई। देश में कई शक्तियां होड़ में शामिल हो गईं। सभी अपना प्रभुत्व समूचे उत्तर भारत पर स्थापित करना चाहते थे। मालवा में गुप्त, पश्चिम बंगाल (गौड़) में शशांक, मौखरी कन्नौज में और वर्धन थानेश्वर में, अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। इनमें टक्कर होना जरूरी थी। मालवराज देवगुप्त ने मौखरी राजा ग्रहवर्मन को मार डाला। देवगुप्त से बदला लेने के लिए ग्रहवर्मन का साला राज्यवर्धन थानेश्वर से चल पड़ा। देवगुप्त तो हार गया, पर उसका मित्र शशांक ने राज्यवर्धन को सम्भवतः कपट नीति

अपना कर मार डाला (६०६ ई०)। इसी नाजुक समय पर थानेश्वर की गद्दी पर राज्यवर्धन का छोटा भाई हर्षवर्द्धन आया।

सम्राट् हर्षवर्द्धन एक महान् व्यक्ति थे। इस संकटकाल में इनने अद्भुत साहस और राजनीतिज्ञता दिखाई और अन्त में उत्तर भारत के बहुत बड़ा भाग पर अपना राज्य स्थापित कर लिया; पूर्वी पञ्जाब, यू० पी० मगध, बंगाल और उड़ीसा इनके राज्य के अन्तर्गत थे। सिन्ध के राजा पर भी इनने विजय प्राप्त की थी। डेक्कन की ओर बढ़ने में चालुक्य राजा पुलेकेशी द्वितीय ने इन्हें सफलतापूर्वक रोक लिया था। तब भी उत्तर भारत में अशान्ति व अराजकता के स्थान में हर्षवर्द्धन ने एक राजनीतिक सत्ता और शासन स्थापित कर लिया था। इस विस्तृत साम्राज्य में शान्तिपूर्ण शासन के कारण कला और विद्या की आशातीत प्रगति हुई। प्रसिद्ध चीनी विद्वान यूआन-च्वांग इसी समय भारत आया था। उसने हर्षवर्द्धन के शासन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। नालन्दा विश्वविद्यालय जगत् विख्यात था। दूर २ से यहां लोग विद्या पढ़ने आते थे। हर्षवर्द्धन के समय में धार्मिक सहिष्णुता की नीति बरती जाती थी। सम्राट् अपने अन्तिम काल में बौद्ध हो गये थे पर तब भी शिव और आदित्य की पूजा करते थे, और ब्राह्मणों और जैनियों को दान देते थे। शासन कार्य सुचारु रूप से चलता था, और वे स्वयं कड़ी मेहनत करते थे।

हर्षवर्द्धन के मरने के बाद (६४६ ई०) देश में फिर गड़बड़ी मच गई। करीब १०० वर्ष के बाद बंगाल-बिहार में पालों ने, और कन्नौज में गुर्जर-प्रतीहारों ने देश में राजनीतिक एकता लाने का प्रयास किया। पर ये प्रयत्न टिकाऊ नहीं सिद्ध हुये, और १००० ई० से भारतवर्ष पर तुर्कों का आक्रमण होने लगा। प्राचीन हिन्दू भारत का पतन शुरू हो गया, और करीब १२०० ई० तक पूरा उत्तर-भारत मुसलमानों के आधीन हो गया।

पर विन्ध्यपर्वत के दक्षिण पल्लव और चालुक्य उत्तर-भारत के इतिहास से उदासीन होकर अपना काम करते रहे। इस युग में दक्षिण में प्रशंसनीय मंदिर बने, पहाड़ों के चट्टान काट कर सुन्दर मंदिर बनाये गये। भारत की वास्तुविद्या के इतिहास में दक्षिण भारत ने काफी योगदान दिया है।

भारतीय संस्कृति के विभिन्न अंगों का विश्लेषण उपरोक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर ठीक २ समझा जा सकता है। जब भारत में केन्द्रीयकरण की शक्तियों का विकेन्द्रीय शक्तियों पर विजय हुआ, अर्थात् जब जब राजनीतिक एकता और शासन देश के बड़े भाग पर स्थापित हुआ तभी देश में कला और संस्कृति की ज्योति खूब फैली और चमकी। आज जब सारा भारत (पाकिस्तान छोड़कर) एक है तब सभ्यता की उन्नति की आशा स्वाभाविक है। पर हमारी सभ्यता विदेशियों की नकल न होकर भारतीय प्रतिभा व व्यक्तित्व के आधार पर हो, इसलिए प्राचीन हिन्द-सभ्यता की रूपरेखा जानना आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति की रूपरेखा

संसार के इतिहास में किसी प्राचीन संस्कृति का इतना दृढ़ और व्यापक रूप वर्तमानकाल में नहीं मिलता जितना कि भारतीय संस्कृति का। इसका विशेष कारण है कि भारतीय कला, धर्म और भाषा—संस्कृति के विशिष्ट अंग—का ध्येय और विषय तत्कालीन नहीं वरन् शाश्वत और अध्यात्मिक रहे हैं। हमारे कलाकार अपनी मूर्तियों में बाह्य सौन्दर्य से अधिक आन्तरिक व अध्यात्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति पर अधिक ध्यान देते थे। मर्मज्ञ साहित्यिक अपनी पुस्तकों में मानव-कल्याण और विश्व-सौहार्द का राग अलापते थे। महान् दार्शनिक धर्म और दर्शन का सूक्ष्म विवेचना करते थे और वैयक्तिक व स्थानीय वाद-विवाद के दलदल से दूर, मानव मात्र का क्या लक्ष्य होना चाहिये, और परिस्थिति के अनुकूल उनका क्या धर्म व नियम होना चाहिये, इन अमर-सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया करते थे। इस कारण प्राचीन भारतीय सभ्यता का प्रभाव भारतीय-आत्मा पर इतना दृढ़ और परिप्लुत रूप से पड़ा है कि कितने संकट और व्यापक उलट-फेर के बावजूद भारतीय प्रतिभा और परम्परा की नींव पर हमारी सभ्यता अभी भी टिकी है। भारतीय संस्कृति का अबतक एक जीवित-शक्ति के रूप में स्थित रहने का एक कारण यह भी है कि इसकी प्रगति कभी रुद्ध नहीं हुई। अपने खास रूप को बिना विकृत किये इसने अपने विशाल और उदार हृदय में अपने सम्पर्क में आई हुई सभ्यताओं को, भावनाओं को और विदेशी गुणों और जातियों को स्थान दिया। इस तरह भारतीय सभ्यता एक लीक की फकीर न बनकर बराबर अन्य सभ्यताओं से शक्ति लेती रही और इस तरह पुराने और नये, देशी और विदेशी गुणों का सामञ्जस्य होता रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय सभ्यता दकियानूसी न रहकर प्रगतिशील रही, और उसका प्रभाव राष्ट्रीय

न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय रहा। भारतीय सभ्यता विश्व की प्रगति के साथ २ चलती रही, और इसीलिए अभीतक जीवित भी है, और एक प्रभावशाली शक्ति है, जिसका समुचित उपयोग कर भारत फिर संसार में अपना लुप्त स्थान प्राप्त कर सकता है।

भाषा और साहित्य।

हरप्पाकालीन भाषा का ज्ञान हमें नहीं है। भारतीय भाषा का सबसे प्राचीन रूप ऋगुवैदिक भाषा है। भाषाशास्त्र के विद्वान इस भाषा को अत्यन्त परिष्कृत, ओजस्वी, ललित और विकसित समझते हैं। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि आर्यों की सबसे प्राचीन भाषा का उदाहरण यही है। वैदिक और उत्तरवैदिक और हिन्दूकालीन साहित्य के अध्ययन से भाषा का विकास का पूरा पता चलता है। भाषा बराबर विकसित होती गई, और अन्त में पाण्डित्यपूर्ण संस्कृत (Classical Sanskrit) के रूप में अवतीर्ण हुई। प्राकृत भाषाओं (Vernaculars) का भी, जैसे पाली और प्राकृत का, ऐतिहासिककाल में पूर्ण विकास हुआ। बौद्ध धर्म-ग्रन्थ व जातक, और मौर्यकालीन शिलालेख इसके प्रमाण हैं। भारत में लिखने की कला का ज्ञान बहुत पहले हो गया था। हरप्पाकालीन लिपि पढ़ी नहीं गई है, पर यह निर्विवाद है कि मुद्राओं पर के चिह्न लिपि-सम्बन्धित हैं।

भारत क्या समूचे आर्य-संसार का सबसे प्राचीन साहित्य वैदिक साहित्य ही है। वेद चार हैं, ऋग्, यजुः, साम, और अथर्व। इनमें देवताओं के प्रति प्रार्थना है, देवताओं की प्रशंसा है, बुरेग्रहों को भगाने के मन्त्र हैं, और यज्ञ इत्यादि कर्मों की विधियां हैं। वैदिक साहित्य काफी ऊँचे दर्जे का है। ऊषा का वर्णन बड़े ही ललित और कवित्तमय ढंग से किया गया है। इन्द्र की प्रशंसा वीरगाथा के प्रथम उदाहरण है। कुछ प्रेमसंगीत भी हैं। सभी मन्त्र पवित्र भावों से ओतप्रोत हैं और कविता के सभी गुणों से सम्पन्न हैं। दार्शनिक भावों का

भी ऋग्वेद में समावेश है। माया और रूप का उल्लेख कई जगह आया है।

वेदों के बाद ब्राह्मण-युग आता है। ब्राह्मण-साहित्य का विषय यज्ञों और अन्य पूजाओं की विस्तृत विधियां हैं। यहां न दर्शन के गूढ़तत्व और न उच्च आदर्श पाये जाते हैं। कभी २ वीरों की गाथाओं का उल्लेख है जिनका ऐतिहासिक महत्व हो सकता है। यज्ञों के रहस्य व लक्षण का विवेचन आरण्यक-साहित्य में मिलता है। आरण्यक ब्राह्मण-साहित्य के अंग है, और अधिकतर जंगल में स्थित आश्रमों में लिखे गये होंगे। ब्राह्मण-साहित्य का सबसे प्रशंसनीय अंग है उपनिषद्। इनमें केनोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् व कठोपनिषद् प्रमुख हैं। ये उपनिषद् उच्च भाव व आदर्शों से प्रेरित हैं और वेदान्त के सिद्धान्तों के मूल हैं। यज्ञों से अधिक सदाचार व कर्म पर जोर देते हैं। दार्शनिक तत्वों पर—ब्रह्म और आत्मा के सम्बन्ध पर ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वादविवाद करते थे। राजा जनक और महर्षि याज्ञवल्क्य का उत्तरप्रत्युत्तर इसके उदाहरण हैं। संसार के सभी साहित्यों में, जो मूलसिद्धान्तों की विवेचना करते हैं और मानव के बौद्धिक विकास के प्रमाण है, उपनिषद्-साहित्य का सर्वोच्च स्थान है।

ब्राह्मण-युग के बाद बौद्धयुग का आरम्भ होता है। इस समय देश छोटे २ स्वतन्त्र राज्यों या गणतन्त्रों में बंटा था। पर साहित्यिक विकास होता रहा। भगवान बुद्ध के उपदेश लोकभाषा में होते थे और उनका संकलन पहले पाली भाषा में हुआ, और ये पाली साहित्य के सबसे प्रमुख भाग हैं। प्राचीन बौद्ध साहित्य जिसमें बुद्ध के उपदेश, बौद्ध धर्म के नियम इत्यादि हैं सभी पालीभाषा में हैं, और इस युग में पाली साहित्य की खूब वृद्धि हुई। पर संस्कृत-साहित्य की गति भी अवरुद्ध नहीं हुई। दो महाकाव्य रामायण और महाभारत इसी युग की कृति है। वीरों की गाथाएं खूब लिखी गईं। वाल्मीकि और व्यास महाकवि हैं। वाल्मीकि जो रामायण के लेखक है, उन्हें आदि कवि कहा

जाता है। पुरुषोत्तम राम इस काव्य के नेता हैं और उनकी कहानी बड़े अच्छे ढंग से कही गई है। व्यास महाभारत के लेखक हैं। महाभारत का मुख्य विषय है कौरव पाण्डव का महायुद्ध, पर इसमें पुराने उपाख्यानों का भी वर्णन है।

मौर्य-शक युग में साहित्य के विभिन्न अंगों का विकास हुआ। राजनीति विज्ञान में कौटिल्य लिखित कौटिल्यअर्थशास्त्र का स्थान सर्वोपरि है। पातञ्जलि का महाभाष्य पाणिनि के व्याकरण की टीका ही न रहकर संस्कृत व्याकरण के अध्ययन की मूलपुस्तक है। रुद्रदामन के समय का गिरनार शिलालेख की साहित्यक शैली प्रशंनीय है। इसी युग में बौद्ध धर्मग्रन्थ पाली में लिपिबद्ध हुये। अश्वघोष का लिखा बुद्धचरित्र इसी काल का है।

गुप्तकाल तो संस्कृत साहित्य के लिए स्वर्णयुग ही समझा जाता है। सम्राट् समुद्रगुप्त स्वयं ही उच्चकोटि के कवि थे। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में विद्वानों का बहुत आदर होता था, और दरबार के प्रोत्साहन से साहित्य के विभिन्न शाखाओं का अभूतपूर्व विकास हुआ। हरिसेन (इलाहाबाद प्रशस्ति का लेखक) और उसका पुत्र वीरसेन, कालिदास, दीग्नाग, विशाखदत्त इत्यादि महान विद्वान इसी युग के है। नाटकों में विशाखदत्त लिखित मुद्राराक्षस, कालिदास लिखित शकुन्तला उल्लेखनीय है। शकुन्तला का संसार के महान् नाटकों में ऊंचा स्थान है। काव्यसाहित्य में कालिदास का रघुवंश और प्रेमकाव्य में मेघदूत का स्थान बहुत ऊंचा है। वसुबन्धु और दीग्नाग ने बौद्ध दर्शन पर कई पुस्तकें लिखीं, जिसमें वसुबन्धु लिखित अभिधर्म-कोश सबसे प्रसिद्ध हैं। ज्योतिष में वराहमिहिर की बृहत्-संहिता का स्थान हमेशा सुरक्षित रहेगा।

गुप्त युग के बाद हर्ष का समय आता है। इस समय भी महाकवि बाण ने हर्षचरित और कदाम्बरी लिखकर संस्कृत के भण्डार की वृद्धि की। वाक्पतिराज ने प्राकृतभाषा में 'गौडवह' लिखा, और उत्तर-

रामचरित के लेखक भवभूति उनके समकालीन थे और यशोवर्मन के दरबारी कवि थे। ऐतिहासिक साहित्य में हर्षचरित, रामपालचरित, विक्रमांक चरित्र के अलावे काश्मीरी पंडित कल्हण लिखित राजतरंगिनी उल्लेखनीय है।

अतः प्राचीन भारतीय साहित्य का संक्षेप विवरण पढ़कर यह तो स्पष्ट हो जायगा कि संस्कृत साहित्य का भण्डार पूर्ण है। गद्य, पद्य, नाटक, ज्योतिष, दर्शन, धर्म, विज्ञान, इतिहास, जीवन-चरित्र, महाकाव्य, राजनीति शास्त्र, प्रभृति साहित्य के किसी भी अंग को लें, संस्कृत साहित्य में इन विषयों पर प्रामाणिक ढंग से सुन्दर पुस्तकें मिल जायगीं। संस्कृत साहित्य के इतना धनी साहित्य कोई नहीं है और इसके सभी अंग पूर्ण विकसित हैं। जीवन के प्रत्येक पहलू पर संस्कृत में पूरा लिखा गया है। किसी भी संस्कृति की आत्मा उसका साहित्य है। और भारतीय संस्कृति कितनी उन्नत और विकसित है इसका पता हमें संस्कृत साहित्य के अक्षय भण्डार से मिलता है। आज भी हम अपने इस प्राचीन साहित्य से हर दिशा में प्रेरणा और उत्साह पा सकते हैं। संसार के सभी विद्वान मुक्तकण्ठ से संस्कृत साहित्य की प्रशंसा करते हैं, और विश्वसभ्यता को संस्कृत का चिर ऋणी मानते हैं। हमारी संस्कृति की गरिमा संस्कृत-साहित्य की अमरता और सम्पन्नता पर आश्रित है।

शिक्षा और विज्ञान।

शिक्षा के क्षेत्र में भारत ने अतुलनीय प्रगति की। वैदिकयुग में शिक्षा का बहुत महत्व था। वाक्पटुता और विद्वत्ता के बल पर ही सभा और समितियों में सदस्य अपना प्रभाव जमा सकते थे। उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचारी विद्यार्थी गुरुकुल पढ़ने जाते थे। इसे नया जन्म समझा जाता था, और गुरु पितातुल्य थे। प्राचीन भारत में विद्यार्थी गुरु के आश्रम में जाकर पढ़ते थे, और निःशुल्क शिक्षा दी

जाती थी। आश्रम के सभी काम, गुरुपरिवार की सेवा और भिक्षा मांगना विद्यार्थियों का काम था। विद्यार्थियों को सदाचार, निस्वार्थ सेवा और नैतिक आदर्शों का भाव हृदयंगम कराया जाता था। सिर्फ पाठ रटना ही नहीं वरन् व्यवहारिक जीवन में सफलता पाने की ओर उच्च सामाजिक और नैतिक सिद्धांतों का पालन करने की क्षमता ही शिक्षा का मूल ध्येय था। गुरु की इज्जत बहुत थी, और आश्रम में पहुँच कर राजा भी राजसी ठाठ छोड़ देता था। राजा दुष्यन्त महर्षि कण्व के आश्रम में पहुँचने पर रथ छोड़ पैदल चलने लगे थे। महर्षि वशिष्ठ की प्रतिष्ठा मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र कितना करते थे, यह सर्वविदित है। इन आश्रमों में ही उच्च से उच्च शिक्षा दी जाती थी। उपनिषद् ऐसे दार्शनिक ग्रन्थ, ज्योतिष, विज्ञान, चिकित्साशास्त्र, व्याकरण, इतिहास और महाकाव्य यहीं लिखे गये। पहले तो शिक्षा का माध्यम कण्ठस्थ करना ही था, पर पीछे लिखित पुस्तकों का अध्ययन होने लगा।

बौद्धयुग में हजारों मठों और विहारों की स्थापना हुई, और यहां बौद्धदर्शन और धर्म की शिक्षा दी जाने लगी। धीरे २ अन्य विषयों की भी पढ़ाई होने लगी। इस तरह बौद्धविहार शिक्षा-प्रसार के माध्यम हो गये। गुप्तकाल में नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। संसार में यह पहला शिक्षण और निवास-सम्बन्धी (Teaching and Residential) विश्वविद्यालय था। प्रत्येक विद्यार्थी को यहां निवास करना अनिवार्य था। चीनी यात्री युआन-च्वाग भारत में हर्ष के समय में आया था। उसने इस विश्वविद्यालय का सन्तोषप्रद विवरण दिया है। यहां १०००० विद्यार्थी निवास करते थे और १००० शिक्षक थे। इस विश्वविद्यालय में भर्ती होने के लिए परीक्षा देनी पड़ती थी। सैकड़े बीस ही पास करते थे। तब भी १०००० विद्यार्थी थे, इससे इस विद्यालय की महत्ता और लोकप्रियता सिद्ध होती है। करीब १०० लेक्चर रोज दिये जा`थे।

विद्यार्थियों व शिक्षकों के रहने का सुन्दर प्रबन्ध था। गगनचुम्बी अट्टालिकाएं थीं जिनमें सभी सुविधाएं प्राप्त थीं। खाने-पीने के लिए मक्खन, घी, दूध, बढ़िया चावल और गेहूं नालन्दा के समीप के गांवों से आ जाते थे। ये गांव नालन्दा को दान दिये गये थे। वातावरण शान्त और प्राकृतिक सौंदर्य—तड़ाग व घने वृक्षों से भरा-पूरा था।

युवान-च्वांग ने स्वयं यहां कई वर्षों तक रह कर अध्ययन किया; कितनी किताबों की नकल की, और बहुत सी पुस्तकों की नकल लेकर चीन वापस गया। उसने नालन्दा के कुलपति शीलभद्र की विद्वता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इस विश्वविद्यालय में बौद्धदर्शन व साहित्य की ही शिक्षा नहीं वरन् वेद, वेदान्त, चिकित्साशास्त्र, तर्कशास्त्र प्रभृति विद्या की अन्य शाखाओं की शिक्षा का भी प्रबन्ध था। नालन्दा की कांसे की मूर्ति बनाने की कला स्तुत्य है। इस विश्वविद्यालय की विश्व-बन्धुत्व की भावना, और धर्म व विचार की उदारता श्लाघ्य है। तभी तो जापान, कोरिया, मध्यएशिया के विद्वान यहां पढ़ने आते थे। नालन्दा के पंडित पद्मनाभ, कुमारजीव, संघमित्र इत्यादि ने भारत की ज्योति, भारत का शांतिसंदेश चीन, तिब्बत इत्यादि देशों में फैलाया। भारत का सांस्कृतिक व धार्मिक प्रभाव दूर-दूर फैला। गुप्त सम्राटों ने इस विहार की स्थापना की थी। सम्राट् हर्षवर्धन ने भी इस पुण्य कर्म में हाथ बँटाया, और पालकाल में यही स्थिति बनी रही। यवद्वीप (जावा) का सम्राट् बलपुत्रदेव ने देवपाल की अनुमति से एक मंदिर नालन्दा में बनवाया था। नालन्दा का नाश मुसलमानों के आक्रमण के सिलसिले में हो गया। उसके भग्नावशेष अभी भी नालन्दा (बिहार-शरीफ से ६ मील दक्षिण) गांव में पाये जाते हैं। भारत सरकार के पुरातत्वविभाग ने इस स्थान की खुदाई भी की है और भव्य इमारतों का पता चलाया है, सैकड़ों कांसे व पत्थर की मूर्तियां मिली हैं, काफी मुहरें व ताम्रपत्र भी मिले हैं। नालन्दा बिहार का नहीं वरन् भारत का

चि० २३



पृ० ३१८ नालन्दा का एक स्तूप

चि० ३४



(पृ० ३३३) अशोक के समय का सिंह-शिरायुक्त शिला-स्तम्भ
(लौरिया-नन्दनगढ़ : चम्पारन)

गौरव है और विश्वबन्धुत्व के प्रचार में सदा प्रेरक रहेगा। हाल ही में राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र प्रसाद ने नालन्दा में नव-नालन्द महाविद्यालय की स्थापना की है।

पालयुग में भागलपुर जिला-स्थित पाथरघाटा के समीप विक्रमशिला विश्वविद्यालय की स्थापना आठवीं या नवमीं शताब्दी में धर्मपाल या देवपाल के समय में हुई थी। यह भी शिक्षण विश्वविद्यालय था, और हजारों विद्यार्थी यहां शिक्षा प्राप्त करने आते थे, इनमें बहुत से विदेशी भी थे। विक्रमशिला के महान् पंडित 'अतिश' ने तिब्बत में जाकर भारतीय सभ्यता व धर्म का प्रचार किया, और वहीं वे मरे भी। पालयुग में वर्तमान बिहार शरीफ में ओदन्तपुर महाविहार (विश्वविद्यालय स्थापित था। इसी विश्वविद्यालय के आधार पर तिब्बत में महाविहारों की स्थापना हुई। यहां के विद्वानों ने तिब्बत प्रभृति देशों में विद्या और भारतीय संस्कृति का प्रचार किया। इस क्षेत्र में इतने विहार थे और इतनी बड़ी संख्या में बौद्ध भिक्षु व शिक्षार्थी थे इस स्थान का नाम ही बिहार पड़ गया। बख्तियार खिलजी ने इस विहार को नेस्तनाबूद कर दिया और सैकड़ों अहिंसा के पुजारी और शान्ति के प्रचारक बौद्ध-भिक्षु तलवार के घाट उतारे गये। पालयुग में बंगाल में भी करीब दर्जनों विश्वविद्यालय (महा विहार) थे, जिनमें जगद्दल, महास्थान इत्यादि प्रमुख हैं। पूर्व-एशिया के द्वीपों में से इन विहारों का घनिष्ट सम्बन्ध था।

शिक्षा के क्षेत्र में इन विश्वविद्यालयों ने भारत और विश्व को चिरऋणी बना लिया है।

प्राचीन काल में भारतवासी सिर्फ आत्मा और परमात्मा की खोज में ही खोए नहीं रहते थे, बल्कि विज्ञान के विभिन्न विषयों पर बराबर अनुसन्धान करते रहे, और गणित, ज्योतिष, ज्यामिति, चिकित्साशास्त्र और रसायनशास्त्र के भाण्डार में पर्याप्त योगदान दिया। ऋग्वेद में भी वैद्यों का उल्लेख आया है, यक्ष्मा इत्यादि रोग का पता था। रोग निदान के लिए दवाइयों के साथ साथ जप-तप, जन्तर-मन्तर पर

भी विश्वास किया जाता था। कुछ मन्त्रों से यह पता चलता है कि शल्यशास्त्र (Surgery) का भी कुछ ज्ञान था। कटे हुए पैर के बदले लोहे का पैर बना कर काम चलाया जाता था। हड्डी टूटने या इसमें मोच आने पर जोड़ने की कोशिश की जाती थी। औषधियों का इतना महत्व दिया जाता था कि एक पूरा मन्त्र (Hymn) औषधियों की प्रशंसा व प्रार्थना ही है। अशोक ने औषधियों या जड़ी-बूटी की खेती पर भारत और दूरस्थित मित्र राज्यों में ध्यान दिया था। बूढ़े को जवान बनाने का—(कायाकल्प) उपाय मालूम होगा तभी तो च्यवन ऋषि फिर युवा हो सके थे। पानी में डूबे आदमी का इलाज ऋग्वेद के समय में भी होता था। आंख का इलाज में भारतीयों ने काफी उन्नति की थी। आंख की नष्ट रोशनी को फिर से लौटाने की कोशिश की जाती थी। बहते खून को रोकने के लिए बालू से भरे थैले का व्यवहार किया जाता था। शल्यशास्त्र की उन्नति खूब हुई, और बड़े २ जख्मों को चीरा जाने लगा। आंख का ऑपरेशन भी होता था। टूटी हड्डी काट कर दूसरी हड्डी लगायी जाती थी। चिकित्साशास्त्र में चरक और सुश्रुत के नाम अमर हैं। वर्तमान आयुर्वेद उनके सिद्धान्त पर ही स्थित है। पर इनके पहले मगध सम्राट बिम्बिसार का निकट सम्बन्धी जीवक बड़ा प्रसिद्ध चिकित्सक था, और गन्धारदेश के राजा का रोगनिदान करने भेजा गया था। प्राचीन भारतीय चिकित्सक औषधि से अधिक उपचार पर, रोगनिदान से अधिक रोग रोकने के साधन पर जोर देते थे। सफाई का बड़ा ख्याल था। हिन्दू-धर्म व सामाजिक नियमों में स्नान, हाथ-पैर धोना, और घर-द्वार ठीक से लीपना इत्यादि पर जो महत्व दिया गया है उसका असल मतलब स्वास्थ्य व जनस्वास्थ्य की बेहतरी ही था। हिन्दू चिकित्सा-विज्ञान का प्रभाव विदेश पर भी पड़ा। अरब के विद्वानों ने कई पुस्तकों का अनुवाद किया। खलीफा हारूनलरशीद का इलाज भारतीय चिकित्सक मणिक्य ने किया था।

ज्योतिष शास्त्र में प्राचीन भारतीयों ने अद्भुत प्रतिभा दिखाई। ऋग्वेद काल ही में कुछ तारों का पता लगा लिया गया था। उत्तर वैदिक युग में तिथि, चन्द्रमा और ग्रहदशाओं का पता उन्हें था। सौर-मार्ग को २७ भागों में बाँटा गया था, जिनमें से प्रत्येक को नक्षत्र कहते थे। महान् ज्योतिषाचार्यों में आर्यभट्ट और वराहमिहिर का नाम स्तुत्य है। आर्यभट्ट (जन्म ४७६ ई०) ने यह पता लगा लिया था कि पृथ्वी गोल है, सूर्य के चारों ओर घूमती है और संसार में गुरुत्वाकर्षण (Law of gravitation) जारी है। वराहमिहिर ने ज्योतिषशास्त्र में प्रचुर योगदान दिया, पर उन्होंने मुक्तकण्ठ से विदेशी यवन और रोमन का ऋण स्वीकार किया और कहा कि विदेशी होते हुये भी वे ऋषितुल्य पूज्य हैं। भारतीय ज्योतिष में रोमन-ज्योतिष को मान्यता मिली और रोमक-सिद्धान्त इसका प्रमाण है। ब्रह्मगुप्त (जन्म ५९८ ई० को) एक महान् ज्योतिषाचार्य हो गये हैं। उनकी प्रसिद्ध पुस्तकों का अरब विद्वानों ने अनुवाद किया, और फिर अरबों से योरोपियनों ने पाया। दक्षिण भारत में भास्कराचार्य प्रसिद्ध हैं। उनकी पुस्तक सिद्धान्तशिरोमणि प्रामाणिक ग्रन्थ समझी जाती है। महाविद्वान अल्बेरुनी ने भारत में ज्योतिष पढ़ा था।

गणित में भारतीय विद्वानों ने क्रान्तिकारी खोज की है। एक से नौ संख्या तक लिखना सभी देशों को मालूम था। पर दहाइयों के लिए भी अलग अलग अंक थे, और सैकड़ों के लिए भी। उदाहरण में रोमन अंक ले लें। इसमें दस (X) के लिए एक चिन्ह, पच्चास (L) के लिए एक, और सौ (C) के लिए एक। इस तरह बड़ी संख्याओं को लिखने में बहुत जगह भरना पड़ता था। भारतवर्ष ने शून्य का आविष्कार किया, और किसी अंक के दाहिने शून्य दे देने से उस अंक का दशगुण समझना चाहिए, यह अनुसन्धान भारतीय विद्वानों ने किया। भारतीय अंक व गणना विधि अरबों ने सीखी, और अरबों से यूरोपिअनों ने। दशमलव

का व्यवहार भी भारत में ही शुरू हुआ। लीलावती प्रसिद्ध गणितज्ञ हुई हैं। गणित और ज्योमिति में भारत की देन अमर है, और यह देन बहुत कारगर सिद्ध हुई है। आर्यभट्ट और लीलावती का संसार सदा ऋणी रहेगा।

रसायनशास्त्र (Chemistry) के विकास में महान् विद्वान नागार्जुन ने युगान्तकारी खोज की। भारत में पारा (Mercury) का योग बनाने की विधि का ज्ञान उन्हें ही पहले पहल हुआ। अलबेरूनी, जो महमूद गजनी के साथ भारत आया था, यहां की रसायनविद्या के करिश्मे देखकर भौंचक रह जाता था। कृत्रिम सोना बनाना, लोहे में कुछ रसायन मिलाकर उसे मजबूत बनाना, रसायन के बल पर सुवर्ण बना लेना यह सब भारतीय रसायनिकों के लिए मामूली बात थी।

अतः यह स्पष्ट है कि भारत में प्राचीन काल में विज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। भौतिक विद्या का विकास संसार में सुख व समृद्धि प्राप्त करने के लिए ही होता था। पर ये वैज्ञानिक विदेशों की वैज्ञानिक प्रगति से अपने को दूर नहीं रखते थे, और बराबर विदेशी ज्ञान व विज्ञान को अपनाने के लिए तैयार रहते थे, विद्वानों की कद्र करते थे, देशी हों या विदेशी। इसी आदान-प्रदान के कारण ही इस दिशा में प्रगति होती रही। जब भारतीयों ने अपने ज्ञान-कपाट दूसरों के लिए बन्द कर लिये, और अपने आंख-कान विदेशी प्रभाव के लिए मूंद लिए तभी प्रगति रुद्ध हो गई। अलबेरुनी कहता है कि भारतीय विद्वान या वैज्ञानिक यह समझते हैं कि उन्हें किसीसे कुछ नहीं सीखना है; और वे अभिमानी हो गये हैं, अपने ज्ञान को दूसरे से एकदम छिपाकर रखते हैं, और विदेशियों को सन्देह और विरोध के भाव से देखते हैं। यह विचार ज्ञान-विज्ञान की प्रगति के लिए आत्मघातक सिद्ध हुआ। तभी तो मध्ययुग से लेकर १९वीं शताब्दी तक भारत ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में कूपमण्डूक बना रहा। इसका बुरा फल राजनीतिक और बौद्धिक क्षेत्रों में पड़ा।

धर्म

हरप्पावासी मातृदेवी और शिव (?) की पूजा करते थे। वे शायद मूर्तिपूजक थे। लिंग और योनि की पूजा होती थी, वृक्षों व कतिपय जानवरों का भी धार्मिक महत्व था। पर पूर्व-वैदिक काल में आर्य लोग देवता की मूर्ति की पूजा नहीं करते थे। प्रमुख प्राकृतिक शक्तियों की, जैसे आकाश (द्युः), पृथ्वी, मेघ और बिजली (इन्द्र), उषा, वायु और तूफान (मरुत) की पूजा होती थी। वरुण, अग्नि, सोम और इन्द्र प्रमुख देवता थे। वरुण धर्मप्रवर्तक व सृष्टि के नियम (ऋत) का पोषक था। प्रत्येक आर्यगृह में यज्ञाग्नि प्रज्वलित रहती थी। कोई भी यज्ञ बिना अग्नि के नहीं हो सकता था। 'सोम' एक पौधे को कहते थे जिसे पीसकर सोमरस बनाया जाता, और इसके पीने से शक्ति मिलती। सोम पीकर ही इन्द्र असुरों पर विजय प्राप्त कर सके थे। सोमरस देवों पेय था, और सोमयज्ञ वैदिक यज्ञों में महान था। इन्द्र शौर्य-वीर्य का देवता था। लड़ाई में देवताओं का नेता था और आर्यों का मददगार। इन्द्र की बहादुरी की कहानियाँ खासकर वृत्र का संहार मशहूर हैं। युद्ध में विजय प्राप्ति के लिए इन्द्र की प्रार्थना की जाती थी। वर्षा के लिए भी इन्द्र की ही पूजा की जाती थी, क्योंकि इन्द्र मेघ-देव था। अपने कार्यों में इन्द्र को मारुतों (Maruts) से काफी सहायता मिलती थी। पूर्व वैदिक काल में भी यज्ञ होते थे, और पुरोहित भी थे। पर उत्तर वैदिककाल में और ब्राह्मणयुग में यज्ञों और पूजाओं का महत्व बहुत बढ़ गया। गर्भ में आने से लेकर मरने तक मनुष्य का जीवन यज्ञों से परिपूर्ण था। यज्ञों की विधि पर बहुत ध्यान दिया जाता, और इस तरह धर्म के बाहरी रूप न कि तत्व पर महत्व दिया जाने लगा। ब्राह्मण-पुरोहितों की शक्ति बढ़ गई। यज्ञों में पशुबलि साधारण बात हो गई। नीचे तबके के लोग झाड़-फूंक, जन्तर-मन्तर पर बहुत विश्वास करते थे। बीमारी या बुरे दिन प्रेतों का अभिशाप समझे जाते थे, और इनकी शान्ति के लिए जपतप मनौती, ओझा-डाइन की मदद की जरूरत समझी जाती थी।

यज्ञों की असाधारण जनप्रियता और यथार्थ में धर्म की अवहेलना, और जीवों का संहार के विरुद्ध आवाजें उठने लगी। उपनिषदों में आत्मा और परमात्मा का ऐक्य, और कर्म की प्रधानता के सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये। सदाचार व सत्कर्म पर हिंसात्मक यज्ञों से अधिक महत्व दिया गया। उपनिषदों के महान् बौद्धिक विचारों की भीत्ति पर ही, बाद में, वेदान्त और अन्य दर्शन की उत्पत्ति हुई।

पर ब्राह्मणधर्म के विरुद्ध सबसे मुख्य आवाज महावीर और गौतम बुद्ध ने उठाई। इन्होंने ब्राह्मण धर्म की निन्दा की। प बलि की भर्त्सना की और पुनर्जन्म और कर्म-फल के सिद्धान्त का प्रचार किया। इन्होंने सदाचार अहिंसा इत्यादि को ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय बताया। जीव की शान्ति मुक्ति में ही है, जन्म मरण के फन्दे से बचने में ही है, और इस ध्येय की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण धर्म अयोग्य है, ऐसा विचार बौद्धों व जैनों का है। गौतम बुद्ध के समय में ही बौद्धधर्म राजाओं की मदद से और जनसाधारण के उत्साह से बिहार व कोशल प्रभृति देश में फैल चुका था। अशोक, कनिष्क और हर्ष के समय में यह धर्म खूब फैला, और भारत में ही नहीं वरन् अफगानिस्तान, तिब्बत, चीन, कोरिया, मध्य एशिया और मध्य-पूर्व देशों में बौद्धधर्म फैला, और पूर्व-योरप में भी अशोक के अमर उपदेश गये। पर गौतमबुद्ध व अशोक के समय का पवित्र और सीधा धर्म पीछे चल कर जटिल और अलंकृत हो गया। इस धर्म में भी देवताओं की कई पीढ़ियां बन गई। गौतम बुद्ध भगवान समझे जाने लगे, मूर्ति-पूजा होने लगी, और पूजा व धर्माचरण में रीतिरस्म और विधियों की प्रधानता हो गई। बौद्ध विहारों में अनैतिकता का प्रवेश हो गया था। मठों में ऐश्वर्य और कामदेव का प्रभाव छाने लगा। इसके अलावे हिन्दू-धर्म में भी कई शाखाएं निकली जिनमें वैष्णव पंथ प्रधान है। पशुबलि का विरोध और "अहिंसा परमोधर्मः" का सिद्धान्त यहां भी मान्य हो गया। शंकराचार्य ऐसे महान् विद्वान ने बौद्धधर्म का खोखलापन दिखला दिया। बौद्धधर्म में जो विशेषता थी, जो गुण थे

उसे हिन्दूधर्म ने अपना लिया और गौतमबुद्ध को विष्णु का एक अवतार समझा। अतः बौद्धधर्म का ह्रास हो गया। राजाओं की मदद भी नहीं हो मिलने लगी। परिणाम यह हुआ कि भारत में ही जन्मा और फूलाफला बौद्धधर्म भारत से निर्वासित हो गया।

जैनधर्म भारत से बाहर नहीं गया। आज भी राजपूताना, सौराष्ट्र और बम्बई प्रान्त में जैन लाखों की संख्या में पाये जाते हैं।

हिन्दू-धर्म में भक्ति-सम्प्रदाय का प्रभाव बढ़ गया। जन-साधारण वेदान्त के गूढ़ सिद्धान्त, ज्ञान और कर्म मार्गों से अधिक भक्तिपंथ की ओर आकर्षित हुए। भक्तिपंथ का बीज वेद में भी पाया जाता है। वरुण अपने भक्तों के पापों को हरता था, और उनके कष्टों का निवारण करता था। इस तरह भक्त और देवता में सामीप्य का भाव था। भक्ति मार्ग का यही आधार है। भागवत धर्म में विष्णु की उपासना का प्रचार बहुत हुआ। श्रीमद्‌भागवतगीता भक्ति-योग, ज्ञान मार्ग की अनुपम पुस्तक है। भागवत-धर्म इतना जन-प्रिय, आकर्षक या सुलभ था कि हेलियोडोरस नामक यूनानी दूत ने भी इस धर्म को अपनाया और ईसा से दूसरी शताब्दी पूर्व में उसने विदिसा (पूर्व मालवा) में भगवान वासुदेव के सम्मान में एक गरुड़ध्वज की स्थापना की। हिन्दूधर्म ने भारत में ही विदेशियों को आकर्षित नहीं किया बल्कि भारत से बाहर जावा-सुमात्रा व चम्पा इत्यादि भारतीय उपनिवेशों में भी राम, शिव, गणेश इत्यादि देवताओं की पूजा होती थी—रामलीला और रासलीला का आयोजन होता था। गुप्त सम्राट् अधिकतर विष्णु उपासक (परमभागवत) थे, उनका राजचिह्न गरुड़ था। उनके समय में विष्णु के कई मंदिर बने। शिव की भी पूजा सर्वप्रिय थी। दक्षिण भारत में शिवलिंग की पूजा व लिंगायतपंथ का प्रचार काफी था। सूर्य, दुर्गा, चण्डी और महादेवी के भिन्न-भिन्न रूपों की पूजा की जाती थी, और इनके सम्मान में विशाल और भव्य मंदिर बने।

प्राचीन भारतवर्ष में इस तरह कई धर्म व भिन्न २ पंथों का प्रचार बराबर होता रहा। पर धार्मिक असहिष्णुता ने कभी जोर नहीं पकड़ा। विद्वानों व धर्ममहारथियों में शास्त्रार्थ होता था, अपने धर्म का प्रचार के लिए खूब जोश रहता था, पर कटुता का अभाव था। राजा किसी भी धर्म का अनुयायी हो पर वह कभी भी अन्य धर्मों को कुचलने की नीति नहीं अपनाता था। सम्राट् अशोक बौद्ध थे, पर उन्होंने धर्म-सहिष्णुता की नीति अपनाई, और अन्य धर्मों के आदर में ही वे अपने धर्म का सम्मान देखते थे। उनके उपदेश आज भी विशेष महत्व रखते हैं—"जो कोई भी अपने धर्म का आदर करता है, और इसी लक्ष्य से अन्य धर्मों का अनादर करता है, वह वास्तव में अपने धर्म पर गहरी चोट करता है; भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों में समवाय का भाव रहना चाहिये, और एक दूसरे के विचार व धर्म सिद्धान्त को सुनना चाहिये।... इसी प्रकार विभिन्न धर्मों के सार की वृद्धि होगी।" धर्म समन्वय ही भारत का आदर्श रहा है। सम्प्रदायवाद भारत के आदर्श के विपरीत है।

समाज।

भारतीय समाज का आधार परिवार था। संयुक्तपरिवार नियम था। परिवार का कर्ता का यह उत्तरदायित्व था कि परिवार के सभी सदस्य अपने कर्तव्यों का पालन करें। गृहपति को परिवार में एकता और सौहार्दभाव बनाए रखना था। इस कारण गृहपति को अधिकार भी असीम ही था। ऋज्राश्व को उसके पिता ने अंधा बना डाला था, और शुनःशेप को उसके पिता ने यज्ञ में बलि होने के लिए बेच डाला था। ऋग्वेद के समय के पिता के ये असीम अधिकार बहुत हद तक पीछे भी कायम रहे। पर अधिकार के साथ साथ कर्तव्य पर भी ध्यान दिया जाता था। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार जो अभिभावक अपने मां-बाप, छोटे भाई-बहन, कुमारी व विधवा लड़कियों का उचित प्रबन्ध किए बिना

गृहत्यागी बनकर किसी भिक्षुसंघ में सम्मिलित होता था उसे राजदंड भुगतना पड़ता था।

किसी भी सभ्यता की उन्नत व गिरी अवस्था का मापदण्ड है उसके समाज में स्त्रियों का स्थान। प्राचीन भारत में नारियों का सम्मान होता था। ऋग्वैदिक काल में पुत्र की कामना स्वाभाविक थी पर पुत्री का जन्म अभिशाप नहीं समझा जाता था। परिवार में कन्या का लाड़-प्यार होता था और गृहकार्यों में वह हाथ बंटाती थी। स्त्रियों की शिक्षा पर कोई रुकावट नहीं थी। गुरुकुल में लड़के-लड़कियां सभी रहते थे। सभा-समिति में स्त्रियां भी भाग लेती थीं। घोषा, लोपमुद्रा ऐसी विदुषी स्त्रियों ने वेद की ऋचाएं की रचना की। गार्गी महान् विदुषी थी। कन्याओं के लिए ब्याह साधारण नियम था पर आजन्म कुमारी रह कर विद्याध्ययन करना कुछ स्त्रियों का लक्ष्य रहता था। विवाह युवा होने पर ही होता था। कुछ वैदिक मन्त्र प्रेमगीत हैं। विवाह होने पर नारी गृहस्वामिनी थी। दम्पति का अर्थ स्त्री और पुरुष दोनों होता है। स्त्री और पुरुष गृह के संयुक्त-स्वामी थे। पहले विधवा ब्याह की प्रथा थी। सती प्रथा मिट चुकी थी, और पति के मरने के बाद स्त्री साधारणतः अपने देवर से पुनर्विवाह कर लेती थी। यदि विधवा को कोई सन्तान न हो, और वह वैवाहिक बंधन में नहीं पड़ना चाहती थी तो नियोग की प्रथा—क्षणिक सम्बन्ध-का पालन कर पुत्रवती बन सकती थी। पांडु, विदुर, धृतराष्ट्र और पांचों पांडव का जन्म इसी प्रकार हुआ था।

पर स्त्रियों के अधिकार धीरे २ कम होते गये। मनुसंहिता के अनुसार स्त्री बराबर किसी पुरुष के संरक्षण में ही रहेगी—पिता, पति या पुत्र। बालविवाह का खूब प्रचार था। विवाह-विच्छेद नहीं हो सकता था। सतीप्रथा प्रचलित थी। नियोग घृणित समझा जाता था। सम्पत्ति पर स्त्रियों का अधिकार नहीं था। स्त्री पर्दा में रहती थी, और सार्वजनिक कार्यों से विमुक्त

गृहकार्य ही उसका क्षेत्र था। पर इन नियमों के विपरीत हम गुप्तकाल और उसके उपरान्त भी राज्यपरिवार की स्त्रियों को शासन-सम्बन्धी कार्यों के उत्तरदायित्व सम्हालते देखते हैं। गुप्तसाम्राज्य में महिषी का बड़ा स्थान था। कुमारदेवी और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की स्त्री ध्रुवस्वामिनी का नाम सरकारी शिलालेखों पर मिलता है। ध्रुवस्वामिनी की मुहर भी मिली है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावतीगुप्ता अपने नाबालिग पुत्रों की संरक्षिका बनकर वाकाटक राज्य का भार वहन करती रही। हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री उसके साथ ही दरबार में बैठती थी। यह निर्विवाद है कि प्राचीन भारत में नारी के राजनीतिक व आर्थिक अधिकार जो भी रहे हों, नारी की प्रतिष्ठा या सम्मान में कभी कमी नहीं हुई। मनुसंहिता में भी यह कहा गया है कि जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवता वास करते हैं।

प्राचीन विश्व में प्रत्येक सभ्यता में गुलामों या दासों का एक वर्ग रहता था। मिस्र हो या मेसोपोटेमिया, यूनान हो या रोम, दास सभ्यता के एक विशेष अंग थे। प्राचीन भारत में भी दासप्रथा प्रचलित थी। बहुत से हारे हुये या बन्दी दस्यु विजयी आर्यों के दास बन गये। जुआ में हार कर आर्य भी अस्थाई दासता स्वीकार कर लेते थे। कौटिल्य ने साफ लिखा है कि आर्य को दास नहीं बनाया जा सकता था। पर आर्थिक परवशता के कारण, या न्यायोचित दण्ड देने की अयोग्यतावश आर्य भी अस्थायी रूप से दासवृत्ति अपना लेता था। पर यहां दासों की हालत रोम या यूनान की तुलना में बेहतर थी। उनसे गन्दी और गर्हित चीजों का व्यवहार जबर्दस्ती नहीं कराया जा सकता था। दासों को भी कानूनी अधिकार थे। दास कई उपायों से अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकते थे। यूनान की तुलना में भारत के दासों की बहुत अच्छी अवस्था देखकर ही

शायद मेगास्थनीज ने यह लिखा कि यहां दास-प्रथा का व्यवहार था ही नहीं ।

भारतीय समाज की सबसे विलक्षण विशेषता है वर्णाश्रमधर्म, जिसे Caste system कहा जाता है । जब आर्य भारत में आये तब उन्हें अनार्यों से युद्ध करना पड़ा । आर्य और अनार्यों में बहुत भेद था । पहला भेद था वर्ण (colour) का । आर्य श्वेतवर्ण के थे, और दास व दस्यु कृष्णवर्ण (Black or dark) के । रंगभेद के अलावे सांस्कृतिक अन्तर भी था । अनार्यों की भाषा अलग थी, उनकी नाक चपटी थी और वे पाषाण व लिंगपूजक थे । अतः आगन्तुक अल्पसंख्यक आर्यों को अपनी आत्मरक्षा के लिए, अपनी संस्कृति व नस्ल की सुरक्षा के लिए, अपने को अनार्यों से अलग रख कर, एक सामाजिक व्यवस्था का विकास करना स्वाभाविक था । भारत में आर्यों का विस्तार के युग में राजाओं और सैनिकों का महत्व न्यायतः अधिक था । इस वर्ग को राजन्य कहा जाता था,–और पीछे चलकर यह वर्ग क्षत्रियवर्ग कहलाया । पर आर्यों का यह धार्मिक विश्वास था कि उनकी जीत और उन्नति देवताओं की कृपा पर ही निर्भर है । उनका यह विचार था कि विश्व प्राकृतिक नियमों के आधार पर ही टिका है, और आर्यों की भलाई के लिए यह जरूरी है कि 'ऋत'—प्रकृति के नियम अविचल रूप से चलते रहें । इसलिए प्राकृतिक शक्तियों की उपासना आवश्यक है, और आर्यों के प्रमुख देवता प्रकृति की शक्तियों का ही नेतृत्व करते थे । इन देवताओं को प्रसन्न करने के लिए, जिससे कि 'ऋत' अविचल रहे, यज्ञ आवश्यक था । इन देवताओं का आवाहन और यज्ञों का सम्पादन ऋषि वा ब्राह्मण ही करते थे । आर्य जातियों को युद्ध में विजय देने का श्रेय जितना सैनिकों को था, उससे अधिक ही, कम नहीं, श्रेय उस जाति के पुरोहित का था जिसने अपने यजमान के लिए देवताओं की कृपा प्राप्त की थी । इसलिए वैदिकयुग में आर्य-

प्रचारयुग में–ब्राह्मण और राजन्य वर्गों की श्रेष्ठता स्पष्ट है। पर आर्य बन्जारे नहीं थे। वे गृहवासी और कृषक थे। इसलिए जब राजा व शासक वर्ग युद्ध करता और राजशासन का भार उठाता, और जब ब्राह्मण देवताओं की प्रार्थना करते, स्वाध्याय करते या यज्ञ कराते, जनसमुदाय कृषि और व्यापार में लगा रहता और धन का उपार्जन करता। इन्हें विश् कहते हैं, जो आगे चलकर वैश्य कहलाए। आर्यों में तीन वर्ग–ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य–क्रमानुसार थे। विजित या बन्दी दस्यु और दास आर्यों के दास बन गये। उन्होंने आर्यधर्म और संस्कृति को अपना लिया, इसलिए वे आर्य हो गये, और आर्यों के चतुर्थ वर्ग–शूद्र–में इनका शुमार होने लगा। इस प्रकार आर्य चार वर्गों में विभक्त हो गये। समाज में यह भेद औद्योगिक या व्यावसायिक सिद्धांत पर आश्रित था। यह भी स्वाभाविक है कि पारिवारिक वातावरण में पुत्र पिता का उद्योग को अधिक अच्छी तरह चला सकता है; पिता का विशेष हुनर पुत्र को प्राप्त करने में आसानी होती है। इसलिए ये भिन्न २ सामाजिक वर्ग बहुत हद तक पैत्रिक सिद्धांत पर विकसित हुये। पर आरम्भ में एक ही परिवार के सदस्य भिन्न २ पेशों में पाए जाते थे, और कोई धन्धा किसी वर्ग के लिए जघन्य नहीं समझा जाता था। ऋग्वेद में पुत्र कवि, पिता डाक्टर और माँ आटा पीसने वाली थी, ऐसा उल्लेख आया है। ऋग्वेद की एक उत्तरकालीन ऋचा से यह पता चलता है कि ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र क्रमानुसार ब्रह्मा के मुख, बाँहु, पेट और पैर के सम थे। इससे समाज में इन चार वर्गों क्रमिक स्थान का पता चलता है।

धीरे २ ये चार वर्ण एक दूसरे से एकदम भिन्न हो गये। इनमें पारस्परिक विवाह, खानपान की मनाही हो गई। वर्ण व्यवस्था से एक लाभ था। समाज के भिन्न २ अंगों का सन्तुलन कायम रहता था, और समाज जानता था कि वह किससे क्या उम्मीद रख सकता है,

और प्रत्येक नागरिक एक वर्ण का सदस्य रहने के नाते जानता था कि उसे क्या करना है, और क्या नहीं करना है। पर सामाजिक व्यवस्था पैत्रिक सिद्धांत पर आश्रित रहने के कारण जटिल हो गई। वैयक्तिक विकास की गति सीमित हो गई। व्यक्ति अपने विशेष वर्ण के अन्दर ही उन्नति कर सकता था, उसके बाहर जाना धर्म के विपरीत होता; फिर इस वर्ण-व्यवस्था के कारण समाज के बड़े भाग पर, जो कि निम्नवर्ग के थे, बराबर अत्याचार होता रहा। ब्राह्मण, और क्षत्रिय ये दोनों तो समाज के नेता रहे, और इनके अधिकार बढ़ते रहे, वैश्यों का स्थान भी धीरे २ गिरता रहा, और शूद्रों के धार्मिक और वैयक्तिक अधिकार बहुत कम थे। इनमें अस्पृश्यों की भी एक बड़ी संख्या थी। वैयक्तिक प्रतिभा नहीं वरन् वर्णव्यवस्था ही समाज में उन्नति करने का आधार था। तीन उन्नत वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, जिन्हें द्विज कहा जाता है—के सदस्यों को चार आश्रमों का पालन करना पड़ता था। ब्रह्मचर्याश्रम जिसमें उपनयन संस्कार के उपरान्त विद्याध्ययन करना था; इसके बाद नागरिक गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करता था; ब्याह कर वह परिवार का पालन करता, गौ-ब्राह्मण की सेवा करता और धन की वृद्धि करता और धर्माचरण रखता था। इसके बाद पारिवारिक झंझट से मुक्त होकर वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करता जिसमें ईश्वर भजन ही मुख्य काम था। जीवन का आखिरी भाग सन्यास लेकर घर-बार छोड़कर तीर्थाटन और भिक्षायाचन में बिताना पड़ता। इस प्रकार आर्यजीवन सामाजिक अनुशासन पर आधारित था। अर्थ और परमार्थ दोनों निभे ऐसी व्यवस्था थी। जीवन को इन चार भागों में बांटने के पीछे बुद्धि और तर्क है।

कला।

प्राचीन भारत की सम्पन्नता सिर्फ उसके महान् दर्शन, व धर्मों साहित्य और धार्मिक-परम्पराओं पर ही नहीं वरन् कला के भिन्न २ रूपों

का अद्भुत विकास पर भी निर्भर करतो है। जिस जाति का साहित्य इतना मधुर ललित और पूर्णविकसित हो, वह स्थूल कलाओं में भी अवश्य ही अग्रगी होगी ऐसा समझना स्वाभाविक ही है।

वास्तुकला (Architecture)।

किसी भी सभ्यता का रूप व गुण का भाव हमें उसकी वास्तुकला से मिलता है। कोई भी सभ्यजाति अपने भवनों व देवालयों के निर्माण में अपनी पूरी प्रतिभा का प्रयोग करेगी ही। प्राचीन खण्डहरों व मंदिरों और भवनों के द्वारा हम उसके बनाने वालों के भाव और कला-प्रेम का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। हरप्पा-सभ्यता में हमें अति विकसित नगर मिलते हैं। पक्के ईंटों के विशाल भवन मिले हैं। मोरियों व स्नानालयों का सुन्दर प्रबन्ध था। मकान रहने ० लिए सुखदायक थे। पर इस काल की वास्तुकला व्यावहारिकता से प्रभावित थी। कलात्मक दृष्टि से यह उन्नत नहीं है। ध्यान में यह था कि ये भवन लाभप्रद हों न कि देखने में सुन्दर व आकर्षक हों। यही आधुनिक विचार है। जब आर्य-भारत में आये तब इस नगर-सभ्यता का अन्त निकट था। आर्य-सभ्यता नगर में केन्द्रित नहीं थी, बल्कि खेतों के बीच छोटे-छोटे गांव ही कृषक आर्यों के जीवन के केन्द्र थे। इन गावों को पशु इत्यादि से रक्षा के लिए बांस की टट्टी से घेरा जाता था और बांस का ही ऊंचा फाटक दिया जाता था। पीछे चल कर बौद्ध व हिन्दू धार्मिक भवनों के ईंट व पत्थर के बने कठघरे (Railing) या गोकुल (सन्दिरद्वार) इसी की नकल पर विकसित हुये। वैदिक काल में मकान बांस और सबई से बनाया जाता था, और आंगन के चारों या तीन ओर ओसारा रहता जिस पर कोठरियां बनी रहती थी। बौद्धकाल व मौर्यकाल में लकड़ी का व्यवहार बहुत होने लगा। आसपास के सघन जंगलों से लकड़ी पर्याप्त मिल जाती थी। मेगास्थनीज ने लिखा है कि प्राचीन पाटलीपुत्र लकड़ी के कठघरे से घिरा था, और यहां ६४ द्वार लकड़ी के थे। कठघरे पर पांच सौ से अधिक मीनार थे, और रक्षकों के लिए यहां वहां



पृ० ३३३ अशोक के समय की लोमश गुफा (बराबर)



पृ० ३३३ बुलन्दीबाग (पटना) में प्राप्त एक स्तम्भ की शिरा।
(पटना म्यूजियम के सौजन्य से)



पृ० ३२४ साँची स्तूप

(Copyright Reserved. Arch. Surv. India)

चि० २७



पृ० ३३५ कार्लि का चैत्य सभा भवन

मकान बने थे। कुम्हरार और बुलन्दीबाग की खुदाई से लकड़ी की रक्षा-पंक्ति और बहते हुये नाले को लकड़ी की पटरियों से पाटा जाना का पता चला है। राजमहल या राजदरबार में पत्थर का भी प्रयोग होता था। कुम्हरार की खुदाई से खम्भों की पंक्तियों पर आधारित एक बड़ा सभाभवन का पता चला है। कुछ लोगों की राय है कि यह ईरानी प्रभाव का परिणाम था। सम्राट् अशोक के समय में तो पत्थरों का बहुत व्यवहार होता था। पत्थरों के स्तम्भ पर लेख खुदे हैं। ये पाषाणस्तम्भ पाषाण-कला के अद्वितीय उदाहरण हैं। इन स्तम्भों की शिराओं पर पशुओं की पाषाणमूर्तियां बनाई गई थीं। मौर्यकाल की पाषाण-कला की विशेषता है दीप्तिमान चमक। इसी चमक के आधार पर हम मौर्यकाल की पाषाणमूर्तियों को पहचान लेते हैं। अशोक के राजमहल व अन्य भवन इतने आकर्षक और सुन्दर थे कि चीनी यात्री फाहियान इसे दैवी कृति ही समझता है। बराबर और नागार्जुनी पहाड़ों की गुफाओं में अशोक के समय के जोबौद्ध सभाभवन चट्टानों में खोदे गये हैं उनकी दीवाल की चमक अभी भी चकाचौंध कर देती है। बौद्ध लोग बौद्धधर्म के स्थूल प्रतीकों का आदर करते थे जैसे हाथी, सिंह, मृग, चक्र, अश्व, सिंहासन, बोधिवृक्ष इत्यादि। इस-लिए इन चिह्नों की पाषाणमूर्तियां बनने लगीं और शिल्प कला की अत्यधिक उन्नति हुई। बौद्ध बुद्ध के अवशेष, या बुद्ध के प्रिय शिष्यों के अवशेष की भी पूजा करते थे, और इन्हें सुरक्षित रखने की कोशिश करते थे। भगवान् बुद्ध के फूल (Ashes), या दांत उनके शिष्यों या बौद्धधर्म के अनुयायियों में बंटे, और इन्हें सुरक्षित रखने के लिए और इन स्थानों की पूजा करने के लिए स्तूप बने। बौद्धधर्म में मठों की जरूरत अनिवार्य थी। बुद्ध ने संघ की स्थापना की थी। धर्म-प्रचार के लिए और सामूहिक प्रार्थना व पूजा के लिए या अध्ययन के लिए मठों या बड़े २ हॉल की जरूरत पड़ी, इसलिए बौद्धमठ (Monasteries) और चैत्य व हॉल भी बनाए जाने लगे। इस प्रकार वास्तु-कला का विकास बौद्धधर्म की प्रेरणा से हुआ। कहा जाता है कि सम्राट्

अशोक ने ८०००० स्तूप बनवाए थे। स्तूप अंडाकार होते थे, और ऊपर में पवित्र अवशेष के रखने के लिए जगह छोड़ दी जाती थी। जब अवशेष रख दिया जाता तब खुले अंग को बन्द कर दिया जाता, और उस पर छत्र खड़ा कर दिया जाता था। पहले तो स्तूप ईंटों या मिट्टी के बने थे, पर पीछे चल कर पत्थर के बनने लगे। बौद्ध धार्मिक-भवनों में सांची और भारहुत के स्तूप और बोधगया के मंदिर सबसे प्रसिद्ध हैं। इन भवनों की वास्तुकला के अध्ययन से यह पता चलता है कि पत्थर के बने भवन पहले के लकड़ी की बनी इमारतों की डिजाइन की नकल ही हैं। सांची स्तूप भोपाल-राज्य में स्थित है। अशोक के समय में इसकी नींव दी गई थी। यह ईंट का बना था पर शुंगकाल में १५० ई० पू० के लगभग इसका पुनर्निर्माण आरम्भ हुआ। ईंट का स्तूप नष्ट नहीं किया गया, पर वह पत्थर के बड़े स्तूप के अन्दर रह गया। यह नवनिर्मित स्तूप ५४ फीट ऊंचा है। गुम्बज के ऊपर एक वर्गाकार कटघरा के भीतर हर्मिका है जो कि छत्रों का आधार है। सभी पत्थर के बने हैं। स्तूप के चारों ओर पत्थर की बनी चहारदिवारी या कटघरा है (Railing) है इसमें पांच बड़े द्वार हैं, जो पत्थर के स्तम्भों पर आधारित हैं। इन खड़े और पड़े स्तम्भों पर बौद्धधर्म के पवित्र चिह्न अंकित हैं और भगवान बुद्ध के जीवन की मुख्य कहानियों के चित्र बने हैं। द्वार के सबसे ऊंचे भाग पर धर्मचक्र बना है। सांची-स्तूप बड़ा ही भव्य और विशाल है, और भारतीय वास्तु-कला का गर्व। भारहुत-स्तूप का भी इसी समय पुनर्निर्माण हुआ। यह सांची स्तूप से काफी छोटा है, पर इसमें पत्थर पर बहुत बारीक काम किए गये हैं, और जातक और बुद्ध के जीवन की कहानियों के सुन्दर चित्र खुदे हैं। बोधगया का मन्दिर के रेलिंग भी दर्शनीय है। यह वृत्ताकार न होकर चतुर्भुजाकार है। यह गुप्त काल की कृति है।

पत्थर के बने स्तूप के अलावे पश्चिम भारत और डेक्कन् में पहाड़ों के चट्टानों को खोदकर छेनी या अन्य उपकरणों के द्वारा बड़े २ चैत्य या सभाभवन या विहार बनाये गये। ये प्राकृतिक

चि० ४०



पृ० ३३६ बोध गया का मंदिर



पृ० ३३५ बेड़सा चैत्यभवन (१७५ ई० पू०)

गुफाओं में नहीं बने थे बल्कि मनुष्य ने जीवित चट्टानों को काट-कूट कर, खोद-खादकर इतना सुन्दर विहार या चैत्य बनाया; क्रियात्मकशक्ति और कला का इतना साहसपूर्ण उदाहरण विरले ही मिलेगा। पश्चिम घाट (Western Ghats) की पहाड़ियों में नासिक के इर्दगिर्द कई ऐसे चैत्यों और विहारों का पता चला है, जिसमें कार्लि, एलिफेन्टा और नासिक की गुफाएँ प्रमुख हैं। हैदराबाद राज्यांतर्गत अजन्ता की गुफाएँ तो जगत्प्रसिद्ध हैं। बौद्धविहार अधिकतर उजड़े स्थानों में पाए जाते हैं, जंगलों के बीच, या पहाड़ों में। इसका कारण था कि प्रार्थना और धर्माचरण में शान्त वातावरण सुविधाजनक था। इन विहारों में आँगन थे, जिनमें तीन या चार ओर कोठरियाँ थीं, और घिरे हुए ओसारे या छत स्तम्भों पर आधारित थे। इन विहारों में भोजनगृह, रसोईखाना व सार्वजनिक पुस्तकालय या व्याख्यानालय भी थे। ईसाई मठों का भी यही ढाँचा था। उड़ीसा में उदयगिरि और खण्डगिरि के चट्टानों में जैन गुफायें बनायी गयी थीं। इनका समय भी ईसा से २००-१०० ई० पू० ही है। यहाँ चैत्यहाल नहीं है पर उपासकों के लिए कमरे बने हैं। अफगानिस्तान की पहाड़ियों के ढाल पर या चोटी पर पेशावर और रावलपिंडी के इर्द गिर्द बौद्ध विहार के चिह्न पाए जाते हैं। इन विहारों के उद्देश्य भारतीय थे पर इनकी वास्तुकला रोमन या यूनानी प्रभाव से अछूती नहीं है, जैसे स्तम्भ की शिखाएं (Corinthican Capital)। तक्षशिला की खुदाई में एक भवन के अवशेष मिले हैं जिसमें यूनानी वास्तुकला का प्रभाव स्पष्ट है। यह २०० ई० पू० की चीज है। कुशानकाल में यूनानी-रोमन प्रभाव भारतीय वास्तुकला और शिल्पकला पर काफी पड़ा।

दक्षिण भारत में भी बौद्ध चैत्य या विहार बनाये गये। यहाँ भी जीते चट्टानों को काट कर ही विहार बनाया गया, पर स्तूपों के निर्माण में सफल प्रतिभा दिखलाई गई, और अमरावती स्तूप, कृष्णा नदी के

दक्षिण किनारे पर, अपनी शान के लिए दर्शनीय है। इन दक्षिण स्थित स्तूपों में ऊंचे मेहराव के बावजूद उनके संगमर्मर का प्रयोग होता था, जिससे इनकी सुन्दरता खूब बढ़ जाती थी।

पत्थर के अलावे इस समय ईंट का भी प्रयोग होता था। मथुरा और गंगा-यमुना प्रदेश में ईंट के बने स्तूपों और विहारों के अवशेष मिले हैं। बोधगया का मंदिर में ईंट का प्रयोग किया गया था। भिटर गांव में ईंट का बना एक भव्य मंदिर है जो पांचवीं शताब्दी में बना होगा। इसकी ऊंचाई ४० फीट है। नालन्दा के विहार, जो कई महलों के थे, ईंट के ही बने थे।

हिन्दू-मंदिर बौद्ध-स्तूप या चैत्य के बाद के ही बने मिलते हैं। जब सगुन ब्रह्म की उपासना शुरू हुई, और मूर्तिपूजा व्यापक हो गई, और शिव या विष्णु या महादेवी के भिन्न २ रूपों की पूजा होने लगी तब मंदिर बनने लगे। गुप्तकाल में कई मंदिर बने। मांडसौर में सूर्यदेव का मंदिर बहुत ऊंचा था, और उसके शिखर पर आमलक कलश स्थापित था। सांची और भमरा के हिन्दू मंदिर आनेवाले युग के नमूना बन गये। ईंट के अलावे पहाड़ी गुफायें भी खोदी गईं, और वे देवस्थान बने जैसे उदयगिरि की गुफायें। देवगढ़ के शिवमंदिर का द्वार और स्तम्भ सुन्दर चित्रों से अलंकृत है। जिस समय उत्तर-भारत में गुप्तकालीन मंदिर बनाये जा रहे थे दक्षिण में चालुक्यों के प्रोत्साहन से एक नयी शैली के मंदिर बनाए गये जिनमें एइहोड़ (Aihole) का मंदिर प्रमुख है। मंदिर का छत चौड़ा या ढालुआ है, पर इन मंदिरों की विशेषता है कि स्थापितमूर्ति के सामने हाल (मंडप) बनाया जाता था। एइहोड़ का दुर्गामंदिर बौद्धचैत्यों के नक्शा के आधार पर बना है। बादामी में चट्टानों के नीचे एक झील के नजदीक चार बड़े हाल खोदे गये हैं, ये हाल स्तम्भों पर आधारित हैं। इनमें तीन हिन्दुधर्म से सम्बन्ध रखते हैं, और एक जैनधर्म से। भारतीय वास्तुकला के



पृ० ३२७ भुवनेश्वर मंदिर

चि० ४३



पृ० २३७ कोणार्क का विशालकाय हाथी की मूर्ति



पृ० ३३७ कोणार्क का सूर्य मंदिर



पृ० ३३५ कोणार्क । विशाल अश्व-मूर्ति

इतिहास में ये स्तम्भाश्रित हाल और उनके गैलरी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। आठवीं शताब्दी से मंदिर-निर्माण युग का उत्साहपूर्वक आरम्भ होता है। मंदिर के मुख्य-भाग हैं—शिखर जो कि बाहर से खूब ऊंचा मीनार की तरह मालूम होता है, और जिसकी कई श्रेणियां होती थीं, और उसमें पत्थर के बारीक काम या मूर्ति या दृश्य गढ़े जाते थे। गर्भगृह जिस में मूर्ति की प्रतिष्ठा की जाती है, और मंडप जिसे सभाभवन भी कहा जा सकता है प्रत्येक बड़े मंदिर के प्रमु अंग होते हैं। मुख्य मंदिर के चारों ओर प्रदक्षिणपथ रहता है जिसके चारों ओर घूम कर भक्तजन देवता की मूर्ति की पार्थना करते हैं। वास्तुकला के दृष्टिकोण से मंदिरों को कई भागों में बांटा गया है जैसे आर्य, द्रविड़, चालुक्य व कलिंग। उड़ीसा के प्रमुख मंदिरों में जगन्नाथमंदिर, सूर्यदेव का कोणार्क मंदिर व शिव का भुवनेश्वरमंदिर कलात्मक दृष्टिकोण से दर्शनीय है। कोणार्क का सूर्यमंदिर का शिखर का पता नहीं है। सिर्फ जगमोहन (मंडप) अभी भी खड़ा है। इसीसे मंदिर की विशालता, शिखर की ऊँचाई और वास्तुविद्या का अद्भुत विकास का पता चलता है। समूचा मंदिर छोटे-बड़े कामुक दृश्यों से भरा है। पल्लवों के समय में (६०० ई०) में दक्षिण भारत में बड़े २ मंदिर बने। इनमें कुछ रथाकार हैं, और पत्थर के बड़े चट्टानों में गढ़े गये हैं। ये कला की दृष्टि से अद्वितीय हैं। इन रथों की कई श्रेणीयां हैं। इन मंदिरों में प्रमुख हैं भीम रथ, अर्जुन रथ व युधिष्ठिर रथ। मामलपुर नगर के ये मंदिर संसार-प्रसिद्ध हैं। पहाड़ में चट्टानों के अन्दर मंदिर खोदे गये थे, जिनमें इलोरा का कैलाशनाथ का मंदिर अपना सानी नहीं रखता। इसका समय ८ वीं सदी है। दक्षिणभाग में पल्लवों के बाद चोलों ने भी मंदिर निर्माण में अपूर्व उत्साह दिखाया। तन्जोर का मंदिर और गंगाईकोन्डचोलपुरम् का मंदिर चोल-शैली के ज्वलन्त उदाहरण हैं। तंजोर का शिवमंदिर उस समय के लिए सबसे बड़ा, सबसे ऊँचा और अत्यन्त प्रभावोत्पादक मंदिर था और भारतीय वास्तुकला के इतिहास में अपना विशिष्ठ स्थान रखता है। इसका

शिखर १९० फीट ऊँचा है, और मंदिर की लम्बाई १८० फीट है। गंगाइकोन्डचोलपुरम् का शिव मंदिर १०२५ ई० के लगभग बनाया गया। पाण्ड्यों ने चोलों के बाद दक्षिण-भारत में द्रविड़ शैली को जीवित रक्खा। इनके समय के मंदिरों की विशेषता है मंदिर-द्वार या गोपुरम्। इन गोपुरों पर सुन्दर चित्र गढ़े गये थे।

इस प्रकार भारतवर्ष मंदिरों का देश कहा जा सकता है। इन मंदिरों के एक ही उद्देश्य थे, देवता के लिए सुन्दर और आकर्षक निवास-स्थान बनाना। राजा अपने धन और शक्ति का प्रतीक विशाल और भव्य मंदिरों को ही समझता था। इन मंदिरों के निर्माण में बहुत धन का व्यय हुआ होगा। प्राचीन मिश्र के पिरामिडों से इस दिशा में इनकी तुलना की जा सकती है। आज हम आर्थिक व जनतान्त्रिक सिद्धान्तों पर इस व्यय की आलोचना कर सकते है, पर भारतीय संस्कृति की सम्पन्नता, व वास्तुकला का अद्भुत विकास के ये अमर उदाहरण है। यदि यूनानी वास्तु-कला अपनी सुसंस्कृत पूर्णता के लिए, यदि रोमन वास्तुकला अपनी वैज्ञानिक विशेषता के लिए मान्य है तो भारतीय वास्तुकला की आध्यात्मिकता ही उसकी विशेषता है।

मूर्तिकला (Sculpture)।

भारतीय मूर्तिकला का ध्येय धार्मिक या आध्यात्मिक था। शरीर का बाह्यसौन्दर्य, व परिमाण (Proportion) यूनानी-रोमन मूर्तिकला के विशिष्ट गुण हैं। पर भारतीय कलाकार तदात्मभाव से अपने इष्टदेवता का स्वर्गीय रूप पत्थर पर ढाल देता था। इसलिए प्राचीन भारतीय मूर्ति हम अपने भक्ति-भाव और शान्तवातावरण से प्रभावित करती है। हमारे सद्गुणों को जागृत करती हैं।

भारतीय मूर्तिकला का इतिहास हरप्पा-सभ्यता से आरम्भ होता है। हरप्पा, मोहन्जोदाड़ो, आमरी प्रभृति स्थानों की खुदाई से जो मूर्तियां मिली है उनकी कला अत्यन्त ही विकसित हैं। यह स्पष्ट है कि इनके कलाकार एक सुसंस्कृत परम्परा या पुराने अनुभवों से पूर्णतया



पृ० ३२९ मौर्यकालीन सिंह-शिरा (सारनाथ)



पृ० ३२९ रामपुरवा (चम्पारण) का सांड़
(पाषाण-शिरा, अशोककालीन)

अवगत थे। हरप्पा में बलुआपत्थर के बने मस्तकहीन मनुष्य का धड़ और नर्तकी की कांसे की मूर्ति मूर्तिकला का विकास के स्पष्ट उदाहरण है। चादर ओढ़े पुरोहित की मूर्ति सुन्दर है। ये मूर्तियां क्रियारत (Active) नहीं है, पर इनके उत्तेजितभाव स्पष्ट है। मुहरों पर बलिष्ठ सांड भी उत्तेजित और आत्म-विश्वासी मालूम पड़ता है। वृक्षों के विशेषकर अस्वस्थ वृक्ष के चित्र भी कला का पूर्व इतिहास के साक्षी है। मनुष्य व प्राकृतिक पशुओं के अलावे अमानवीय व दैवी या अप्राकृतिक विषयों की मूर्तियां भी 'हरप्पा-सभ्यता' में पाई गई है।

इस युग के बाद मूर्तिकला का करीब २००० वर्ष तक कोई उदाहरण नहीं मिलता है। ३००-२०० ई० पू० में संगतराशी के अच्छे नमूने मिलते है। कुशान-युग की बुद्ध या बोधिसत्व की मूर्तियां काफी पाई जाती है। पर भारत की ऐतिहासिक मूर्तिकला रोम या यूनान की मूर्तिकला से नहीं वरन् भारतीय प्रागैतिहासिक 'हरप्पा' की मूर्तिकला से प्रभावित है, और इनका पारस्परिक सम्बन्ध अब स्पष्ट है।

वैदिक युग में मूर्ति पूजा नहीं थी, इसलिए इस समय मूर्तिकला का विकास नहीं ही हुआ होगा क्योंकि मूर्तिकला अन्य कलाओं की भांति धार्मिक कारणों से ही प्रभावित हुई है। बौद्ध धर्म में पहले बुद्ध की मूर्ति बनाना निषेध था, पर बौद्ध चिह्नों को पवित्र समझा जाता था। अशोक ने स्तम्भों पर लेख खुदाए, कुछ स्तम्भों पर लेख नहीं ही खोदे गये। पर ये सभी स्तम्भ एक पत्थर के चट्टान से ढाले गये थे, और इनकी चमक इनकी विशेषता है। पत्थर के एक चट्टान से स्तम्भ बना लेना मामूली चीज नहीं थी, और खास कर जब इन स्तम्भों पर शिरा (Capitals) रक्खी जाती। इन शिराओं में रामपुरवा (चम्पारण) का सांड़, नन्दनगढ़ (चम्पारण) का सिंह और सारनाथ का चतुर्मुख सिंह कला की उन्नति के निर्विवाद प्रमाण है। सारनाथ का सिंह-शिरा (Lion Capital) का पौलिश आश्चर्यजनक है। शान और आध्यात्मिकता में इसका सानी नहीं मिलता है तभी तो आज यह हमारा राष्ट्र-प्रतीक है।

मौर्य-युग में मूर्तिकला स्तम्भशिराओं और यक्ष और यक्षी की मूर्तियों में ही विकसित हुई। पटना के समीप दीदारगंज में पाई गई चवर लिए हुये यक्षी की मूर्ति इस युग की कला की उत्कृष्ट उदाहरण है। यक्ष के विशाल मस्तकहीन मूर्ति इस कला के विकास के प्रमाण है। मौर्यकाल की मिट्टी की बनी मूर्तियां सुन्दर है, और उस समय के शृङ्गार, हाव-भाव या सामाजिक जीवन का ज्ञान देती हैं। शुंगयुग और उसके बाद भारहुत और सांची के स्तूप के कटघरे व द्वार पर यक्षों, गंधर्वों और कमल के चित्र खोदे गये। अभी भगवान बुद्ध की मूर्ति नहीं बनाई जाती थी, पर बुद्ध की उपस्थिति वृक्ष, स्तूप, चक्र, वज्रासन, पदचिह्न से प्रकट की जाती थी। पशु व पौधे देवता के वाहन समझे जाते थे और उनके चित्र बनाये जाते थे। भारहुत और सांची के द्वार या रेलिंग पर बुद्ध के जीवन के प्रमुख दृश्य चित्रित किए गये हैं। इन मूर्ति, दृश्यों में, पशु वृक्ष या लताओं के चित्रण में स्वाभाविकता और सहजप्रवाह साफ मालूम हो जाता है। कला की प्रौढ़ता सांची और भारहुत में स्पष्ट है। इसी युग के समकालीन हैं दक्षिण भारत के अमरावती स्तूप और रेलिंग। यहां जो मूर्तियां गढ़ी गई हैं या खोदी गई हैं वे सौन्दर्य और शान के लिए अद्वितीय हैं।

महायान बौद्धधर्म में बुद्ध को भगवान समझा गया और उनके नीचे कई बोधिसत्वों को रखा गया। अब बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियां बनने लगीं। कुछ विद्वानों का कहना है कि यह यूनानी या रोमन प्रभाव था। प्राचीनकाल में जैसे हरप्पाकाल में भी मूर्ति-पूजा रही होगी। उत्तर-पश्चिम भारत में—गान्धार-में मूर्ति-कला का खूब विकास हुआ। शरीर की बनावट, वेशभूषा यूनानी प्रभाव से अछूती नहीं रही। इस गान्धार कला के नमूने बुद्ध की कई मूर्तियां हैं, कनिष्क की मस्तकहीन मूर्ति, कनिष्क का स्मारक-बक्स (Relic Casket) प्रसिद्ध है। पर बहुत जल्दी ही भारतीय कलाकारों ने विदेशी भावों को भारतीय जामा पहना दिया। मथुरा में इस युग की कला का एक प्रमुख केन्द्र

चि० ४७



पृ० ३३९ अशोक कालीन सिंह-शिरा
(रामपुरवा, चम्पारण)

चि० ४८



पृ० ३४० दीदारगंज
(पाटलिपुत्र) यक्षी
(पटना म्यूजिअम के सौजन्य से)



पृ० २४० यक्ष (पटना)
(From a Cast)
(पटना म्यूजिअम् के सौजन्य से)



पृ० ३४० बुद्ध (गांधार) तृतीय सदी
(Copyright Reserved. Arch. Surv. India)



(पृ० ३४०) भगवान बुद्ध का महात्याग (गांधार कला)



बुद्ध का परिनिर्वाण

(पृ० ३६०)



पृ० ३४०   सांची स्तूप का उत्तर-तोरण



पृ० ३४० सांची : दरवाजे में स्त्री-मूर्ति

चि० ५९



(पृ० ३४०) बुद्ध (गांधार कला)

(*From a Cast*)

(पटना म्यूजिअम् के सौजन्य से)

चि० ६०



(पृ० ३६०) बुद्ध (गांधार, स्वात घाटी)

चि० २१



(पृ० ३४०) भारतीय-कारिन्थिअन शिरा (यूनानी प्रभाव, पेशावर ज़िला)

चि० ६२



(पृ० ३४०) बुद्ध (गांधार)
(बोस्टन म्यूजियम्)



पृ० २४० भारहुत : उपज की देवी



पृ० ३४० भारहुत : जेतवन विहार का उपहार
(Copyright Reserved, Arch. Surv. India)





(पृ० ३४०) अमरावती के कमल और मकर

(Copyright Reserved. Arch. Surv. India)



(पृ० २४१) बुद्ध (सारनाथ) गुप्तकालीन



पृ० ३४० भारहुत : भगवान बुद्ध के जीवन के दृश्य
(Copyright Reserved. Arch. Surv. India)

चि० ५६

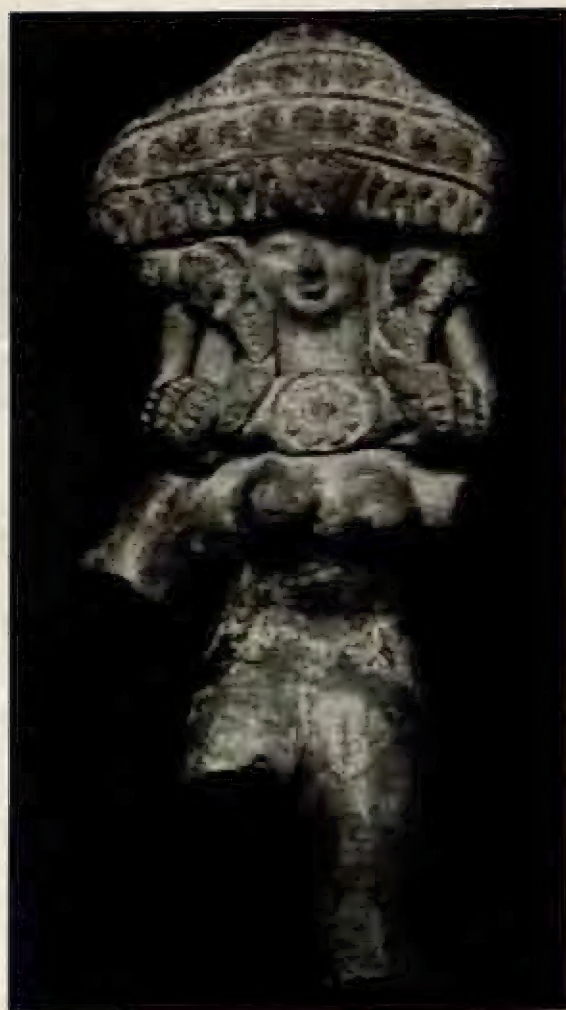


पृ० ३४१ भारहुत: चंद्र यक्षी
(From a Cast)
(पटना म्यूजियम् के सौजन्य से)

चि० ४९



पृ० ३४० जैन तीर्थंकर का धड़ (पाषाण, मौर्यकाल)
(लोहानीपुर, पटना)
(पटना म्यूज़ियम् के सौजन्य से)



पृ० ३४० मिट्टी की स्त्री-मूर्ति (बक्सर)
(पटना म्यूजिअम् के सौजन्य से)

बन गया। मथुरा के बोधिसत्व की मूर्ति एक बलिष्ट शरीर की मूर्ति है, और इसकी धारणा और शैली भारतीय है। इस समय बड़ी मूर्ति बनने लगी, कोई-कोई तो मनुष्य के कद का। कनिष्क की सिरकटी मूर्ति उल्लेखनीय है। गुप्त-युग तक आते-आते जो भी विदेशी चिह्न भारतीय मूर्ति-कला पर पाए जाते थे दूर हो गए, और भारतीयता स्वच्छन्द और मुक्त वातावरण में कला की धारणा और बाह्य स्वरूप पर छा गई। मथुरा और सारनाथ इस आन्दोलन के केन्द्र रहे। सारनाथ-परम्परा से ही विहार-बंगाल की मूर्ति-कला गुप्त और पाल-युगों में प्रभावित हुई। नालन्दा व राजगृह में पाई गई मूर्तियां इसके उदाहरण हैं। नालन्दा और गया के समीप कुर्कीहार ग्राम में अष्टधातु की बनी हिन्दू-देवता या बौद्ध-देवताओं की सैकड़ों मूर्तियां मिली हैं। कला की दृष्टि से ये मूर्तियां बहुत ही सुन्दर हैं। दक्षिण-भारत (मामल्लपुर) में पत्थरों पर सुन्दर दृश्य और उत्कृष्ट मूर्तियां गढ़ी गई। चालुक्ययुग में बादामी में भी मूर्तिकला की एक विशिष्ट शैली का विकास हुआ।

चित्रकला।

प्राचीन भारतीय चित्रकारी का बौद्धधर्म से सम्बन्ध है। बौद्ध चित्रकार का ध्येय था कि धर्म के आदर्शों को, धर्म की पवित्रता को चित्र के द्वारा मनुष्य के हृदय पर प्रभाव डाले। इसलिए ये चित्र दर्शक के उन्नत भावों को जागृत करते हैं। प्राचीन प्रस्तर युग या नवप्रस्तर युग में भी मनुष्य चित्रकारी करता था। यह ललितकला मनुष्य के स्वाभाविक मनोरंजनों में एक है। कैमूर और विन्ध्य पहाड़ियों में इस युग की चित्रकारी पाई जाती है। ये चित्रकारी जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। मध्यप्रदेश में रायगढ़ जिला में स्थित गुफाओं के मुंह पर बलुए-पत्थर पर रेखाचित्र लाल रंग में रंगे मिले हैं। इनमें मनुष्य और पशुओं के चित्र हैं, और कुछ अनजान लिपि में लेख हैं। मृग, हाथी, बारहा के चित्र स्वाभाविक हैं और इन जानवरों को चंचल (Active) मुद्रा में चित्रित किया

गया है। हिंसक गैंडा के पकड़ने का दृश्य का चित्रण स्पष्ट है। इन सब से प्राचीन प्रस्तर-युग का मनुष्य का कलाप्रेम का पता चलता है और उसकी चित्रकला का विषय स्वाभाविक और प्राकृतिक दृश्य थे इसका ज्ञान भी हमें हो जाता है। पर इस युग के बाद हजारों वर्ष तक चित्रकला का पता नहीं चलता है। ईसा की पहली शताब्दी के लाल और काले मिले-जुले रंग के चित्र रामगढ़ पहाड़ी (मध्यप्रदेश) की जोगिमारा गुफा की दीवालों पर पाए गये हैं। इस पर पशुओं और मकानों के चित्र बने है, जो कि उस समय की शिल्पकला की नकल है। बहुत सम्भव है कि अन्य चित्र भी इस समय बने हों पर जलवायु के कारण नष्ट हो गये हैं। प्राचीन बौद्ध और हिन्दूसाहित्य में विकसित चित्रकला का उल्लेख आया है। ब्रह्मा स्वयं इस कला के पिता कहे जाते हैं। कृष्ण भगवान का पोता अनुरुद्ध की प्रेमिका ऊषा की सखी चित्रलेखा थी जिसने देवताओं और प्रसिद्ध पुरुषों का चित्र बनाकर ऊषा को दिखलाया था। बौद्ध साहित्य में भी भगवान बुद्ध के समय में ही मानव-चित्र का उल्लेख आया है। बुद्ध के पहले भी यह कला प्रचलित थी ऐसा बौद्ध ग्रन्थों में पाया गया है। कामसूत्र का लेखक वात्सायन ने भारतीय चित्रकला के ६ अंग (षडंग) का विश्लेषण किया है; जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि यह कला बहुत प्राचीन थी।

पर बौद्धयुग में यह कला अन्य कलाओं की तरह खूब निखरी। चित्रों के उद्देश्य धार्मिक व अध्यात्मिक होते थे। कला के माध्यम से ही बौद्धधर्म के उपदेश, और बुद्ध के जीवन के महत्त्व का प्रचार देश और विदेश में हुआ। यह माध्यम आकर्षक और सहज भी था, विशेषकर जनसाधारण या विदेशियों के लिए। भारतीय चित्र चीन पहुंचे। जापान में भी भारतीय चित्रों के प्रभाव पाए जाते हैं।

भारतीय चित्रकला के अमर उदाहरण हैं अजन्ता (हैदराबाद राज्य) के गुफा-मंदिर की दीवालों पर के रंगे चित्र। ये चित्र अब धुंधले

हो गये है, पर तब भी भारतीय चित्रकला की उत्कृष्ट प्रगति के ज्वलन्त प्रतीक हैं। इन चित्रों में भगवान् बुद्ध के पूर्व जीवन की घटनाओं का सुन्दर और सजीव विवरण है; बौद्धधर्म के इतिहास के ये चित्रित पृष्ठ हैं। भारहुत, सांची और अमरावती की शिल्पकला के विषयों का बहुत अंशों में ये चित्र रूपान्तर है। अजन्ता गुफा का सबसे प्राचीन चित्र में भी प्रौढ़ कला है। इन चित्रों का समय ईसा से पहली शताब्दी पूर्व से लेकर पांचवीं शताब्दी तक है। दृश्यों के चित्रण में उत्साह और आत्मविश्वास झलकता है। इन चित्रों का विषय और कला का प्रभाव लंका, जावा, खोटान और तिब्बत की कला व विषयों पर पड़ा। बाघ-गुफा के चित्र भी कला के दृष्टि से उत्तम है। गुप्त साम्राज्य में भी गुप्त सम्राटों के प्रोत्साहन से भारत और निकटस्थ देशों में चित्रकला की उन्नति हुई। फाहियान और युआनच्वांग ने भव्य मकानों और उनके सुन्दर चित्रों का वर्णन किया है। तिब्बती इतिहासकार तारनाथ ने मगध का बिम्बिसार नामक चित्रकार का उल्लेख किया है। बिम्बिसार का समय शायद छठी शताब्दी है।

बृहत्तर भारत (Greater India)।

प्राचीन भारतीय संस्कृति का इतिहास बृहत्तर भारत के ज्ञान के बिना अधूरा रह जायगा। कुछ लोगों का यह ख्याल रहा है कि भारतीय संस्कृति भारतवर्ष तक ही सीमित रही। भारत का धर्म, कला व साहित्य भारत के बाहर, समुद्र के पार नहीं ले जाया गया और समुद्र लांघना भारतीयों के लिए अधर्म है, इत्यादि इत्यादि। पर ये संकुचित विचार बहुत बाद के है, जब भारतीय संस्कृति की प्रगति रुद्ध हो गई थी। भारत के प्राचीन इतिहास से यह स्पष्ट है कि भारतीय विद्या, कला व अन्य चीजों का विदेशों में निर्यात होता था, और दूसरे देशों की चीजें भारत में आती थीं। हरप्पा-सभ्यता के समय में भारत के चीज सुमेर में पाए गये है, और ऐसा अनुमान किया जाता है कि भारतीय

व्यापारियों के मुहल्ले सुमेर के नगरों में बस गये थे। पूर्व-वैदिक साहित्य में हजारों पतवार से खेयी जाने वाली नावों का वर्णन है, और अथाह समुद्र में तूफान से आक्रान्त नाविकों का उल्लेख है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस समय में भी सामुद्रिक यात्राएं व दूरस्थित देशों से व्यापार होता था। और यह स्वाभाविक है। बौद्ध जातकों में भी सामुद्रिक यात्रा व व्यापार का उल्लेख है। धन प्राप्त करने की लालसा भारतीय व्यापारियों को पहाड़ या समुद्र पार पूर्वीय देशों से तिजारत करने को प्रेरित करती थी। ये देश बहुत धनी समझे जाते थे, तभी तो इन देशों को सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीप कहा जाता था। व्यापारियों के साथ साथ धर्मप्रचारक व कलाकारों का भी इन दूरस्थित देशों में प्रवेश हुआ। कुछ लोग यहां आकर बस गये अथवा अपना राज्य स्थापित कर लिया। भारतीय समाज और आचार-विचार इन देशों में फैल गया। ब्राह्मण और बौद्धधर्म का प्रचार हो गया। हिन्दू व बौद्ध मंदिर बन गये। रामायण और महाभारत की कथा लोकप्रिय हो गई। इनके आधार पर नाटक और रामलीला खेला जाने लगा। बुद्ध, कृष्ण, रावण, गणेश इत्यादि की मूर्तियां मिली हैं। भारतीय धर्म और संस्कृति इन देशों पर छा गई, और क्यों नहीं जब यहां सैकड़ों वर्ष तक भारत से आए हुये परिवारों का ही शासन रहा। भारत से दुस्साहसी क्षत्रियों का, व्यापारियों का, धर्म-प्रचारकों और कलाकारों का आगमन बराबर होता रहा। भारतीय उपनिवेश हिन्द-चीन, बर्मा, मलाया, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो और बालि प्रायद्वीप में स्थापित हो गये। भारतीय संस्कृति व कला यहां बहुत लोकप्रिय रही। इन देशों की जनता पर भारतीयता का रंग छा गया। भारतीय प्रवासियों का इनसे बड़ा अच्छा सम्बन्ध था। दोनों घुलमिल गये, इसीलिए तो ऐसा नहीं मालूम पड़ा कि भारतीय संस्कृति इन देशों की जनता पर लादी गई, बल्कि सत्य यह है कि इस संस्कृति के गुणों से प्रभा-

चित्र० ७२



(पृ० ३४१) अवलोकितेश्वर की पाषाण मूर्ति (गया)
(पटना म्यूज़ियम् के सौजन्य से)



चि० ७९



(पृ० ३४१)   कांसा का कल्पवृक्ष (चौसा, शाहाबाद)
(पटना म्यूजिअम् के सौजन्य से)



(पृ० ३५१) अवलोकितेश्वर (कुर्कीहार गया)

काँसे की मूर्ति पर सोने का पानी किया हुआ (पालयुग)

(पटना म्यूजियम के सौजन्य से)



(पृ० ३४१) विष्णु श्रीधर (मुर्शिदाबाद, मध्य ११हवीं सदी)
(नाहर संग्रह)



(पृ० ३४१) षडक्षरी लोकेश्वर (कहलगांव १२हवीं सदी)

चि० ७५



(पृ० ३४१)
राजशाही म्यूजिअम

दवी सद्योजात (११हवीं सदी)

चि० ७६



(पृ० ३४१) मिथुन दम्पति (बुलन्दीबाग?, पटना सिटी)
(पटना म्यूज़िअम् के सौजन्य से)

चि० ६७



(पृ० ३४१) चंडी की गुप्तकालीन पाषाणमूर्ति (शाहाबाद)
(पटना म्यूजिअम् के सौजन्य से)

चि० ६८



(पृ० ३४६) बसाढ़ (वैशाली) में प्राप्त गुप्तकालीन मिट्टी की मूर्ति
(Copyright Reserved. Arch. Surv. India)



(पृ० ३४१) मनियार मठ (राजगीर) में पाई गई गुप्तकालीन मूर्तियाँ



(पृ० ३४१) गंगा (पालयुग)

(From a Cast)

(पटना म्यूजिअम् के सौजन्य से)



(पृ० ३४१) बुद्ध की काँसे की मूर्ति (नालन्दा)
(पटना म्यूज़िअम् के सौजन्य से)

चि० ७८



(पृ० ३४१) बुद्ध की मूर्ति कुर्किहार (गया)
(पटना म्यूजिअम् के सौजन्य से)



(पृ० ३४२) बच्चा लिए हुए एक स्त्री (अजन्ता)



(पृ० ३४२) गंधर्व (अजन्ता, गुप्तकालीन)

चि० ८१



(पृ०) ३४२ स्त्री-मूर्ति (अजन्ता)
(Copyright Reserved. Arch. Surv. India)

चि० ८१



(पृ० ३४२) गन्धर्व (अजन्ता)

वित होकर इन्होंने इसे अपनाया। भारतीय-प्रवासी इन देशों का शोषण कर भारत का आर्थिक भण्डार नहीं भरते थे। इनके लिए तो यही इनका घर हो गया। इसलिए इन देशों की उन्नति करना ही इन भारतीयों का ध्येय हो गया। भारतीय संस्कृति के उतार-चढ़ाव, व उसकी धाराओं का ज्ञान उन्हें आते हुये नये भारतीय जत्थों से बराबर होता रहता था। इस तरह भारतीय-प्रवासी और देशीय जनता में अद्भुत समन्वय हुआ। इन्होंने भारतीय नाम रखना शुरू किया; भारतीय धर्म व साहित्य की सेवा करने लगे, भारतीय आचार-विचार अपना लिया, और संस्कृत ही पढ़ी-लिखी जनता की भाषा बन गई। इतने हिलमिल गये कि प्रवासी भारतीय और देशीय जनता में फर्क निकालना आसान नहीं है।

बंगाल तट पर स्थित ताम्रलिप्ति (तामलुक) बन्दरगाह से हजारों भारतीय मलाया व हिन्दचीन व पूर्वीय प्रायद्वीप जाते थे। गंजाम (गोपालपुर, उड़िसा) और मसलिपटम भी अन्य प्रमुख बन्दरगाह थे। जावा में प्रथम उपनिवेश की स्थापना ७५ ई० में हुई थी। १३२ ई० में जावा का राजा देववर्मन ने चीन सम्राट् के पास राजदूत भेजा था। सुमात्रा में प्रथम भारतीय राज्य की स्थापना श्री विजय में चतुर्थ शताब्दी में हुई थी। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इसकी बड़ी उन्नति हुई। ६८३ ई० में बौद्ध जयनाग यहाँ का राजा था। इत्सिंग का कहना है कि सातवीं शताब्दी में श्री विजय बौद्धशिक्षा का केन्द्र था। इस राज्य का प्रसार मलयद्वीप (MalayPeninsula) तक पहुंच गया था। शिला लेखों के आधार पर यह निश्चित है कि बोर्नियो में चौथी शताब्दी में एक भारतीय राज्य की स्थापना हुई थी। यहां हिन्दू गुफा-मंदिरों के और मूर्तियों के अवशेष मिले हैं। जावा से पूरब बालि प्रायद्वीप में अभी भी हिन्दू-सभ्यता जीवित है। इन पूर्वीय प्रायद्वीपों में पाए गये शिलालेख या मूर्तियां या मंदिरों के अवशेष से यह एकदम स्पष्ट हो जाता है।

भारतीय भाषा, साहित्य, धर्म, राजनैतिक व सामाजिक विचार और
संस्थाओं का इन देशों पर पूर्ण विजय प्राप्त हो चुका था। इन्द्र,
विष्णु, ऐरावत का उल्लेख है, भारतीय ज्योतिष, गणित, भाव या
माप का व्यवहार होता था। इन्द्र, विष्णु ब्रह्मा, शिव और गणेश की
मूर्तियां मिली हैं। इन प्रायद्वीपों में बौद्ध व ब्राह्मण दोनों धर्म
फले-फूले।

आठवीं शताब्दी में स्वतन्त्र प्रायद्वीपों के स्थान पर एक साम्राज्य
की स्थापना हुई, शैलेन्द्र-साम्राज्य। मलाया, जावा सुमात्रा सभी एक
साम्राज्य के आधीन थे। शैलेन्द्र सम्राटों के प्रोत्साहन से महायान
बौद्धधर्म का प्रचार हुआ, और वास्तुकला व मूर्ति-कला का अभूतपूर्व
विकास हुआ। बरबुदुर का विशाल मंदिर इनके प्रोत्साहन का ही परिणाम
था। नागरीलिपि का यहां इसी समय प्रवेश हुआ। शैलेन्द्रों की नाविकशक्ति
खूब बढ़ी चढ़ी थी। शैलेन्द्र सम्राट् बलपुत्रदेव ने ९वीं शताब्दी में देवपाल
की अनुमति ले नालन्दा में एक विहार बनवाया था। शैलेन्द्रों का
दक्षिण-भारत के चोलों से युद्ध हुआ और चोलों को इन प्रायद्वीपों पर
विजय प्राप्त हुई। धीरे-धीरे शैलेन्द्र की शक्ति १२ वीं शताब्दी में
खत्म हो गई।

चि० १०



(पृ० ३४६) (काम्बुज: अंकोरवाट (बारहवीं सदी)



(पृ० ३४६) बबुदर का विशाल मन्दिर चि० २१

